# रीतिकालीन हिंदी कविता में समाज-चित्रण

( Reflection of Society in the Riti Period of Hindi Poetry )

प्रयाग विश्वविद्यालय की डॉक्टर ऑफ़ फ़िलासफ़ी की
उपाधि के लिए, हिंदी विभाग के अंतर्गत
श्री माताबदल जायसवाल के निर्देशन में

कुमारी शशिप्रभा कुशवाहा
एम० ए०

द्वारा प्रस्तुत शोध - प्रबंध

# पुरश्चरण

# प्राक्कथन

साहित्य में जीवन का स्थान, जीवन एवं साहित्य के अविच्छेद्य संबंध समीक्षा के क्षेत्र में अब विवाद के विषय नहीं रहे, पहले भी विवाद मात्रा का था, गुण का नहीं। काव्य की भाववस्तु ही नहीं काव्य की विधाएं और उसके रूप एवं उपकरण भी युगानुशासित होते है। ऐसा न होने पर युग-विशेष का पाठक उसे ग्रहण नहीं कर पायेगा। अभिव्यक्ति के माध्यम से ही अभिव्यक्त वस्तु युग की आत्मा को संवेद्य होती है।

इतिहास तथ्य के निकट होता है और साहित्य के संबंध में यह कहा जाता है कि उसमें सत्य का निदर्शन होता है। इतिहास, कदाचित् तथ्य के निकट भी नहीं होता, कमसेकम अब तक ऐसा नहीं रहा क्योंकि अब तक इतिहासकार राजघराने को ही अपना अध्ययन-क्षेत्र मानता रहा है। लोकजीवन उसे अपने अनुसंधान की गरिमा के अनुरूप नहीं प्रतीत हुआ। इतिहासकार राजदरबार की अनगिन एवं महत्वहीन घटनाओं के अनुसंधान में ही अपने कर्तव्य-कर्म की इतिश्री समझता रहा है। साहित्य भी अब तक सामान्य की उपेक्षा और विशिष्ट का आलेखन करता रहा है। साहित्य एवं साहित्य-समीक्षा के वर्तमान युग का देय यह है कि वे हर क्षेत्र में "मामूली आदमी" की प्रतिष्ठा करते है।

आचार्य शुक्ल ने लोकमंगल के तत्व के आधार पर तुलसी के काव्य का अनुपमेय महत्व बताया है। लोकजीवन एवं लोकमंगल का संयोग उसी कवि के काव्य में देखने को मिलता है जिसके व्यक्तित्व में सृष्टा और द्रष्टा स्वरूपों का सम्यक् संतुलन हो। विश्व-साहित्य में कालिदास और शेक्सपियर जैसे कवियों में सृष्टा रूप की अन्यतम

अभिव्यक्ति दिखायी पड़ती है। मिल्टन जैसे कवि में द्रष्टा रूप अपेक्षाकृत अधिक मुखर और सृजन श्रम-साध्य होता है। इस दृष्टि से तुलसी का स्थान विश्व-साहित्य में अन्यतम है क्योंकि उसमें इन दोनों रूपों में से कोई एक दूसरे से घटकर नहीं है। यथार्थवादी समीक्षक काव्य में लोक-जीवन की अभिव्यक्ति आवश्यक मानता है। आदर्शोन्मुख समीक्षक भविष्य पर दृष्टि रखता है, अपने साध्य को प्राप्त करने के लिए सत्यशिव पर अधिक बल देता है। लोग आचार्य शुक्ल के लोक-मंगल के महत्व से सहमत न हों ऐसा संभव है किंतु काव्य को जीवन से विच्छिन्न और परे विशुद्ध कलात्मक दृष्टि से परखने का समय नहीं रहा। साहित्य को जीवन के संदर्भ में देखना वांछनीय और उपयोगी ही नहीं आवश्यक भी है। पश्चिम के प्रभाव के फलस्वरूप जीवन, समाज और व्यक्ति के मनोविज्ञान के संदर्भ में काव्य का अध्ययन किया जाने लगा है। मार्क्स, फ्रायड और युंग की क्रमशः ऐतिहासिक भौतिकतावादी, साहित्य को व्यक्ति की दमित वासनाओं की और व्यक्ति की समष्टि चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण करने वाली समीक्षाएं अपने-आप में अधूरी भले ही हों, उन्होंने हिंदी के समीक्षक को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित किया है, प्रेरणा दी है। रस का सिद्धांत मूलतः नाटक के संदर्भ में आया था जिसमें अभिनेता के रूप में व्यष्टि, सामाजिक या प्रेक्षक के रूप में समष्टि एवं नाटक की कथावस्तु के माध्यम से जीवन या समाज को स्वीकृति और स्थान मिला था। धीरे-धीरे काव्य की प्रतिपाद्य वस्तु सीमित हो जाने के कारण रचनाकार का व्यक्तित्व तिरोहित हो गया, पाठक के व्यक्तित्व को भी दृष्टि में न रखा जाने लगा, जीवन की व्यापकता को काव्य में समेटना संभव न रहा इसलिए समीक्षक परंपरापोषक और विशुद्ध रूप से कलापरक हो गया। काव्य का, फलस्वरूप समीक्षक का भी, संबंध जीवन से कम होकर छूटता गया। मैथ्यू आर्नल्ड के "कविता मूलतः जीवन की व्याख्या है" सिद्धांत वाक्य में जीवन से काव्य और समीक्षा का नाता जोड़ने का ही प्रयत्न किया गया था।

रीतिकाल हिंदी कविता में कारीगरी का युग है। शुक्लोत्तर हिंदी समीक्षक, जिसमें आचार्य प्रवर भी सम्मिलित है, प्रबुद्ध समीक्षा-दृष्टि रखते हुए भी रीतिकाव्य का विशुद्ध कलापरक या कलाप्रधान दृष्टि से अध्ययन करता रहा है। इसीलिए सूदन, भान, सहजोबाई, नागरीदास, पलटू, बाघ, भड्डरी और बैताल जैसे, लोक जीवन के प्रति अपेक्षाकृत अधिक जागरूक किंतु कला के प्रति उदासीन कवियों को दूसरे दर्जे पर और मतिराम, देव, भिखारीदास जैसे, समाज एवं लोकजीवन से दूर किंतु कला के प्रति अधिक सजग कवियों को प्रथम श्रेणी में रखा गया है। शुक्लजी बिहारी की कलाबाजियों से भी चिढ़ते रहे हैं और केशव के काव्य का काठिन्य उन्हें रुचिकर नहीं रहा किंतु रीतिकवियों में केशव एवं बिहारी ही ऐसे हैं जिनके काव्य में रीतिकालीन समाज का अपेक्षाकृत व्यापक चित्र देखने को मिलता है। इस अध्ययन के दौरान में मैं निरंतर आश्वस्त होती गयी हूं कि सूदन, भान, काशिम, बिहारी, केशव, बाघ एवं बैताल आदि लोकपरक कवियों के काव्य के आधार पर तत्कालीन समाज का अध्ययन इतिहासवेत्ता, समाजशास्त्री और काव्य-समीक्षक तीनों के लिए समानरूप से उपयोगी है।

रीतियुग के कवि की सीमा यही नहीं है कि वह समाज या युग-जीवन के प्रति निरपेक्ष था या उसके काव्य में तत्कालीन सामाजिक रचना के बहुमुखी चित्र नहीं मिलते, वास्तव में रीतियुगीन काव्य का अभाव यह भी है कि उसके काव्य में स्पंदन, गति, क्रिया-शीलता, सजगता एवं वैविध्य नहीं है, सारतः, उसमें जीवन का ही अभाव है। मुगल बादशाहों का वैभव-प्रदर्शन, उनकी विलास-लीला और राजकर्तव्यों की उपेक्षा-सभी कुछ इस साहित्य में सचाई के साथ व्यक्त हुआ है जिसे देखने के लिए अध्येता को सकारात्मक एवं

नकारात्मक साक्ष्यों का समान रूप से आधार लेना चाहिए । वैविध्य एवं अनेकता जीवन-जगत की मूलभूत विशेषता है । वह सदैव पूर्णता की ओर विकसमान है । रीतिकालीन काव्य में एकरसता है, विश्रांति है, पौरुष का धरातल छोड़कर नारी के आंचल की छाया में सो जाने की पुरुष की साध है और, इस प्यास में भी तीव्रता नहीं, आकुलता है । इस काव्य में स्त्री-जीवन की संपूर्ण विविधता को रमणीरूप में सीमित कर दिया गया है, नदी-तालाब में उसके यौवन को निहारने और आह भरने में ही पुरुष के पौरुष की इतिश्री हो गयी है । कवि जहां-कहीं सामाजिक आदर्श, नैतिक उदात्तता, धर्म और भक्ति की चर्चा करने बैठता है, उसका साहित्य निर्जीव हो जाता है, राग बेसुरा और खंण्डित हो जाता है । कारण स्पष्ट है । उसके पीछे उसकी अनुभूति नहीं है, केवल दृष्टि और बुद्धि काम कर रही है, यह क्रिया चेष्टित है, साहित्यकार स्वयं उसमें तन्मय नहीं है । उसकी रागमय अनुभूतियों का नैसर्गिक प्रवाह यहां नहीं है इसलिए वह साहित्यिक प्रवंचना-सी लगती है ।

यह युग सामाजिक आदर्शों से हीन नहीं था, उसकी अपनी नैतिक मान्यताएं और उदात्त जीवन-संबंधी धारणाएं थीं । इतिहास इसका साक्षी है । किंतु रीतिकाल का साहित्यकार दूसरे जीवन का अंग था, वह संभ्रांत व्यक्ति था और लोकजीवन से अछूता था । वहां वैभव था तो अपरिमेय, और पतन था तो अकथनीय— जिसकी एक साथ उपस्थिति शाहजहां के व्यक्तित्व में देखी जा सकती है ।

आलोच्यकाल के काव्य को समाज-चित्रण के अध्ययन की दृष्टि से मोटे तौर पर चार वर्गों में रक्खा जा सकता है । सर्वप्रथम शृंगारी कवि, तत्पश्चात् निवृत्तिमार्गी कवि, तीसरे चरित काव्यों के रचयिता या जातीय चेतना के कवि और अंततः लोककवि या प्रीति-काव्य-प्रणेता । राम एवं कृष्णभक्ति के काव्य की प्राणवायु

समाप्त हो चुकी थी । प्रवृत्तिमार्गी, निवृत्तिपरक और जातीय संघर्ष को वाणी देने वाले कवि प्रायः एक ही प्रकार की सामाजिक परिस्थिति की प्रतिक्रिया-स्वरूप रचनाएं करते थे । इस दृष्टि से उनकी काव्य-प्रेरणा के साम्य एवं प्रतिक्रिया के वैषम्य का अध्ययन तत्कालीन समाज की जीवन-दृष्टि को समझने में विशेष सहायक है । प्रवृत्तिपरक कवियों की संख्या एवं उनके काव्य का परिमाण अधिक है, अतः, उसका औसत निकालकर, इन चारों धाराओं के मूलस्वर को सुनने और तदनुरूप निष्कर्ष निकालने की आवश्यकता है ।

साहित्य के आधार पर सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों के समाज की अवस्था का अध्ययन का स्तुत्य प्रयास श्री आनंद प्रकाश माथुर के, प्रयाग विश्वविद्यालय से डी-फिल की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबंध में किया गया है किंतु इतिहास के विद्यार्थी होने के नाते तथ्यों का अन्वेषण अपने-आप में उनका साध्य बन गया है, उनमें अंतर्निहित प्रेरणा की व्याख्या गौण हो गयी है । उदाहरणार्थ धन-संपदा के प्रकरण में संपदा की वस्तुओं के नाम तो गिना दिये गये है किंतु इस संपदा-बाहुल्य की मूल प्रेरक प्रवृत्ति क्या है- इस पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है इसलिए, तत्कालीन समाज को परिचालित करने वाली दृष्टि से हम अपरिचित रह जाते है । इस प्रकार के कार्यों में मूलचेतना को पकड़ने और तदनुरूप वर्गीकरण करने की, तथ्यों के संकलन और उनके उद्घाटन की आवश्यकता होती है ।

प्रस्तुत प्रबंध में यह दृष्टिकोण लेकर कार्य आरंभ किया गया था । आजकल पूर्वाग्रह न रखने का भी एक पूर्वाग्रह बन जाता है इसलिए अपने दृष्टिकोण के प्रति निष्ठा रखते हुए ऐसी प्रवंचना से बचने का प्रयत्न किया गया है । कवि भाव-लोक का प्राणी होता है, युग-जीवन उसके सृजन में प्रतिबिंबित अवश्य होता है किंतु उसके चित्र को सम्यक् एवं पूर्णरूप से देखने के लिए काव्येतर स्रोतों से

विवेच्य काल की सामाजिक परिस्थितियों का ज्ञान अपेक्षित है। इस दृष्टिकोण से प्रथम अध्याय में काव्येतर स्रोतों से तत्कालीन समाज की प्रतिमा निर्मित करने का प्रयास किया गया है। दूसरे अध्याय से काव्य-स्रोतों के आधार पर तत्कालीन समाज का अध्ययन आरंभ होता है जिसमें समाज की सामान्य रचना को लिया गया है। इसमें समाज के भौतिक एवं धार्मिक विभाग, हिंदुओं की वर्णाश्रम व्यवस्थाएं और पारिवारिक रचना अंतर्भुक्त है। तृतीय अध्याय में तत्कालीन समाज के राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन को देखने का प्रयत्न किया गया है। यह प्रकरण अपेक्षाकृत संक्षिप्त है क्योंकि राजनीति, प्रशासन एवं अर्थ के सामाजिक मूल्य पर ही विशेष बल दिया गया है। चतुर्थ अध्याय में रहन-सहन के अंतर्गत मानव-जीवन की मूल आवश्यकताएं, असन-वसन-आवास, और मनुष्य के सहज सौंदर्य-बोध से परिचालित शृंगार-प्रसाधन और अलंकरण के उपविभाग है। मनोरंजन को भी इसी के अंतर्गत लिया गया है क्योंकि शिक्षा के साथ उसे रखने की अब तक जो सामान्य परंपरा चली आयी है, उसमें कोई औचित्य नहीं समझ पड़ा। ऐसा करने से मनोरंजन का महत्व और उसकी गरिमा में कोई वृद्धि नहीं होती और शिक्षा जैसे अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण विषय की गंभीरता न्यून हो जाती है। पंचम, षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में तत्कालीन समाज की मूल प्रवृत्तियों का अध्ययन किया गया है। इस दृष्टि से पंचम अध्याय में लोकजीवन के उल्लास एवं आह्लाद को वाणी देने वाले संस्कार-पर्वादि का विवेचन किया गया है। छठे अध्याय में रीतिकालीन काव्य में चित्रित समाज के नारी संबंधी दृष्टिकोण की विवेचना की गयी है। नारी संबंधी संदर्भ अन्य प्रकरणों में भी आये है किंतु उसका महत्व आत्यंतिक है इसलिए और अन्य अनेक कारणों से इसे अलग स्थान दिया गया है। सप्तम अध्याय में आलोच्यकाल के उन विश्वासों एवं प्रत्ययों का अध्ययन किया गया है जो हिंदू जाति को एक अलग व्यक्तित्व और विवेच्य युग को अलग सत्ता प्रदान करते है। इसे जीवन-दृष्टि के नाम से अभिहित

किया गया है, जिसके अंतर्गत संबंधित युग की विभिन्न प्रवृत्तियों, धर्म एवं धर्माभास, विश्वासों एवं अज्ञात आधार वाले विश्वासों, कर्मफलवाद, भाग्यवाद व पुनर्जन्म एवं संस्कृति-समन्वय आदि है। लोकजीवन के इन विश्वासों और प्रत्ययों में जीवन के प्रति उसकी एक दृष्टि निहित रहती है किंतु उनमें ऐसी व्यवस्था एवं पूर्वापरक्रमबद्धता का अभाव होता है जिसके कारण उसे "दर्शन" की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता और न वह इतनी महत्वहीन एवं नगण्य होती है कि उसे विभिन्न खण्डों में करके अन्य प्रकरणों में अंतर्मुक्त कर दिया जाय।

वीरकाव्य-प्रणेताओं को चरित कवि कहा गया है क्योंकि उनके काव्य का साध्य अपने चरितनायक के जीवन के विविध पक्षों का यशोगान ही है। सामान्यतः "रीतियुग के कवि" से तात्पर्य रीतिमुक्त एवं रीतिमुक्त कवियों से है क्योंकि साहित्य की दृष्टि से उन्हें ही मालोच्यकाल का प्रतिनिधि कवि माना गया है।

शोधकार्य में जो उत्थान-पतन और उच्चावच के दिन आते है उनमें शोधकर्ता के जीवन के पर्याप्त महत्वपूर्ण प्रश्न निहित रहते है। ऐसे अवसरों पर मुझे अपने वरेण्य निर्देशक श्री मातादयाल जायसवाल से जो सहारा, स्नेह और मार्गदर्शन मिला है वह अविस्मरणीय है। निराशा के क्षणों में उन्होंने मुझे उत्साह दिलाया है, अपने ऊपर विश्वास करना मैंने उन्हीं से सीखा है। हिंदी विभाग के माननीय अध्यक्ष प्रो० रामकुमार वर्मा की स्नेहिल छाया विभाग के सभी विद्यार्थियों पर रहती है, उनके सामान्य स्नेह को पाकर भी हम विशिष्ट हो जाते है। शोध की गुत्थियों के सुलझाने और इसकी वैज्ञानिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए मैंने जब-जब चाहा है श्रद्धेय गुरुदेव डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का उदारतापूर्ण मार्गदर्शन मुझे मिला है जिसका बदला कृतज्ञता-

प्रकाश से क्या दूं। वांड्मय का क्षेत्र विराट और अथाह है, उसमें नवीनता और मौलिकता का दावा दंभ है, मैंने उपलब्ध सामग्री से भरपूर सहायता ली है और उन सभी के प्रति नतशिर हूं जिनकी कृतियों और जिनके विचारों का जाने-अनजाने मैंने उपयोग किया है।

प्रयाग विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से उदारतापूर्ण सुविधा के लिए मैं सहायक पुस्तकाध्यक्ष श्री त्रिवेदी जी के प्रति कृतज्ञ हूं। इसके अतिरिक्त साहित्य सम्मेलन पुस्तकालय एवं संग्रहालय, दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पब्लिक लाइब्रेरी, इलाहाबाद और जिला पुस्तकालय, कानपुर की भी मैं कृतज्ञ हूं जहां से मुझे अध्ययन सामग्री विशेष रूप से प्राप्त हुई है।

अब यह शोध प्रबंध पूरा होने पर मुझे लगता है मानो किसी प्रेरणा ने हाथ पकड़ कर मुझसे लिखा लिया हो, लड़खड़ाने से निरंतर मुझे बचाया हो। शोधार्थी के मार्ग में विषय निर्वाचन में पुनरावृत्ति का भय, सामग्री-संकलन में आधार-ग्रंथों की उपलब्धि की समस्या, विषय-प्रतिपादन में पूर्वाग्रहों से ग्रसित होने का भय और अंततः हिंदी का टाइप जिसमें व्यक्ति और यंत्र दोनों के अपने-अपने अभाव और सीमाएं हैं। शोधप्रबंध का टंकण, फिर भी, अपेक्षाकृत सुरुचिपूर्ण हो सका है जिसका श्रेय नेशनल टाइपराइटर कंपनी, प्रयाग, के संचालक श्री जगदीश नारायण और उनके सुयोग्य सहयोगी मोहनजी को है, जो टंकण को एक कला के रूप में ग्रहण करते हैं। टंकित प्रतियों के मिलान में मुझे अपनी भतीजी इंदिरा से सहायता मिली है किंतु उसके लिए मेरा प्यार ही पर्याप्त है धन्यवाद लेकर क्या करेगी।

शशी प्रभा

इलाहाबाद:
११, नवंबर, १९६३ ई०

(शशि प्रभा)

## विषय-सूची

प्राक्कथन

### प्रथम अध्याय

रीतियुग की ऐतिहासिक पीठिका

भूमि एवं जन । समाज की रचना । राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन । अर्थ । रहन-सहन । वाङ्मय (भाषा, साहित्य एवं शिक्षा) कलाएं । जीवन-दृष्टि । पृ० १-७९

### द्वितीय अध्याय

समाज की रचना

आधार सामग्री । भौतिक विभाग । नौकरपेशा वर्ग । वाणिज्य एवं उद्योग-धन्धों में रत वर्ग । कृषक वर्ग । धार्मिक विभाजन । हिन्दू वर्ण व्यवस्था । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र । चातुर्वर्ण्येतर जातियां । वर्ण-व्यवस्था की पतोन्मुख स्थिति । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र । ब्राह्मण । अनेकता में एकता । निष्कर्ष । परिवार-परिवार का स्वरूप विकास । भारतीय परिवार । परिवार में पुरुष एवं स्त्री की भूमिका । जन्म सम्बन्ध । संतान । पति-पत्नी । सास-बहू । देवर-जिठानी । देवर-भाभी । भाई-बहन । भारतीय परिवार का वैशिष्ट्य एवं योग । पृ० ८०-१३८

### तृतीय अध्याय

राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन

१- राजनीतिक जीवन

२- आर्थिक जीवन पृ० १३९-१५६

## चतुर्थ अध्याय

### रहन-सहन

१- खानपान - आधार सामग्री । आहार का महत्व । खाद्य एवं पकवान । फल और मेवे । खानपान में विवेक । रसोई । बर्तन । भोजनोपरान्त मुखशोधक वस्तुएं । मांसाहार एवं मद्यपान । निष्कर्ष ।

२- वेशभूषा- परिधान धारण का प्रेरणा स्रोत । स्त्रियों के वस्त्र । घाघरा, साड़ी, कंचुकी, ओढ़नी । पुरुषों के वस्त्र । शिशुओं के वस्त्र । निष्कर्ष ।

३- आवास एवं भवन-सज्जा - आवास-निर्माण की मूल प्रेरक प्रवृत्ति एवं उद्देश्य । उच्चवर्ग के आवास । निम्नवर्ग के आवास । भवन-सज्जा । शयनगृह । ऋतुओं के अनुरूप व्यवस्था । निष्कर्ष ।

४- शृंगार-प्रसाधन- सौंदर्य के विविध उपकरण । सोलह शृंगार की धारणा । मंजन एवं लेप । केशविन्यास । सिंदूर । बिंदी । अंजन । ताम्बूल आदि । चूड़ी । पुष्पसज्जा । मेंहदी । महावर । गोदना । पुरुषों के सौंदर्य प्रसाधन । शिशुओं के सौन्दर्य प्रसाधन । निष्कर्ष ।

५- आभूषण - मानव स्वभाव में अलंकरण की मनोवृत्ति । आखेट्य-काल में अलंकरण की प्रवृत्ति । स्त्रियों के आभूषण । सिर के आभूषण । कान के गहने । नाक के गहने । कंठाभरण । हाथ के गहने । कटि के आभूषण । पांव के आभूषण । पुरुषों के आभूषण । शिशुओं के आभरण । निष्कर्ष ।

६- मनोरंजन- मनोरंजन की उपयोगिता । मनोरंजन की साधन भूत कलाएं । आयोजित मनोरंजन । क्रीड़ाएं । अन्तर्द्वार क्रीड़ाएं । बालकों के खेल । निष्कर्ष । पृ०१५७-२६६

## पंचम अध्याय

### संस्कार एवं पर्वादि

संस्कार- भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में संस्कार । सीमंत । जातकर्म । नामकरण । निष्क्रमण । अन्नप्राशन । चूड़ाकर्म । कर्णवेध । विद्यारंभ । उपनयन । विवाह । अन्त्येष्टि । निष्कर्ष ।

पर्वादि- भारतीय पर्वोत्सवों की परंपरा । वसन्त एवं होली । दीपावली । गोवर्धन पूजा । विजयादशमी । रक्षा-बन्धन । मुसलमानी त्यौहार । तीज । गनगौर । अन्य त्यौहार । गृहण । मेले । निष्कर्ष । पृ० २६७-३२१

## षष्ठ अध्याय

नारी- आधार-सामग्री । हिन्दू समाज में नारी । नारी के प्रति तत्कालीन समाज का दृष्टि-कोण । आदर्श नारी की धारणा । कामिनी रूप । वस्तुपक्ष । गणिका । नारी की दिनचर्या । नारी पारिवारिक परिवेश में । मां, बहन, पत्नी के रूप में । निष्कर्ष । पृ० ३२२-३७८

## सप्तम अध्याय

जीवन-दृष्टि आधार सामग्री । राजनीतिक पराजय और सांस्कृतिक पराभव की प्रतिक्रिया । जातीय चरित्र । ऐहिकता-परक मनोवृत्ति । धर्मापकर्षण की प्रवृत्ति । धन का महत्व । मद्यपान एवं मांसाहार । निवृत्तिवादी जीवन-दर्शन । धर्म एवं दर्शन की विविधता । विभिन्न उपास्य एवं उपासना पद्धतियां । त्रिवेणी माहात्म्य । धर्माभास । विश्वास । भाग्यवादी जीवन दृष्टि । ज्योतिष । शकुन-अपशकुन । अज्ञात आधार वाले विश्वास । प्रथाएं दोष । बहु-विवाह । सती प्रथा । पर्दा प्रथा । सौजन्य । शिष्टाचार । उपहार । शिक्षा । निष्कर्ष । पृ० ३७९-४६०

पुनरवलोकन एवं समाहरण— अनुबंध - १. पुस्तक सूची
अनुबंध - २ अभिधान-संकेत सूची

# अध्याय १

## रीतियुग की ऐतिहासिक पीठिका

## अध्याय १

## रीतियुग की ऐतिहासिक पीठिका

### भूमि एवं जन:

आलोच्यकाल का साहित्य प्राय: मध्यदेश अथवा हिन्दी-प्रदेश की सीमाओं में लिखा गया है। आज जहां साहित्य, शिक्षा तथा सामान्य व्यवहार की भाषा हिन्दी है उसकी पूर्वी सीमा राजमहल की पहाड़ियों तक, दक्षिणी सीमा छत्तीसगढ़ (विंध्यपार के महानदी के उद्गम) तक, पश्चिम में सतलज और रावी तक पंजाब में तथा बीकानेर और जोधपुर तक राजस्थान में है। प्राकृतिक दृष्टि से हिन्दी के मुख्य क्षेत्र को मोटे तौर पर निम्नलिखित वर्गों में बांटा जा सकता है - १- हिमालय का पार्वत्य प्रदेश, २- उत्तरभारत का मैदान, ३- राजस्थान का मरुप्रदेश, ४-मालवप्रदेश, ५- विंध्य मेखला[1]।

२- लगभग बारहवीं शताब्दी तक के साहित्य में आर्यावर्त के मध्य भाग को ही मध्यदेश कहा जाता रहा है। विनय पिटक(महावग्ग ५,१२,१३) के अनुसार मध्यदेश का विस्तार पश्चिम में थानेश्वर से लेकर पूर्व में भागलपुर के निकट तक था। उत्तर और दक्षिण में बराबर हिमालय और विंध्यपर्वत मध्य देश के सीमा-स्वरूप रहे है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता(सं० ६४४) में मध्यदेश के मुख्य जनपद कुरु, पांचाल शूरसेन, मत्स्य और वत्स गिनाये गये हैं। अलबेरूनी(सं० १०८७) ने कन्नौज के चारों ओर के देश को मध्यदेश कहा है। मुसलमान शासकों ने मध्यदेश के स्थान पर भागलपुर तक की गंगा की घाटी के

---

१- पं० राजबली पांडे- हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास, पृ० ५, ६।

लिए "हिन्दुस्तान" शब्द का प्रयोग किया है। हिन्दुस्तान के अंतर्गत वे साधारणतया पंजाब, बंगाल अथवा दक्खिन को सम्मिलित नहीं करते थे[1]। भारत के राज्य पुनर्गठन से पूर्व इसके अंतर्गत बिहार, उत्तर प्रदेश, विन्ध्यप्रदेश, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, भूपाल, राजस्थान, अजमेर, दिल्ली, पूर्वी पंजाब और हिमाचल प्रदेश का क्षेत्र आता था। मध्यदेश को ही आजकल हिन्दी-प्रदेश भी कहा जाता है। मध्यदेश आरंभ से ही आर्य संस्कृति का केन्द्र रहा है।

२- इस प्रदेश की धरती बहुत उपजाऊ है। मानव जीवन की आवश्यकताओं के लिए प्रायः सभी कुछ उपलब्ध है, प्रभूत धान्य और पर्याप्त वस्त्र। टेरी (१६०८), एवं बार्नियर ने देश की आत्म निर्भरता एवं भूमि की उर्वरता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। देश के अधिकांश भागों में पर्याप्त वन-संपदा है, भूमि की बोताई-बोवाई भी होती है। यहां आज जितने जंगल है, मुगल काल में उससे कहीं अधिक थे। विलियम फिन्च (१६०८-११) ने लिखा है कि जौनपुर से इलाहाबाद तक का मार्ग अधिकांश वनप्रदेश से होकर जाता है। देश भर में विभिन्न जलप्रवाहवाली अनेक सरिताएं है जिनमें गंगा और यमुना मुख्य है[2]।

३- आगरा तत्कालीन नगरों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यहां कुछ समय के लिए अकबरकाल में राजधानी भी रही। तत्कालीन सभी विदेशी यात्री आगरा की धन-धान्य संपन्नता और जनसंकुलता की प्रशस्ति करते है। यह कहा जा सकता है कि आगरा हिन्दुस्तान के सभी नगरों से ऐश्वर्य में बढ़ गया है। वायु गर्म तथा रूखा है[3]। लाहौर से दिल्ली और दिल्ली से आगरा तक का सारा मार्ग सुख देने वाली वृक्षावलियों से सजा है[4]। दिल्ली

---

१-डा० धीरेन्द्र वर्मा -मध्य देश, पृ० २।

२- टेरी - ए वायेज टू ईस्ट इंडिया, पृ० ९६।

३- नूरुलहसन - बहारीरनामा (हिंदी संस्करण), पृ० ८-९।

४- बर्नियर - ट्रैवेल्स इन इण्डिया, पृ० ७८।

मुगल काल का दूसरा बड़ा और महत्वपूर्ण शहर है। शाहजहाँ ने इसे बाद में शाहजहानाबाद के नाम से अपनी राजधानी बनायी। यहाँ के बाजारों की बर्नियर पेरिस के बाजारों से तुलनीय समझता है।

५- भारत सदैव से अनेक जातियों - प्रजातियों का आवास-स्थल रहा है। रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने इसे "महामानव समुद्र" कहा है। हमारे आलोच्यकाल में भी इस विशाल जनसमूह में विभिन्न जातियों और देशों के लोग थे। इनमें हिंदुओं की संख्या सबसे अधिक थी। एडवर्ड टेरी जहाँगीर के समय में हिंदुओं की जनसंख्या विश्व की आबादी का लगभग एक तिहाई बताता है[1]। हिन्दू अनेक वर्णों में विभक्त थे। बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि भी हिन्दुओं में ही शामिल हैं। राजपूत ब्राह्मण, कायस्थ, वैश्य हिंदुओं में उच्चवर्ण समझे जाते हैं। मुसलमान दो वर्गों में बँटे थे। पहले वर्ग में उन्हें रखा जा सकता है जो विशुद्ध विदेशी थे --वे जो अरब, फारस या अन्य देशों से व्यापार और रोजगार या अन्य राजनीतिक कारणों से आये थे। दूसरे वे जो धर्म परिवर्तन कर स्वयं मुसलमान बने थे या जिनके दादा-परदादा मुसलमान बन गये थे[2]। धर्मपरिवर्तन के द्वारा मुसलमान बनने वालों की संख्या स्वभावतः अधिक थी। अरब और फारस से आये हुये विदेशी मुसलमान व्यापारी बंदरगाहों में बस गये थे। रोजगार और नौकरी आदि के लिए आये हुए मुसलमान प्रायः उत्तरी भारत में बसे थे। कुछ अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के दरबारों में भी थे। मुगल दरबारों में विदेशी मुसलमानों का आधिपत्य था। पारसीक, अरबी, तुर्क, मंगोलियायी और उजबेगी मुसलमानों के अतिरिक्त कुछ अबीसीनिया और आर्मीनिया से आये हुए मुसलमान भी थे। ये देशीय और विदेशीय मुसलमान अपने विश्वासों के अनुसार --शिया, सुन्नी, बोहरा और खोजा--इन चार वर्गों में विभक्त थे।

---

१- एडवर्ड टेरी - वर्णित------, पृ० १२१।

२- श्रीवास्तव- मुगल इम्पायर, पृ० ५५०।

सुन्नी और शिया व अन्य मुसलमान वर्गों में पारस्परिक कलह कोई अनहोनी बात न थी । प्रजा विशेष आधार पर मुसलमान तुर्क, अफगानी, पारसीक, सैयदी और भारतीय प्रजातियों में बंटी थी । भारतीय मुसलमानों में अनेक ऐसे भी थे जो अपने पुराने विभाजन को ढोते आ रहे थे । देश में बाहरी लोगों के आने के संबंध में कोई प्रतिबन्ध न होने के कारण यूरोप और एशिया के अनेक भागों ---पुर्तगाल, इंग्लैण्ड, चीन, तुर्की आदि के राष्ट्रिय भी यहां देखे जा सकते थे[1]। पारसियों ने कई शताब्दी पूर्व यहां आकर शरण ली थी । आरंभ में अकबर और जहांगीर के समय तक वे प्रमुखतः कृषि-कर्म करते थे किंतु शाहजहाँ के समय से वे व्यापार की ओर भी झुके । सत्रहवीं सदी में यूरोपीय देशों से लोगों का आना अधिक चालू हो गया था। यूरोप से व्यापारिक संबंध अधिक होने के कारण उस समय मुगल साम्राज्य के अन्तःप्रदेशों और समुद्री तटों पर ग्रीक, डच, डेनिश, लोग काफी बड़ी संख्या में दिखाई पड़ने लगे थे । और यह आना-जाना केवल व्यापार के ही क्षेत्र में नहीं था, क्योंकि मनूची के अनुसार, शाहजहां के राज्यारूढ़ होने से कुछ पहले, १६५६ ई० में, मीर जुमला के अपनी सैन्य सेवा में ८० से कुछ ऊपर यूरोपीय थे[2]। यूरोपियों में उस समय पुर्तगालियों की शक्ति सबसे अधिक थी । गोवा और पश्चिमी समुद्र तट के कुछ प्रदेश उनके अधिकार में थे । सिंध और गंगा के मुहानों में उनके व्यापारिक केंद्र थे[3]।

६- इस प्रकार हम देखते हैं कि मुगलकालीन भारत एक विशाल साम्राज्य था और सभी अर्थों में वह तब भी "महामानव समुद्र" था ---एक ऐसे लोगों का नहीं, बल्कि अनेक जातियों-प्रजातियों का विशालकाय । उसकी धरती उपजाऊ थी और उसका कोश भरापूरा । प्रजा में वह गाय के भारत से बड़ा था । औरंगजेब की मृत्यु के समय (१७०७) उसके साम्राज्य में २१ सूबे या पृथक् प्रान्त थे जिनमें से १५ हिंदुस्तान में, ६ दक्षिण में और १ काबुल में

---

१- श्रीवास्तव - मुगल एम्पायर, पृ० ५५० ।

२- वही ।

३- केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, चौथी जिल्द, पृ० ३१५-१६ ।

स्थित थे । किन्तु विजातीय शासन होने के कारण भारतीय जन चेतना में राष्ट्रीय भावना का अभाव था ।

समाज की रचना:

७- विदेशियों की दृष्टि में तत्कालीन भारतीय समाज अत्यंत विकसित संस्कारितापूर्ण जीवन के संहित जाति-तानाशाही के अधीन एक संगठन है । विभिन्न वर्गों के सामाजिक और आर्थिक लाभ परिवार और धर्म जैसी सामाजिक संस्थाओं के द्वारा नियमित और अनुशासित होते थे । इन संस्थाओं के संबंध में नैतिकता की सामाजिक विधि और विशिष्ट स्वार्थों में परस्पर भेद नहीं रह गया था और व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए बहुत कम स्थान बचा था । उसका भाग्य समाज में कम या ज्यादा पूर्व-निश्चित-सा था । बर्निअर के अनुसार "जो जहां और जिस स्थिति में उत्पन्न होता है वह उसी स्थिति में रहना चाहता है, प्रगति की कामना नहीं होती । बुनकर पिता अपने बेटे को बुनकर ही बनाता है, स्वर्णकार का पुत्र स्वर्णकार ही होता है[१]।"

८- भारतीय समाज का एक वैशिष्ट्य यह है कि यहां जन्म के आधार पर सामाजिक वर्गों का स्तरीकरण किया गया था । भारतीय समाज में हिन्दू अनिवार्यतः अपनी जाति से जाना जाता था और "बिना जाति का" विशेषण अनादरसूचक समझा जाता था । जाति का गौरव हिंदू स्वभाव का मूलतः अंग था और दुबोई का कहना है कि हिंदू, जाति की ओर, यूरोपीय लोगों की प्रजातियों की अपेक्षा कहीं अधिक आकृष्ट थे[२]। धार्मिक या वर्णगत आधार पर तत्कालीन समाज को हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई-मिश्रित भारतीय और यहूदी व आर्मेनियन श्रेणियों के अंतर्गत रखा जा सकता है ।

---

१- बर्निअर - पृ० २५९ ।

२- दुबोई- हिंदू मैनरस्, पृ० ४१ ।

९- हिंदू जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा वर्ग है। प्रत्येक ६ व्यक्तियों में से ५ हिंदू है। सवर्निंयर आश्चर्य करता है कि इस विशाल जनवर्ग ने इतने थोड़े से मुसलमानों का आधिपत्य कैसे स्वीकार कर लिया[१]।

१०- सम्पूर्ण हिन्दू समाज चार वर्णों में विभक्त है। प्रत्येक वर्ण अपने नियमों तथा प्रथाओं के अनुसार कार्य करता है। प्रथम वर्ण ब्राह्मणों का है अर्थात् वे जो ब्रह्म को जानते हैं। इनके कर्तव्य ६ प्रकार के है--१, धार्मिक ज्ञान प्राप्त करना, २- दूसरों को शिक्षा देना, ३- अग्नि पूजन, ४- दूसरों से अग्नि पूजन कराना, ५- दीनों को दान देना, ६- स्वयं दान ग्रहण करना[२]। मनुजी लिखता है कि ब्राह्मण अपने को भूदेव कहते है। अपने निवास -स्थलों को वे सर्वगृह बताते है। सोना-काशी-धन को अपनी सभी पार्थिव सम्पत्ति ब्राह्मण देवता को समर्पित कर देनी चाहिए। वे जो कुछ कहते है उस पर हिन्दुओं का अटल विश्वास है फिर भी वे ब्राह्मण विश्वसनीय नहीं है। हिन्दुओं में ब्राह्मणों का स्थान धर्माचरण, कर्मकाण्ड एवं विद्याध्ययन की दृष्टि से सदैव सर्वोपरि रहा है और वह इस समय भी है। वर्ण-व्यवस्था के जटिलतर हो जाने से ब्राह्मणों का महत्व और भी अधिक हो गया है।

११- महत्व की दृष्टि से क्षत्रियों का स्थान दूसरा है। इस संबंध में विदेशी यात्रियों के अभिलेखों में बड़ी भ्रांति मिलती है और प्रायः सभी ने इन्हें राजपूत कहकर पुकारा है जिसके कारण राजपूत विशेष और क्षत्रियों के बीच का अंतर करना कभी-कभी कठिन हो जाता है। इन्हें "राजन्य" भी कहा गया है। फ्रेंच यात्री बर्नियर लिखता है---कि राजपूत से राजपुत्र का तात्पर्य है जिसे

---

१- "At the census of India 1911, Hindus numbered 217 million and Musalman 66 the proportion of total population being respectively 69 and 21 p.c."

-बर्नियर, पृ० १११।

२- बहारीस्तानमा, पृ० ३१३।

शैशवकाल से ही शूरवीरता के कार्यों का प्रशिक्षण दिया जाता है[1]। ये बड़े बहादुर और आत्म-सम्मानप्रिय है। तवर्निएर उनके शौर्य का उल्लेख करते हुए एक कहानी प्रस्तुत करता है। एक सैनिक भयवशात् नहीं, अपनी प्रियतमा के प्रेमवश, युद्धभूमि से पलायन कर जाता है। उसे आता हुआ देखकर वही पत्नी जो उसे अपने जीवन का सर्वस्व समझती थी, उसकी इस कायरता पर घर का द्वार बंद कर लेती है। वह ऐसे नरशौर्य को अपना पति मानने से इन्कार कर देती है जो एक स्त्री के प्रेम को अपनी प्रतिष्ठा से बड़ा मानता है। सैनिक युद्धभूमि में जाता है, और अपने अदम्य साहस व शौर्य का परिचय देकर घर वापस आता है। पत्नी उसे सम्मानपूर्वक स्वीकार करती है[2]।

१८- वैश्य कृषि कार्य करते है। क्रय-विक्रय करते हैं तथा लाभ एवं वृद्धि के लिए व्यापार करते हैं[3]। तवर्निएर लिखता है—इस जाति के लोग व्यापार में बहुत कुशल है, यहाँ तक कि बड़े से बड़े व्यापार-चतुर यहूदी को भी ये पाठ पढ़ा सकते है। ये शैशव से ही अपने बच्चों को आलस्य का त्याग करने की सीख देते है। और उनके बच्चे हमारे बच्चों की तरह खेलकूद में अपना समय नहीं नष्ट करते। बल्कि वे अंकगणित के सबक सीखते है और बड़े से बड़ी धनराशि का हिसाब बिना कागज़-कलम की सहायता के क्षण भर में, लगा लेते हैं[4]। तवर्निएर ऐसे कुशल व्यापारी के मुंह से यह बहुत बड़ी प्रशंसा है। दीवाली इनका प्रमुख त्योहार है।

---

1. "The word Rajpous signifies sons of Rajas. These people are educated from one generation to another in the profession of arms. Parcels of lands are assigned to them for their maintenance by the Rajas whose subjects they are, on condition that they shall appear in the filed on the summons of their chieftains."
-तवर्निएर, पृ० ४९।

२- तवर्निएर - दूसरी जिल्द पृ० १४५(मौर भी-टाड-एनाल्स एण्ड एन्टीक्विटीज़ आफ राजस्थान), पृ० ७२४।
तवर्निएर - पृ० ४०७।

३- जहाँगीर नामा, पृ० ३१३-१४।

४- तवर्निएर- दूसरी जिल्द, पृ० १४४।

१५- "चतुर्थ वर्ण शूद्र है जो हिंदुओं में सबसे छोटी जाति है। ये सबके सेवक है और इन वस्तुओं का ये लाभ नहीं उठा सकते जो अन्य वर्गों की विशेषताएँ है। इनका दिन होली है जो इनके विश्वास में वर्ष का अंतिम दिन है। (जहांगीर यहां शायद भूल करता है— सभी हिंदू होली को ही वर्षान्त मानते है।) इस दिन रात्रि में ये सड़कों तथा गलियों में आग जलाते है और दिन होने पर एक पहर तक ये एक दूसरे के कंधों तथा मुख पर राख फेंकते है और विविध प्रकार का शोर एवं हो उपद्रव करते है। इसके अनंतर नहा धोकर कपड़ा पहिनते और दुकानों में और मैदानों में घूमते है। हिन्दुओं में मृतकों को जला देने की निश्चित प्रथा है इसलिए इस रात्रि में आग जलाने से उस गत वर्ष की अंतिम रात्रि होती है—यह तात्पर्य है कि विगत वर्ष को जला दिया गया, जो मृतकों की भांति ही जला गया[1]।

१६- भारतीय वर्ण-विन्यास किसी विधि विहित संहिता का अधिनियमन नहीं है यद्यपि यह उसका दूरागत प्रभाव हो सकता है, यह भारतीय मन की अपनी सृष्टि है जिसमें निम्नतम वर्ण का व्यक्ति भी अपनी स्थिति से लज्जित नहीं, अपितु गौरवान्वित है। निम्नतम वर्ण का व्यक्ति वर्ण- व्यवस्था से बाहर नहीं है, समाज में उसे मान्यताविहित स्थान प्राप्त है, वह एक श्रेणी का सदस्य है और स्वयं ही अपने से ऊपर के लोगों से अलग अपनी सत्ता बनाये रखना चाहता है[2]। यह केवल सामाजिक स्तरीकरण या हिन्दुओं के विभाजन की मौलिक विशिष्टता ही नहीं थी अपितु व्यक्ति के पुंजीभूत सामाजिक संदर्भों, शक्तिशाली सामाजिक पूर्वाग्रहों, मान्यताओं और वर्जनाओं का प्रतिफलन थी। १७वीं, १८वीं सदी में वर्ण-व्यवस्था ही विवाहों का भी नियमन करती थी और यह बात बहुत कुछ आज भी है। असवर्णीय विवाह अकल्पनीय थे। वर्ण-व्यवस्था के अन्य नियमों की अवहेलना की जा सकती थी और समाज के कठोर दण्ड विधान से भी बचा जा सकता था किन्तु विवाह और यौन सम्बन्धों में यह

---

१- जहांगीर नामा, पृ० २१४।

२- डे०मिल- हिन्दू कास्ट इन ब्रिटिश इंडिया-पहला विन्द, फुटनोट- पृ० १४०।

संभव नहीं था[1] । वर्ण-व्यवस्था का खानपान से भी बहुत निकट का सम्बन्ध था । वर्णान्तर भोजन का चलन नहीं था । भोजन के नियमों की कठोरता प्रायः छूने खाने तक सीमित थी । समाज में व्यक्ति का व्यवसाय नियत करने में भी जाति का महत्वपूर्ण स्थान था[2]। कुछ विदेशी लेखकों का तो विचार है कि वर्ण-व्यवस्था का जन्म ही व्यावसायिक संघों से हुआ । हर्बर्टसन के अनुसार "रक्त-समूह" एवं "व्यवसाय-समूह" वर्णव्यवस्था की मौलिक विशेषतायें थीं। वर्ण-व्यवस्था का यह सामाजिक स्तरीकरण बुद्धि और चरित्र के आधार पर नहीं अपितु जन्म के आधार पर निर्णीत होता था । उच्चवर्ग को विशेष सुविधाएं प्राप्त थीं, निम्नवर्ग उनसे वंचित थे । समाज पुरातनपंथी अवश्य था किन्तु सुधार की प्रवृत्तियां धीरे धीरे काम कर रही थीं । अनेक नवीन जातियां और उपजातियां बन रही थीं । इन वर्णों की अपनी सरकारें भी होती थीं । आज जो बहुत सा काम अदालतों से होता है वह उस समय वर्ण-परिषदों और वर्ण -मुखियों द्वारा सम्पन्न किया जाता था । इनके नियम अलिखित थे । फिर उनमें संगठन, नैतिकता और परम्परा की छाप थी[3]। वस्तुतः सम्पूर्ण भारत का सामाजिक विभाजन वर्ण-विभाजन से आच्छादित था । केवल हिन्दुओं में ही नहीं, अपितु उसके प्रभावस्वरूप मुसलमानों में भी सामाजिक वर्ग बन रहे थे । आगे चलकर बंगाल और बिहार में अशरफ (उच्च) राजीलच (निम्न) वर्गों के विभाजन है । ये हिन्दू समाज के द्विज और शूद्र से है । मुसलमान बनाये गये हिन्दू अपने नवीन धार्मिक विश्वास के नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं बदले[4]। शेख, मुगुल, पठान और पारसियों में विभिन्न छोटे छोटे उपवर्ग थे । मु० अली ने सूचित किया है कि मुसलमान समाज के उच्च वर्ग में जन्म पर गर्व करना शिक्षा का एक

---

१- नेसफील्ड-पृ० २५९ ।

२- वही ।

३- रघुवंशी- इंडियन सोशल सायंस ।

४- रिजले, पेपांपर, पृ० ११०-११ ।

आवश्यक अंग माना जाता था । यह बात विशेष कर शैव और वैष्णव लोगों में थी जो मुस्लिम समाज में ब्राह्मणों के समानधर्मा थे[1]।

आश्रम-व्यवस्था:

१६- हिन्दू समाज की अतीत काल से चली आने वाली चार आश्रमों की व्यवस्था किसी न किसी रूप में अब भी विद्यमान है । ब्राह्मण के घर में जो पुत्र होता है उसे सात वर्ष तक वे ब्राह्मण नहीं कहते । जब वह आठ वर्ष का होता है तब वे सब ब्राह्मणों को एकत्र करते हैं । वे मूंज की एक डोरी बनाते हैं जिसे मौंजी कहते हैं और जो ढाई गज लम्बी होती है और उस पर प्रार्थना करते तथा कई बार मंत्र पढ़ते हैं । उसे किसी विद्वान ब्राह्मण को सौंप देते हैं जिसके गृह पर बारह वर्ष तक रहकर लोगों की शिक्षा ग्रहण करें जिन्हें वे ईश्वरीय गुरु समझते हैं । उस दिन से वे उसे ब्राह्मण कहने लगते हैं । इस काल में यह आवश्यक है कि वह शारीरिक सुखों से दूर रहे । दोपहर बीत जाने पर वह अन्य ब्राह्मणों के घर भिक्षा ग्रहण करने जाता है और जो कुछ मिलता है वह सब अपने गुरु के पास ले जाता है तथा उनकी आज्ञा से खाता है । वस्त्र के नामपर उसके पास लंगोटी के सिवा केवल दो गज सूती वस्त्र की पर रखने को होता है और कुछ भी नहीं । यह काल ब्रह्मचर्य कहलाता है । इस काल के बीतने पर अपने गुरु तथा पिता की आज्ञा से वह विवाह करता है और पंचेन्द्रियों के सभी सांसारिक सुखों का आनंद लेता रहता है, जब तक कि उसका पुत्र सोलह वर्ष की अवस्था का नहीं हो जाता । यदि उसके पुत्र ही नहीं होता तब वह अट्ठावन वर्ष की अवस्था तक सामाजिक जीवन बिताता है । तदुपरान्त एकांतवास के लिए चला जाता है । इस काल को वानप्रस्थ कहते हैं । हिन्दुओं का यह विश्वास है कि कोई भी शुभ कार्य पत्नी के बिना पूरा नहीं हो सकता और इस काल में भी बहुत कुछ अर्जन पूजन करना होता है इसलिए वह स्त्री को भी वन में साथ ले जाता है ।

---

१- रघुवंशी -पूर्वोक्त ।

यदि वह गर्भिणी हुई तो प्रसव होने तथा संतान के पांच वर्ष का होने तक वह वन में जाना रोक देता है। इसी प्रकार पत्नी के रजस्वला होने पर वह उसके शुद्ध होने तक जाना रोक देता है। इसके अनंतर वह अपनी स्त्री से कोई सम्बन्ध नहीं रखता और उसके समागम से अपने को दूषित नहीं करता तथा रात्रि में अलग सोता है। यहाँ वह बारह वर्ष व्यतीत करता है। ..... जब वह इस प्रकार वह काल व्यतीत कर लेता है तब अपने गृह लौट जाता है और अपनी स्त्री को अपनी संतानों, भाइयों तथा जामाताओं को सौंपकर अपने दीक्षा-गुरु को प्रणाम करने जाता है। इसके अनंतर संसार को त्याग देने और सन्यास लेने की स्थिति आती है'।

संस्कार:

१६- हिन्दुत्व में समाज और धर्म की दूरी इतनी कम है कि उनका कोई भी कार्य सहसा किसी एक कोटि में नहीं रखा जा सकता है। संस्कारों की भी यही स्थिति है, वे धार्मिक रूप होते हुए भी सामाजिक हैं और सामाजिक होते हुए भी उनका कलेवर धार्मिक है। इन संस्कारों की संख्या सोलह है। हिन्दुओं की यह मान्यता है कि मनुष्य एक बार माता के गर्भ से जन्म लेता है दूसरा जन्म उसका इन संस्कारों के द्वारा होता है। इसीलिए वे लोग द्विज कहलाते हैं। संस्कार "प्रकृत" के संस्करण के माध्यम हैं। प्रायः सभी संस्कारों का मूलाधार विस्मृति के गर्त में चला गया है, इनकी वैज्ञानिकता तिरोहित हो गई है; फिर भी अनुवर्तन किया जाता है। पुत्र जन्म पर, पुत्री के जन्म की अपेक्षा कहीं अधिक उत्सव मनाया जाता था। तत्कालीन इतिहास ग्रंथों में राजकुमारों के जन्म पर अतिशय उछाव-बधाव के उल्लेख मिलते हैं। जन्म और नामकरण के बाद यज्ञोपवीत पहला बड़ा संस्कार है। विद्या पढ़ने का आरम्भ इसी संस्कार के अनंतर होता है। धीरे-धीरे इसका पहले जैसा महत्व नहीं रह गया। फिर भी, किसी न किसी रूप में यह मध्यकाल में चलता रहा।

---

१- जहांगीर नामा, पृ० ४१९-४२।

१७- विवाह हिन्दू जाति में बहुत महत्वपूर्ण संस्कार रहा है। विवाह-प्रथा सार्वजनीन और व्यापक रही है। विवाह एक समझौता नहीं अपितु एक आवश्यक धार्मिक बंधन समझा जाता था। इसमें अंतर्निहित मूल-भावना को न समझ पाने के कारण वेस्टिन का यात्री मनूची, जो शाहजहां के दरबार में काफी समय तक रहा, झुंझलाया था। उसका ख्याल था कि हिन्दुओं के विचार से विवाह से अधिक हीरव और प्रसन्नता का दूसरा लौकिक कृत्य अन्य नहीं है। वे विवाह में ही जीवन की अन्यतम कृतकार्यता समझते है। उनके बच्चे ज्यों ही चलना-फिरना और बोलना सीख जाते हैं उन्हें शादी-ब्याह की बातें बतायी जाने लगती हैं। उनकी लड़कियां तो प्रायः इससे भी पहले विवाहित हो जाती हैं[1]।

१८- हिन्दुओं में पति सामान्यतः पत्नी से कुछ वर्ष बड़ा होता है किन्तु दोनों एक ही जाति के होते हैं[2]। जाति से बाहर विवाह की कल्पना * नहीं की जा सकती[3]। दुबोई का यह कहना कि भारत में विवाह करना और "पत्नी खरीदना"समानार्थी है नितांत असत्य और भ्रामक है। मनूची की साक्षी इस सम्बन्ध में बिल्कुल स्पष्ट और प्रामाणिक है। कोई भी व्यक्ति पत्नी खरीद नहीं सकता[4]।

१९- बालविवाह प्रचलित है। उस समय आने वाले सभी यात्रियों ने एक स्वर से इसकी सराहना और निंदा की है। सवर्णों में विवाह की पद्धति प्रायः एक-सी है। विवाह अल्पवय में अवश्य हो जाता है किन्तु मां-बाप लड़की को तब तक विदा नहीं करते जब तक वह पूर्ण वय को नहीं प्राप्त कर लेती। वह द्विरागमन के बाद ही पति के घर जाती है। मनूची इसे क्रूरता

---

१- मनूची-स्टोरिया डि॰ मो॰, पृ॰ ५४।
२- वही।
३- बर्नियर I, पृ॰ २५९।
४- मनूची III, पृ॰ ५५।

विवाह कहता है[1]। विदेशी पंडितों की राय में यह बालविवाह किसी सीमा तक उचित भी है क्योंकि उष्ण जलवायु में लड़कियां ८ या ९ वर्ष की उम्र में ही विवाह के योग्य हो जाती है। क्राफर्ड ने इसका समर्थन करते हुए कहा है कि हिन्दुस्तान में व्यक्ति की मानसिक और शारीरिक शक्तियां अन्य ठन्डे देशों की अपेक्षा शीघ्र ही पूर्णता और परिपक्वता पर पहुंच जाती है[2]। राबर्ट नार्मे का कथन है—प्रकृति ने भारतीय ललना को अन्यतम उदारता के साथ सौंदर्य का उपहार दिया है। वे सभी तेरह वर्ष की वय प्राप्त करते-करते विवाह के योग्य हो जाती हैं और तीस वर्ष की आयु में पहुंचते-पहुंचते उनका शरीर शिथिल हो जाता है, वे अधिक समय तक लावण्यवती नहीं रहतीं, उनमें लावण्य की इतनी अतिशयता है कि वह अधिक समय तक बना भी नहीं रह सकता[3]।

२०- मनूची लिखता है कि ज्यादातर लड़कियों के विवाह चार या पांच वर्ष की वय में हो जाते है। तेरह की आयु तो बहुत कम लड़कियां ही प्राप्त कर पाती है[4]। सवर्णों में तलाक की प्रथा नहीं थी। निचले वर्ग के लोग विवाह सम्बन्ध तोड़ सकते थे। निचले वर्ग में पति-पत्नी दोनों को तलाक देने का अधिकार प्राप्त था किन्तु राजपूत, ब्राह्मण, वैश्य और यहां तक कि कुछ ऊपर के स्तर के शूद्रों में यह बिल्कुल अनहोनी बात थी[5]।

---

१- मनूची III, पृ० ४८।

२- क्राफर्ड, उद्धेख, पृ० २१८ तथा टेरी, पृ० २०१।

३- "Nature seems to have showed beauty on the fairer sex throughout Indostan, with a more lavish hand than in most other countries. They are all without exception fit to be married before thirteen and wrinkled before thirty—floweres of too short a duration not to be delicate; and too delicate to last long."

-रघुवंशी- पीडित से उद्धृत।

४- मनूची, वही, पृ० ५९।

५- मनूची, वही, पृ० ७०।

२१- विवाह बड़ी धूमधाम से होते थे । हर आदमी अपनी हैसियत भर, बल्कि हैसियत से अधिक प्रदर्शन के साथ विवाह करता था । जहांगीर के बेटे के विवाह में हिंदुस्तानी तौल से दस मन के लगभग इत्र तथा सुगंधित द्रव्य कस्तूरी व अंबर खर्च हुआ था[1] । अनेक गायिकाएं, संगीतकार और वादक दरबार को कभी न समाप्त होने वाली मधुर तानों से मधुपूरित कर देते, सामंत अपनी औपचारिक वेशभूषा में पंक्ति में व्यवस्था बद्ध खड़े रहते, हीरे जवाहरातों से सजाये गये हाथी शाही जुलूस को अतिशय भव्यता प्रदान करते जबकि नौबतखाने का मृदुल संगीत सुधाधार श्रोताओं के कर्णकुहरों को आप्लावित करता रहता और भव्य शाही-विवाह अभियान दल इन सबसे युक्त होता । सामान्य लोग तो अपनी हैसियत से अधिक खर्च करते थे । मनूची बताता है कि विवाह के लिए आवश्यक सभी सामग्री कर्ज पर प्राप्त की जाती है और विवाह के दिन के बाद लोग प्रायः सभी चीजें उठा-उठाकर ले जाते हैं, दुल्हन बिना गहने की रह जाती है, घर का सारा साज सामान निकल जाता है, दूल्हे को देख के जो वादे किये जाते है वे भी बहुत कम पूरे होते है । सारा घर रिक्त हो जाता है[2] ।

२२- भारतीयों में मृतक को जला देने की प्रथा बहुत प्राचीन है । मुर्दे प्रायः नदियों के किनारे जलाये जाते है जहां जलाने के पूर्व मृतक को अंतिम स्नान कराया जाता है । जब किसी हिन्दू की मृत्यु होती है तो उसके वर्ण-गोत्र के लोग उसके घर में आकर एकत्र होते है । मृतक को श्वेत वस्त्रों से आच्छादित कर श्मशान ले जाया जाता है । उसके सम्बन्धी पीछे-पीछे "राम-राम" की धुन करते हुए चलते है । श्मशान में से आकर, स्नान के बाद मृतक का शव जला दिया जाता है । उसे जलाने के लिए एक चिता तैयार की जाती है[3] ।

---

१- जहांगीरनामा-पृ० ४६-४७ ।
२- मनूची, वही, पृ० १७७ ।
३- तवर्नियर-दूसरी जिल्द, पृ० १६१-६२

२३- जहाँ विवाह सार्वभौमिक रूप ग्रहण कर लेता है वहाँ परिवार का महत्व स्वभावतः बढ़ जाता है। भारतीय परिवार का संगठन और जीवन में महत्व संसार के अन्य सभी देशों से अधिक सुगठित और व्यापक है। वह जीवन का मूलाधार है। नैतिक आदर्शों ने स्त्री और पुरुष दोनों के लिए गृहस्थ-जीवन को एक आदर्श संस्था माना है। परिवार संगठित सामाजिक जीवन की एक प्रमुख संस्था रहा है। भारतीय परिवार पितृप्रधान था जिसमें सबसे वृद्ध पुरुष सदस्य मुखिया था प्रधान होता था। उत्तराधिकार सबसे बड़े लड़के को मिलता था। स्त्रियाँ सामान्यतः पति के धर्म को ही स्वीकार करती थीं। संयुक्त परिवारों का चलन था। सामाजिक कर्तव्यों के निर्वाह के लिए परिवार आवश्यक था। फादर पुशे ने लिखा है- "यह सुनिश्चित है कि भारतीय माता पिता का संतति स्नेह और भारतीय संतान की मातृपितृ भक्ति पृथ्वी में अकल्पनीय एवं अन्यतम है[1]।"

२४- हमारा साहित्य इससे भरा पड़ा है। "पारत्व" की इस रूप में स्वीकृति इसका प्रमाण है। परिवार में पुत्र जन्म पर विशेष प्रसन्नता प्रकट की जाती थी। मृतक का अंतिम संस्कार उसका पुत्र ही करता था। शिशुओं के पालन-पोषण और मृतक के अंतिम संस्कार करने के अतिरिक्त सामाजिक जीवन में भी परिवार का महत्वपूर्ण हाथ था।

२५- हाथ-पाँव चलने पर वृद्धों के असहाय होने की आशंका नहीं रहती थी। सम्बन्धों में निकटता और सामाजिक संदर्भों में स्थायित्व रहता था। उत्सव और विविध उपचार पारिवारिक सीमाओं में ही होते थे। गर्भाधान, पुंसवन, जन्म विवाह आदि हिन्दुओं के सोलह संस्कार परिवार में ही होते थे। भारतीय परिवार का जीवन नीरस और एक-रस नहीं था।

मेले और पर्व आदिः

२६- भारतीय मेले त्यौहारों की स्थिति आवश्यकता में बहुत कुछ आज

---

१- ट्रेडीशन आफ नेशनहुड पेज १, पृ० ५० से

वैसी ही थी । हिन्दू-मुसलमानों के अनेक त्योहार होते थे जिनमें लोग परस्पर मिलते और आनंद मनाते थे । हिन्दू त्योहारों में रक्षाबंधन, दशहरा, दीपावली एवं होली मुख्य हैं । इन त्योहारों का विभाजन भी कुछ कुछ वर्णगत आधार पर है । रक्षाबंधन मुख्यतः ब्राह्मणों का त्योहार है । मुगल बादशाह तक इनमें भाग लेते थे । "जहांगीरनामा" में, सम्राट् जहांगीर ने, अकबर के राखी बंधवाने का उल्लेख किया है । "हमारे पिता के समय हिन्दू अमीर और उनकी नकल करने वाले अन्य लोग राखी की प्रथा के अनुसार उन्हें बांधते थे । लाल, बड़ी मोती तथा रत्नों से सजे हुए फूलों की बहुमूल्य राखियां उनके हाथों में बांधते थे ।..... हमने भी इस वर्ष यह अच्छी धार्मिक प्रथा चलायी और आदेश दिया कि हिन्दू अमीर तथा जातियों के अनुभवी लोग हमारे हाथ में राखी बांधा करें । रक्षाबंधन के दिन.... यह कार्य हुआ और अन्य जाति वालों ने भी इस धार्मिक प्रथा को नहीं छोड़ा । इस वर्ष हमने इसे स्वीकार कर लिया और आज्ञा दी कि ब्राह्मण लोग प्राचीन प्रथानुसार सूत तथा रेशम की राखी बांधें[1]।"

२७- दूसरा प्रमुख त्योहार आश्विन शुक्ल का विजयादशमी या दशहरा है । यह शक्तियों का त्योहार है । यह विजय का, शक्ति की आराधना का, त्योहार है । वर्ष की फसल आश्विन में पककर तैयार होती है । भारत की धनधान्य सम्पन्नता का प्रत्यक्ष निदर्शन होता है । दीपावली बैश्यों का पर्व है । यह इन विशेष पर्वों में है जो भारतवासियों में स्फूर्ति और प्राण शक्ति के संचारक कहे जाते हैं । वैश्य वर्ग के साथ मिलकर सब वर्ण-जाति के लोग इस दिन भगवती कमला के आनंद में मग्न हो जाते हैं[2]।

२८- होली शूद्रों का प्रमुख त्योहार है । आज की ही भांति मुगल काल में भी यह वर्णान्त का त्योहार था और भारतवासी पूर्ण रूप से उन्मुक्त होकर इसे मनाते थे । जहांगीर ने अपने आत्मचरित में इसका उल्लेख किया है ।

---

१- जहांगीरनामा, वही, पृ० २१४-१५ ।

२- गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी-वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ० २२३ ।

३९- मुसलमानों के त्यौहारों में नौरोज, बादशाह व राजकुमार के जन्म-दिन, सम्राट् की राज्याधिरोहण वार्षिकी, ईद, शबेरात, बाराबफात आदि के मनाये जाने के उल्लेख मिलते हैं। जहांगीर ने अपनेे राज्याधिरोहण वार्षिकी के विस्तृत उल्लेख अपने आत्मचरित में किये हैं। इन अवसरों पर राजनिवास भव्य रूप में सजाये जाते थे, उनमें जीवन का सौंदर्य और उल्लास उमड़ जाता था। रीतिकाल के त्यौहार और उपचार जितनी पूर्णता और स्पष्टता के साथ दो भिन्न धर्मों और आदर्शों का संश्लिष्ट रूप प्रस्तुत करते हैं उतना कदाचित् और कोई वस्तु नहीं। ये पर्व भारतीय जन-जीवन के उल्लास को व्यक्त करते थे, इनका विभावन वैज्ञानिक और जीवन की समग्रता के अनुरूप था[1]। हिन्दुओं के तीर्थस्थान, प्रयाग, हरिद्वार, अयोध्या, मथुरा, गया, गढ़मुक्तेश्वर, नीमसार, कुरुक्षेत्र, उज्जैन आदि में समय-समय पर मेले लगा करते थे। हर महत्वपूर्ण कस्बे में स्थानीय मेले लगते थे। अजमेर, पानीपत सरहिंद और अयोधन मुसलमानों के मेलों के स्थान थे जहां देश के हर भाग से लोग पहुंचते थे।

४०- आलोच्यकाल में भौतिक दृष्टि से, समाज की प्रवृत्ति सामंतशाही थी। सामंत और अभिजात्य वर्ग समाज का प्रमुख अंग था। अभिजात्य वर्ग के अंतर्गत सम्राट्, शासक, राजा और नवाब आते थे। इस वर्ग की समृद्धिशीलता और उसका ऐश्वर्य अभूतपूर्व था। यह एक ऐसा देश था जहां अतिशय निर्धनता और समृद्धि, शानशौकत और गरीबी एक साथ चलती थी। मुगलिया महल अपनी कीमियागीरी, बनावट और मूल्य के लिए विख्यात थे। १७वीं सदी में मुगल सत्ताधारी संसार का सर्वाधिक समृद्ध और शक्तिशाली शासक माना जाता था। नागरिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा थी। तत्कालीन सभी यात्री मुगल बादशाह की समृद्धि और ऐश्वर्य से चकित हैं। सम्राट के बाद

---

1 "Perhaps nothing represents with a finer flash and flare, with a greater glare and glow, the synthesis of akin yet alien ideas and the fusion of cordial yet different cultures as the festivals of the Mughal days do,"

-Km. Kaumudi-Studies in Mughal Paintings, thesis preserved at Allahabad University, Allahabad. p.33.

सामंतों और अमीर -उमरा लोगों की स्थिति थी । वे समाज के विशेषाधिकार प्राप्त लोग थे । व्यक्तिगत जीवन और प्रदर्शन में वे लोग भी सम्राट् का अनुकरण करते थे । किन्तु उनकी आय के साधन इतने अधिक न थे कि उनकी अतिशय व्यय साध्य सुख -सुविधाओं की पूर्ति कर पाते । तत्कालीन फ्रांसीसी यात्री बर्नियर उनकी आर्थिक विपन्नता का विवरण देता है[1]। मंसबदारों और रौशिंदारों की भी स्थिति इसी वर्ग के अंतर्गत थी । सम्राट् या अमीर -उमरा के जुलूस आकर्षण के विषय थे । ऐश्वर्य के प्रदर्शन के लिए शाहजहाँ का काल तो इतिहास में अतुलनीय है ।

३१- प्रतिष्ठा की दृष्टि से इनके बाद धार्मिक वर्ग आता है । धार्मिक प्रतिष्ठानों के लिए वृत्तियाँ निश्चित थी । व्यापारिक वर्ग प्रायः कस्बों और शहरों में निवास करता था । भारतीय व्यापारियों की बुद्धिमानी के प्रमाण विदेशी यात्रियों ने दिये हैं । संपूर्ण जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषक वर्ग के अंतर्गत आता है । मुरेई के विवरण से स्पष्ट होता है कि देश की सम्पूर्ण जनसंख्या के ३।४ लोग इसमें लगे थे[2]। देश के लगभग १० प्रतिशत लोग उद्योग-धन्धों में रत थे । व्यावसायिक या पेशेवर वर्ग के अंतर्गत अध्यापक, वैद्य, कलाकार,ज्योतिषी, सरकारी कर्मचारी, सिपाही, दर्जी, नाई, नर्तक आदि आते थे । ये भी प्रतिष्ठित लोग समझे जाते थे । इस वर्ग में ब्राह्मणों एवं कायस्थों की संख्या अधिक थी[3]। इसके अतिरिक्त सामाजिक प्रतिष्ठा और जीवन के विशेषाधिकारों से वंचित निम्नवर्ग था जिसमें दास-दासियाँ और आदिमजातियों के लोग आते थे ।

३२- इस प्रकार हम तत्कालीन समाज में जहाँ एक ओर मुगल सम्राट् का अतुलनीय ऐश्वर्य असीमित निरंकुश अधिकार और अप्रतिम मर्यादा और सेव देखते हैं, वहाँ अमीर-उमरा और आभिजात्य वर्ग की शान शौकत और शाहखर्ची देखते हैं वहीं दूसरी ओर जीवन के विशेषाधिकारों से वंचित, केवल खाने और जीवन-निर्वाह के लिए कमा सकने वाला भारत का सामान्य किसान और

---

१- बर्नियर- वही, पृष्ठ ४२४ ।

२- रघुवंशी, शोध प्रबन्ध ।

३- रघुवंशी, शोध प्रबन्ध ।

जीवन की हर सुख-सुविधा से वंचित गरीब दास भी खड़ा है। यह घोर सामाजिक वैषम्य का युग है।

राजनीतिक जीवनः

११- १६०५ में जब सम्राट् अकबर की मृत्यु हुई और उसका बेटा सलीम गद्दी पर बैठा उस समय तक बाबर के अदम्य साहस, हुमायूं के शौर्य और स्वयं अकबर के नीति-कौशल ने भारत में मुगल साम्राज्य का भवन खड़ा कर लिया था। निर्माण-काल प्रायः समाप्त हो चुका था, उपभोग का युग आरम्भ होने को था। वृद्धी शासकों का युग जा चुका था, भोगी प्रशासकों के युग की अवतारणा होने को थी। सम्राट् अकबर अत्यंत नीति पटु और सुयोग्य शासक था किन्तु उसकी धार्मिक सहिष्णुता की विशुद्ध नीति के आधार पर उसके शासन को और उसके स्वभाव को धर्मनिरपेक्ष व सर्वधर्म समभाव का गौरव देकर अनेक इतिहासकारों और अधिकांश साहित्यिक इतिहासकारों ने प्रायः अतिशयोक्ति की है। अंधकार के एक लम्बे युग में क्षीण प्रकाश रेखा भी आलोक-सदृश्य-सी प्रतीत होती है। अकबर का उत्तराधिकारी जहांगीर, राजनेता नहीं था, राजनीति के बड़े पेंचों पर विश्वास का संबल लेकर चलने की सामर्थ्य उसमें नहीं थी, अंतर्दृष्टि की गहनता बुद्धिकौशल का उसमें अभाव था। अपने राज्यकार्यों के संचालन में भी वह जनता की छोटी-मोटी तकलीफों के सम्बन्ध में अधिक सजग था, महान सुधारों की अवधारणा और उनके कार्यान्वय की क्षमता उसमें नहीं थी। उसका आत्मचरित् और इतिहासकारों का मत-- दोनों की साक्षी उसमें एक है। भारतीय सम्राटों की परम्परा में जहांगीर एक सदाशय, क्रीड़ा आदि का शौकीन, कलाओं और सुरुचिपूर्ण जीवन में अभिरुचि रखने वाले व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है, सभी के प्रति सद्भाव रखना प्रत्येक कार्य के सम्यक् संपादन की आकांक्षा रखना-- उसके स्वभाव का वैशिष्ट्य है किन्तु उत्कृष्ट बौद्धिक योग्यता और विराट् अवधारणा शक्ति के अभाव से न तो वह कोई महान् परिकल्पना ही कर सका और कार्यान्वय कौशल के अभाव में, न ही वह महान् प्रशासकों के बीच स्थान पा सका[1]।

---

१- कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, वॉल्यूम ४, पृ० १८२।

१७- १६२६ में, जहांगीर की मृत्यु के बाद, राजकुमार खुर्रम, शाहजहां की उपाधि के साथ गद्दी पर बैठा । अकबर की मृत्यु के समय जहांगीर की जो स्थिति थी, जहांगीर की मृत्यु के समय शाहजहां की स्थिति उससे कहीं सशक्त और दृढ़ थी । उसे अपनी सामर्थ्य और नीतिकौशल से एक ऐसे साम्राज्य की व्यवस्था करनी थी जिसे उसने स्वयं अपने विद्रोहों से अस्तव्यस्त कर दिया था । शाहजहां के शासन का प्रारंभिक काल उसकी शक्ति और स्फूर्ति के लिए उल्लेखनीय है । राज्यारूढ़ होने के बाद, १६२९ में उसने दक्षिणापथ की यात्रा की । शाहजहां के विद्रोह का निर्मूलन करने के साथ ही उसे हैदराबाद बीजापुर व गोलकुण्डा की रियासतों पर भी दृष्टि रखनी पड़ती थी । इन रियासतों के बीच परस्पर सद्-भाव न होने पर भी मुग़ल शासक के विरोध में इनके संगठित हो जाने की संभावना बराबर बनी रहती थी । शासन के प्रारम्भ-काल में मराठों ने मुग़लों की अधीनता स्वीकार कर ली थी किन्तु उनका नेता यदुराय अहमदनगर के शासक से भी संबंध रखना चाहता था। शाहजहां ने, यदुराय को क़त्ल करवाकर फिरहाल मराठों को मिटा दिया[1]। राजनीतिक दृष्टि से शाहजहां के प्रारम्भिक वर्ष शांति और सुव्यवस्था के लिए उल्लेखनीय है, किन्तु निर्माण और कर्तृत्व का प्रायः अभाव है । कलात्मक अभिरुचि और सुरुचिपूर्ण जीवन के प्रति लगाव उसे अपने पिता से उत्तराधिकार में मिले थे । शाहजहां अपने भास्वर प्रदर्शनों और अनियंत्रित व्ययसाध्य कार्यों के द्वारा प्रजा को सम्मोहित करने में चतुर था, अपने स्वार्थों की बलि दिये बिना वह उदार और सदाशयी भी बन सकता था किन्तु अपने पिता की भांति ही शाहजहां में भी विराट् कल्पनाशक्ति का अभाव था । राज्याधिरोहण के पूर्व और परवात् के उसके चरित्र में इतना अंतर और वैषम्य है कि राजकुमार खुर्रम और सम्राट् शाहजहां एक ही व्यक्ति के दो नाम न होकर, दो भिन्न व्यक्तित्व प्रतीत होते हैं । कवीन्द्र कवि इन्द्रजा ने अपनी कृति "बीरसिंहदेव" में इस अंतर्विरोध को वाणी दी है । अन्य शक्तियों

---

१- कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, जिल्द ४, पृ० १६६ ।

से राजनयिक सम्बन्ध रखने में भी दक्षिणापथ के वैसे छोटे-छोटे राज्यों के निकट, अपनी शान-शौकत और समृद्धि के प्रदर्शन से उन्हें चकित और विस्मित करने में ही वह राजनय की इतिश्री समझता था, महान् राजनेता की तलस्पर्शी दृष्टि उसके पास नहीं थी[1]। उसके मस्तिष्क में व्यवस्था थी किन्तु आविष्कार की संभावना नहीं, मौलिकता का स्थान नहीं। अपने शासन के अंतिम वर्षों में उसके सभी पटु परामर्शदाता समाप्त हो चुके थे, जहाँनारा के प्रति अतिशय मोह और उसके प्रभाव में दारा की अयोग्यताओं को स्पष्ट न समझ कर औरंगज़ेब की तीक्ष्ण बुद्धि और अद्भुत साहस से विमुख रहने के कारण वह ठीक और मज़बूत फैसले नहीं कर पाता था। इस प्रकार उसके अंतिम वर्ष आगरा के किले में कैदी के रूप में बीते। यहाँ वह संगमरमर के रजतज्योत्स्नापूर्ण भवन में बंदी रहा। भाग्य की विडम्बना! जो मख़्ल सम्राट् ने अपनी प्रियतमा स्वनामधन्या मुमताज के लिए और अपने लिए बनवाया था वहीं से आज वह असहाय बंदी के रूप में जमुना के किनारे स्थित, उस सुरम्य दुग्धधवल स्मारक ताजमहल को देखकर आह ही भर सकता था[2]।

१५-१६- शाहजहाँ के शासनकाल में प्रदर्शन और वक्तृत्व दोनों चरमसीमा पर थे। कुछ इतिहासकारों ने[3] जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों के समय मुग़ल साम्राज्य का "राष्ट्रीय रूप" बताया है। यह कुछ युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। यदि साम्राज्य के विस्तार से तात्पर्य हो तो औरंगज़ेब के शासन को "राष्ट्रीय" कहना होगा और यदि धर्म-वर्ण निरपेक्षता की दृष्टि से कहना पड़े तो भी बिना अतिशयोक्ति के इनके शासन को राष्ट्रीय कहना संभव न हो सकेगा। शाहजहाँ ने केवल दक्षिणापथ विजय के लिए ही प्रस्थान नहीं किया, १६३२ में उसने हिन्दू मंदिरों को ढहाने की भी घोषणा की, हिंदुओं

---

१- कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया, ४, पृ० २१९।

२- वही, पृ० २१५।

३- सत्यकेतु विद्यालंकार, हिन्दी सा० द्वितीय खण्ड, भा० हि० प०, प्रयाग पृ० १६।

की अपनी वेशभूषा तक ही सीमित रहने की आज्ञा दी और ऐसे सभी कार्य बंद कर देने का आदेश दिया जो इस्लाम के विश्वासों के अनुरूप नहीं हैं[1]। यह और बात है कि, हिन्दू मंदिरों को ढहाने के बाद शाहजहां ने औरंगज़ेब की भांति, उनके स्थान पर मस्जिद खड़े करने का आदेश नहीं दिया, किन्तु अंतर मात्रा का है, गुण का नहीं, अंतर बड़ा है, यह बात अवश्य है।

३७- ज्येष्ठतानुसार उत्तराधिकार का नियम पारिवारिक कलह और द्वेष-प्रतियोगिता को जन्म देता है। शाहजहां की शासनावधि में ही उसके पुत्र सम्राट् के सहायक की अपेक्षा, स्वतंत्र सम्प्रभु के रूप में आचरण करने लगे थे। उनके पास अपार सम्पत्ति और राजस्व का स्वामित्व था, गृह-शांति के बहाने उन्होंने भारी सेना संगठित कर ली थी और बाहर उनकी प्रतिष्ठा थी[2]। शाहजहां के चारों पुत्रों में भयानक प्रतिद्वंद्विता चली, उत्तराधिकार के युद्ध हुए। उत्तराधिकार के युद्ध में औरंगज़ेब ने प्रत्युत्पन्नमतित्व, शक्तियों के उचित वितरण और संतुलित समन्वय, सेनानी की तीक्ष्ण-दृष्टि, से कार्य लिया, उसका अपना युद्ध का अनुभव था, उसकी सेनाएं सामरिक कार्यों में पूर्णतः प्रशिक्षित थीं, व्यक्तियों के गुणावगुण और सामर्थ्य - असामर्थ्य का निर्णय करने की उसमें महान् क्षमता थी। उसी का परिणाम था कि अपने तीन समान प्रतिद्वंद्वियों के ऊपर उसने विजय पायी। अभागे दारा को कत्ल कर, मुरादबख्श को गिरफ्तार करवाकर और सुल्तान शुजा के पलायन कर जाने के बाद २१ जुलाई, १६५८ को, दिल्ली में, उसने आबू -"ई-मुज़फ्फर मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगज़ेब बहादुर आलमगीर के शाह ग़ाज़ी की उपाधि से विभूषित हो राज्यारोहण किया[3]।

३८- औरंगज़ेब के शासनकाल को दो भागों में विभक्त किया जाता है। आरंभिक वर्षों में शासन का केन्द्र उत्तर भारत रहा--महत्वपूर्ण सैनिक

---

१- केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, ४, पृ० २१७।
२- बर्नियर, वही, पृ० १६।
३- केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, ४, पृ० २२२।

असैनिक कार्यों का सम्बन्ध इसी क्षेत्र से रहा । शासन के द्वितीयार्ध में स्थिति परिवर्तित हो जाती है । साम्राज्य के सभी साधन--धन-जन दक्षिण में केंद्रित हैं, सम्राट्, उसका परिवार और दरबार, सेना और उसके सभी योग्य अधिकारी वहां रहते हैं, उत्तर भारत का महत्व गौण हो गया, उत्तर का प्रशासन शिथिल हो गया, संप्रभु की निगाह हट जाने से अधिकारियों में भ्रष्टाचार आ गया, सभी योग्य अधिकारी और तत्कालीन राजनीति से सम्बन्धित वर्ग का चारित्रिक अधःपतन हुआ, अंततः मनमाने आचरण की स्थिति आ गयी और अराजकता का वातावरण हो गया[1] ।

३९- औरंगजेब के शासनकाल का प्रथमार्ध शांति और सौख्यपूर्ण था । कुछ छुटपुट स्थानीय विद्रोह अवश्य हुए किन्तु उत्तरभारत की शांति में कोई बड़ा व्याघात नहीं हुआ । औरंगज़ेब इस्लाम धर्म के संरक्षक के रूप में शासनाधिष्ठित हुआ था । गद्दी पर बैठते ही उसने इस्लाम की परम्पराओं की रक्षा के लिए अनेक आदेश जारी किये । मंदिर गिरवाने का काम उसने बहुत बड़े पैमाने पर कराया । वय के साथ-साथ औरंगज़ेब के शुद्धतावादी विचारों में और कट्टरता आती गयी । साम्राज्य भर में मंदिर गिराने का काम इतने ज़ोरों से चला कि उसकी देख-रेख के लिए उसे एक दारोगा की नियुक्ति करनी पड़ी थी । विश्वनाथ, सोमनाथ और मथुरा स्थित केशवदेव के मंदिर गिरवाने के साथ साथ उसने जयपुर के मंदिरों को भी नहीं छोड़ा । अकेले आमेर में ६६ मंदिर गिरवाये गये । बाद में फिर से प्रतिष्ठित कर दिया गया । धर्म-परिवर्तन करने वालों को वृत्तियां दी गयी ।

४०- औरंगज़ेब को अपने उत्तरवर्ती शासनकाल में अनेक शक्तिशाली विरोधों का सामना करना पड़ा । बाबा नानक द्वारा संस्थापित

---

१- कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, ४, पृ० २८८ ।

२- वही, पृ० २४०-४१

सिक्ख संप्रदाय धीरे-धीरे धार्मिक संगठन से विकसित होकर एक सैनिक संगठन हो रहा था। सिक्खों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने की दृष्टि से सिक्ख पंथ को मुगल साम्राज्य का सामना करने के लिए संगठित किया। उसकी संपूर्ण चिंताधारा सिक्खों को सामरिक दृष्टि से संशक्त बनाने की थी। उसने धर्मशैनिक शिक्षा देने के साथ-साथ इस्लाम के प्रति द्वेष-भाव रखने की प्रेरणा दी।

४१- उधर मराठे अपना स्वतंत्र राज्य कायम किये थे। वे शिवाजी के नेतृत्व में, सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में मुगल सम्राट् के लिए सरदर्द बन गये थे। तत्कालीन यात्री शिवाजी के शौर्य और अदम्य साहस, बद्धुद संगठन शक्ति और अपराजेय नेतृत्व की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं। उसके विरोधी भी उसकी सराहना करते हैं। एक मुसलमान इतिहासकार के शब्दों में 'वह विद्रोह, लूटमार और उपद्रव का कार्य अनवरत करता रहा, किन्तु बीते पापों की छाया भी उसके चरित्र को नहीं छू पाती थी, स्त्रियों की मर्यादा और शिशुओं के संरक्षण के प्रति वह सदैव सजग रहा और जब भी मुसलमान स्त्रियां या बच्चे उसके हाथ में पड़े उसने उनके साथ शील और सौजन्य का बर्ताव किया'।[1] कीन इतिहास-कार वर्न उस दुविधा में है कि उसके अदम्य साहस और अपराजेय संकल्प की प्रशस्ति की जाय जिससे उसने भारत में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की विराट् कल्पना की थी या उसके लक्ष्य की एकनिष्ठा और संगठन व नेतृत्व की क्षमता की[2]। १७०५ के बाद मराठों ने स्थिति काबू में कर ली और वे न केवल दक्षिण अपितु मध्यभारत के कुछ हिस्सों पर अधिकार जमा बैठे। वेनिस का यात्री मनूची, १७०४ में लिखता है—"शायद मराठों के नेता और उनकी फौजें पूर्ण विश्वास के साथ भ्रमण करती हैं क्योंकि उन्होंने मुगल अधिकारियों को आतंकित कर लिया है। उनके पास सैनिक साज सामान, हाथी, ऊंट और

---

१- कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, ४, पृ० २७९।

२- वही, पृ० २७८।

तम्बू आदि सभी कुछ है। संक्षेपतः वे मुगल सेनाओं की भांति ही सुसज्जित है।"

४९- बुद्धिले, मेवाड़ का राना परिवार और मथुरा के जाट भी इस समय चुप नहीं थे। औरंगज़ेब के अंतिम वर्ष बहुत दुःखद और वेदनापूर्ण थे। भारत पर मज़बूत हाथों से न्यायपूर्वक शासन करने का उसका सपना टूट गया था। औरंगज़ेब एक असाधारण बहादुर सम्राट् था। साहस की उच्चता के साथ उसमें बौद्धिक अनुशासन, और प्रत्युत्पन्न मतित्व भी था। अपने जीवन के आरम्भ से ही उसने सम्राट् के लिए अपेक्षित संयम और आत्म-सम्मान की भावना पा ली थी। किन्तु अपने जीवन के अंतिम वर्षों में धीरे-धीरे वह इतना शक्तिशाली और शंकालु हो गया था कि कोई उसके सामने मुंह नहीं खोल सकता था। अंग्रेज़ इतिहासकार बर्न उसकी तुलना नेपोलियन प्रथम की विलक्षित चरमसीमा से करता है। औरंगज़ेब ने मुग़ल साम्राज्य का पतन किया या नहीं यह भले ही विवादास्पद हो, और यह बहुत कुछ सत्य भी है, किन्तु उसने उसकी रक्षा की दिशा में ठीक कदम नहीं उठाये। उसने यह कभी नहीं अनुभव किया कि बिना महान् बने के महान् साम्राज्य की कल्पना असंभव है[१]। सिक्खों का विद्रोह बहुत उग्र रूप धारण कर चुका था और मराठे दक्षिणापथ में मुग़ल साम्राज्य की जड़े हिला रहे थे। औरंगज़ेब के शासन काल के अंतिमदिनों में दक्षिणापथ की विषय के समय की परिस्थितियों को देखकर, औरंगज़ेब के सबसे समर्थ इतिहासकार का कथित्व जग पड़ता है "उसके जीवन के अंतिम वर्ष उन्हीं क्लेशकारी घटनाओं की पुनरावृत्ति है, प्रभूत धनबल की हानि के बाद सम्राट् छोटा सा पहाड़ी किला अपने कब्जे में कर पाता है, थोड़े दिनों बाद मराठे कमज़ोर मुगल सेना से किला फिर छीन लेते हैं। साल-दो साल बाद सम्राट् पुनः इस (अकिंचन) कार्य में लग जाता है। बढ़ी हुई नदियों, कीचड़ वाले रास्तों और अगम्य पर्वतीय मार्गों में चलते सैनिकों और अनुगामी शिविरवासियों को अनिर्वचनीय

---

१- केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया-४- पृ० २३६।

कठिनाइयां झेलनी पड़ीं, भारवाहक भाग जाते थे, परिवहन -पशु कार्याधिक्य और भोजनाभाव में कालकवलित हो गये, शिविर में खाद्यसामग्री का सदैव अकाल रहा ।..... औरंगज़ेब में सहानुभूति, कल्पनाशक्ति, स्वप्न की विराटता, साधनों के निर्वाचन में उदारता और हृदय के उस सौदन्य की कमी थी जो मस्तिष्क की शक्तिः दुर्बलताओं की क्षतिपूर्ति कर देती है । इन परिज्ञात सीमाओं ने मुगल साम्राज्य को अशक्त कर दिया जिससे उसकी मृत्यु के बाद यह भवन एक ही धक्के में धराशायी हो गया । आंतरिक जीवनी शक्ति क्षीण हो चुकी थी और बाह्यावरण लोगों को कितने दिन तक धोखे में रख सकता था[1]? वस्तुतः अकबर से लेकर औरंगज़ेब तक, प्रत्येक मुगल सम्राट् अपने पूर्ववर्ती के दोषों से बचने का ही अधिक प्रयत्न करता रहा, स्वयं में किन्हीं मौलिक अपसारणाओं के सन्निवेश का प्रयास किसी ने नहीं किया[2]। और उसके बाद तो मुगल साम्राज्य के अधःपतन के दिन है ही । औरंगज़ेब का उत्तराधिकारी बहादुरशाह नम्र और शांत स्वभाव का था । उसके व्यवहार में मर्यादा थी और व्यक्तित्व में अभिनंदित अतिशय उदारता । वह किसी को किसी याचनापर "ना" नहीं कह सकता था और राज नेतृत्व की उसकी कल्पना, बिना किसी को अप्रसन्न किये छोटे मोटे मामलों को सुलझा लेने, बड़े मामलों को भविष्य के लिए निर्णयाधीन कर देने तक ही सीमित थी । निर्णय शक्ति और कार्यान्वय साहस का उसमें अभाव था, फिर भी औरंगज़ेब की वसीयत को उसने मर्यादा के साथ, अपने अल्प-कालीन शासनावधि में निभाया[3]। बहादुरशाह में अधःपतन की पराकाष्ठा थी । उसमें राजनेता का साहस, निर्णय शक्ति और विराट् कल्पना तो थी ही नहीं, वह अपनी रखैल लाल कुंवर के सम्मोहन में सामान्य बुद्धि भी खो बैठा । राजकुल की सारी मर्यादा और गरिमा ताक पर रख दी गयी, साम्राज्य के बड़े-बड़े अधिकारी

---

१- सर यदुनाथ सरकार, स्टडीज़ इन औरंगज़ेब्स टाइम्स, प्रथम संस्करण, १९३३, पृ० २०,२१,३० ।

२- केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, ४, पृ० २१६ ।

३- वही, पृ० ३१४ ।

की भी प्रतिष्ठा लाल कुंवर के कृपापात्र और सम्बन्धी भंग कर देते, महल इन नीच, आत्मसम्मान की भावना, शिक्षा और परिष्कार से रहित, व्यक्तियों से घिरा रहता, समाज और प्रशासन की प्रकृति में भौंड़ापन आ गया। लाल कुंवर को वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त २०० लाख रुपये वार्षिक वृत्ति मिलती और सैनिक असैनिक अधिकारी भूखों मरते[1]। लाल कुंवर के प्रेमपाश में आबद्ध सम्राट् साम्राज्य के उत्तरदायित्व भूल बैठा, उसे यह विस्मरण हो गया कि वह कामार्त्त घृणायी ही नहीं बाबर, हुमायूं और अकबर व औरंगज़ेब की सल्तनत् का उत्तराधिकारी, भारतभूमि का एकच्छत्र सम्राट् है। दायित्व के साथ कर्त्तव्य और कर्त्तव्य के साथ त्याग का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। वासना दायित्वहीनता और कर्त्तव्यविमुखता को जन्म देती है क्योंकि उसे स्वार्थपूर्ति से पोषकतत्व मिलते हैं। त्याग और श्रम वहां कहां। लालकुंवर के आलिंगन में बहादुरशाह आबद्ध होकर राग की सुधबुध खो बैठा। अपने पुत्र की हार सुन उसकी चिर-निद्रा क्षण भर के लिए टूटी, वह दिल्ली से आगरा के लिए चला किन्तु उसकी सरकार खिसक चुकी थी वह एक बड़ी सेना भी नहीं तैयार कर सका और न वर्तमान सेना को सैन्यापूर्ति से सज्जित कर सका। शाही महल का सारा सोना ले जाया गया, किले की सुनहली पत्तें भी उखाड़ कर सिपाहियों में बांट दी गईं और क्रमशः बाबर के दिनों से संचित स्वर्ण-राशि रिक्त हो गई[2]। बहादुरशाह का उत्तराधिकारी फर्रुखसियार विचारहीन, अस्थिर चित्त और अशक्त व्यक्ति था; वह अपने बुद के वादे नहीं निभा पाता था। किसी काम को करने का निर्णय कर चुकने के बाद वह निराशा के गर्त में निमग्न हो जाता। उसमें अच्छा-बुरा कुछ भी करने की शक्ति नहीं थी। दुश्मनों के आने पर वह शाही हरम में छिपा हुआ पाया गया[3]। सात वर्ष तक साम्राज्य की राजनीतिक स्थिति विशृंखलित रही। नया सम्राट् मुहम्मदशाह

---

१- कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, ४, पृ० ३२६।

२- वही, पृ० ३२८।

३- वही, पृ० ३३९।

कमज़ोर और अनुभवहीन होते हुए भी इतना अंगभावीता नहीं था पर साम्राज्य की स्थिति इतनी पतित हो चुकी थी कि उसके उद्धार के लिए किसी अकबर की ज़रूरत थी[1]। दरबार का भ्रष्टाचार चरमसीमा को पहुंच चुका था। मुगल साम्राज्य की नींव खोखली पड़ गयी थी, उसे नेस्तनाबूत करने के लिए केवल एक धक्के की ज़रूरत थी। विनाश की काली छाया लाल किले की रोशनी को धीमा कर रही थी। अशक्त और नपुंसक राजकुमारों ने राजलक्ष्मी को भी कांतिहीन भिखारिणी बना दिया था। शक्ति और प्राधिकार सम्राटों के हाथ से जा चुके थे, साम्राज्य जर्जर हो चुका था, संप्रभु शक्ति पुनः बलि चाहती थी। ऐसे समय पर नादिरशाह का आक्रमण हुआ। भारतीय लोकस्मृति में नादिरशाह का नाम एक विचित्र विभीषिका का आह्वान करता है, वह बहादुर था या नहीं यह और बात है किन्तु अगर था तो इतना निर्बल था कि उसके लिए कोई भी बहादुर बन सकता था, चींटी के लिए एक चार साल के बच्चे का पैर भी हाथी के पैर का काम कर देगा। नादिरशाह ने दिल्ली को जी भर लूटा। कत्लेआम किया। तब भी मुगल शासकों की निद्रा नहीं टूटी, सुरा-सुंदरी का मोह नहीं गया। "विनाश के बीजों का वपन औरंगज़ेब के समय हो गया था, और समूलोन्मूलन की प्रक्रिया अब पूरी हो चुकी थी, घड़ा प्रायः भर आया था। धार्मिक कट्टरता ने मराठों और राजपूतों को शत्रु बना दिया था, सेना के शौर्यघातक आलस्य और विश्वासघात के प्रति भी नरमी बरतने से सैनिक-अनुशासन की सारी शृंखलाएं ढीली पड़ गयी थीं[2]। बाबर की चिरनिद्रित आत्मा इस अधःपतन पर एक बार कराह उठी होगी। मुगल साम्राज्य के पतन की कहानी सम्राटों के चारित्रिक अधःपतन की कहानी है, जब तक और जितने पैमाने तक मुगल सम्राट् यह समझते रहे कि विशालतोय वन पर शासन करने के लिए अपराजेय शक्ति, अदम्य साहस के साथ मुखर सहिष्णुता की भी

---

१- कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया-४- पृ० ३४१।

२- वही, पृ० ३७४।

आवश्यकता होती है, तब तक और उतनी ही मात्रा में साम्राज्य फलाफूला, अकबर ने यह बात सबसे अधिक समझी, उसका शासनकाल "मुग़ल-साम्राज्य" की स्थिरता का काल था, औरंगज़ेब ने पहला तत्व समझा, दूसरे को वह ग्रहण कर सका, इसलिए राज्य-विस्तार कर भी वह जनता की सद्भावना नहीं पा सका जो अकबर ने बहुत कुछ प्रदर्शन के आधार पर प्राप्त की ।

४३- राजनीतिक संप्रभु सत्ता की राज्य-व्यवस्थापक क्रियाओं का समवाय ही प्रशासन है । राजसत्ता इसके माध्यम से जन-सत्ता के निकट पहुंचने का प्रयास करती है । आलोच्यकाल के मुग़ल-प्रशासन पर विचार करते समय हमें यह स्मरण रखना होगा कि मुग़ल-सम्राट् और उनके अधिकांश सहायक विजातीय थे, दूसरे वे उस संस्करण और परिष्करण से भी वंचित थे जो व्यक्ति में मानवता की आदर्श लोकमंगलकारी भावनाओं का बीज वपन करती है । इसलिए वे जनतांत्रिक या जन-सम्मत किसी प्रशासन की बात तो सोच ही नहीं सकते थे, वे जनता के लिए अपना अस्तित्व समझने के लिये तो तैयार ही नहीं थे; शिक्षा और परिष्करण के अभाव के साथ विजातीयता ने उन्हें निरंकुशता और अत्याचार के लिए भी प्रेरित किया ।

४४- अंग्रेज यात्री टेरी इसे अरस्तू का निरंकुश एकतंत्र कहता है जिसमें अशिक्षा और तानाशाही के अत्याचारों का समावेश था । उसकी दृष्टि में यह अच्छे राजा और प्रजा के बीच का सम्बन्ध न होकर कठोरतम स्वामी और दास का रिश्ता था[1]। वेनिस का यात्री मनूची, जो शाहजहां के दरबार में अनेक वर्षों तक रहा, इस सरकार को अत्यन्त अत्याचारी और प्रजापीड़क व बर्बर कहता है क्योंकि विदेशी होने के कारण सभी राजा और राजकीय कर्मचारी अपनी प्रजा से ऐसा व्यवहार करते हैं मानों प्रजाजन दासों से भी गये बीते हों[2]। प्रशासन के सर्वोच्च पदों पर विजातीय व्यक्ति प्रतिष्ठित हैं ।

---

१- एडवर्ड टेरी - वायेज टु ईस्ट इंडिया, पृ० ३२५ ।

२- मनूची - स्टोरिया द मोगोर, पृ० ४६ ।

अकबर को मुग़ल सम्राटों में सबसे सहिष्णु और राष्ट्रीय व्यक्तित्व कहा गया है। हमारे आलोच्यकाल से बाहर होते हुए भी इस भ्रांति का निराकरण इसलिए आवश्यक है क्योंकि बाद में, कम से कम शाहजहां तक, अकबर की ही परम्पराओं का अनुसरण होता रहा है। अकबर के समय में प्रशासन के दो महत्वपूर्ण कार्य थे, पर्याप्त राजस्व का निर्धारण और संग्रह और सेना का भरण पोषण। प्रशासन केंद्राभिसारी था जो उसके बाद हमारे आलोच्यकाल में भी चलता रहा। भारतीय प्रशासन की आधार शिला प्रांतीय विभागों के आधार पर रखी गयी थी। सारी शक्तियाँ संप्रभु सम्राट् के पास केंद्रित थी, वहीं उनका स्रोत था। सम्राट् अकबर के दरबार में भी विजातीय तत्वों की ही अधिकता, बल्कि एकाधिपत्य था और अनेक इतिहासकार व प्रायः सभी सांप्रदायिक इतिहासकार उसकी धर्मनिरपेक्षता का अयाचित गायन करते नहीं थकते। मोरलैण्ड ने, जो अकबर-काल के प्रशासन के अधिकारिक विद्वान है, तथ्यपूर्ण गवेषणा के पश्चात् यह विश्वासपूर्वक घोषणा की है कि बंद उच्चाधिकारियों को छोड़कर जिनका मूल कहीं उल्लिखित नहीं मिला, शेष सभी उच्चाधिकारियों में से ६० प्रतिशत के लगभग अधिकारी उन परिवारों के थे जो या तो हुमायूं के साथ भारत आये थे या अकबर के राज्यारोहण के बाद यहां पहुंचे थे। शेष ४० प्रतिशत नियुक्तियां भारतीयों को प्राप्त थी जिनमें आधे से अधिक मुसलमान और आधे से कम हिन्दू थे। उसी इतिहासकार के शब्दों में अकबर की प्रायः समदृष्टियुक्त नीति के लिए प्रशंसा की जाती है जिसमें उसके हिन्दू प्रशासन को विकास के उचित अवसर प्राप्त थे और अकबर उस प्रशंसा का अधिकारी है जहाँ नीति के तत्व पर पूरा ज़ोर दिया जाय। ४० साल के बीच में ५०० संख्या के ऊपर के स्थानों में उसने इकतीस हिंदुओं की नियुक्ति की किन्तु इनमें से सबसे राजपूत थे, यानी अधिकांश नियुक्तियां अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की दृष्टि से की गयी थी और शेष चार में एक राजा बीरबल थे, दूसरे राजा टोडरमल, तीसरे उनके पुत्र और चौथे एक अन्य महाशय जिनका मूल नहीं ज्ञात हो सका, किन्तु यह पूर्वानुमानित है कि उन्हें राजा टोडर मल जाये होंगे। नियुक्ति श्रेणियों में छत्तीस हिन्दू थे जिनमें से तीस

राजपूत थे[1]।

४५- मुगल प्रशासन में सम्राट् की इच्छा ही कानून है। वह यदि किसी से प्रसन्न है तो उससे ईश्वर भी प्रसन्न है[2]। राजा की कृपा-अकृपा दोनों अन्यायी हैं। उसकी बात का कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। मनूची और बर्नियर दोनों सम्राट् के वायदों को अविश्वसनीय बताते हैं। दण्डव्यवस्था नितांत अमानुषिक है। चोरी व हत्या के लिए मृत्युदण्ड दिया जाता है किन्तु उसके लिए कोई विधि संगत आधार नहीं, निर्णायक की स्वेच्छा पर निर्भर है। दण्ड देने के लिए अनेक अमानुषिक और क्रूर विधियों का आविष्कार किया गया है[3]। न्याय केवल उन्हीं वादी-प्रतिवादियों के बीच में होता है जिनके पास घूस देने और गवाह खरीदने के लिए पैसा नहीं है। घूस प्रायः सार्वभौम रूप से प्रचलित है[4]। भूमि पर केवल सम्राट् का स्वामित्व है। सम्राट् के पास ऐसे अमीर उमरावों, मंसबदारों की एक बड़ी फौज है जो काम कुछ नहीं करते और व्यय सबसे अधिक करते हैं। सेना भी बहुत विशाल है।

४६- सम्राट् लोकमंगल से अधिक तुच्छ और महत्वहीन कार्यों में अभिरुचि लेते हैं। बर्नियर कहता है कि कुत्तों का एक जोड़ा सम्राट् का ध्यान आकर्षित कर लेगा, छोटी-छोटी नवीन आकर्षक वस्तुओं के प्रति वह जिज्ञासा प्रकट करेगा यद्यपि असंख्य प्रजाजन भूख-प्यास, शीत-गर्मी और थकान के मारे प्राण त्याग देंगे और सम्राट् का चेहरा भावशून्य रहेगा। प्रशासन के कार्यों पर हरम का अवांछित प्रभाव है। सम्राट् जहांगीर ने तो सारा राज्यकार्य बेगम नूरजहां को सौंप दिया था। सम्राट् स्वयं अपने आत्मचरित में इस तथ्य का उल्लेख करता है। जहांगीर के संस्मरणों को लिखने वाले मुहम्मद हादी के अनुसार नूरजहां सभी

---

१- मोरलैण्ड - इंडिया ऐट द डेथ आफ अकबर, पृ० ६६।

२- जहांगीर, जहांगीरनामा- पृ० ३०।

३- टेरी, वही, पृ० ३४-३५।

४- बर्नियर- वही, पृ० २३६।
मोरलैण्ड, इंडिया.... पृ० ३३।

व्यावहारिक अर्थों में साम्राज्य की अवधिष्ण संप्रभु हो गयी है और सम्राट् प्रायः यह कहा करते हैं कि मुझे अपने जीवन को चलाते रहने के लिए मदिरा और मांस की ही अपेक्षा रह गयी है[1] । बर्नियर भी इसकी साक्षी देता है । शाहजहां के शासनकाल में बहुत कुछ यह स्थिति उसकी पुत्री जहांनारा को प्राप्त है । सम्राट् का उस पर अटूट विश्वास है और उसका सम्राट्, और परिणामतः प्रशासन व दरबार पर असीम प्रभाव है[2] । इस प्रकार शासन के सत्कार्यों में नपुंसक होने और असत् कार्यों में क्रूर होने के पूरे सामसामान तैयार है । बहादुरशाह ने तो शाहजादे के मनोरंजन मात्र के लिए यात्रियों से भरी नौका लाल किले के पास यमुना में डुबवा दी थी ।

४७- चूंकि सारी भूमि पर सम्राट् का स्वामित्व है और स्वाधिकार की भावना के अभाव से कृषक वर्ग तमाम जमीन बिना जोते बोये छोड़ देता है। देश के बहुत से भाग उजाड़ पड़े है, बहुत-सी उर्वर भूमि पर भी खेती नहीं होती । बर्नियर बताता है कि प्रशासकों के अमानवीय अत्याचारवश, उनकी अनुचित अतिशय मांगों के फलस्वरूप लोगों को प्रायः खाने भर के लिए भी पर्याप्त नहीं मिलता । किसान यह सोचने के लिए विवश है कि मैं एक निरंकुश अत्याचारी के लिए क्यों श्रम करूं' जो किसी भी दिन आकर मेरा सर्वस्व छीन लेगा[3] । राजस्व संग्रह करके पैसा लोकमंगल के कार्यों में न लगकर शाही-शौकत में पानी की तरह बहाया जाता है ।अकबर के समय में जो राजस्व, आइन-ए-अकबरी के अनुसार, ३४२ करोड़ दाम था, बादशाहनामा के अनुसार शाहजहां के समय में बढ़कर ८८० करोड़ दाम हो गया है[4] । जनता पर अनेक प्रकार के

---

१- तेनपूल-मीडिएवल इण्डिया अण्डर मोहम्मडन रूल, पृ० २७८ ।
२- बर्नियर- वही, पृ० ११ ।
३- बर्नियर- वही, पृ० २२६-२७ ।
४- एडवर्ड एण्ड गैरेट- मुगल रूल इन ए इण्डिया पृ० २६२

स्थानीय और अन्य कर लगाकर शाहजहां की अपव्यय साध्य, नौकरशाही की प्रतिष्ठा कायम रखने का प्रयास किया जा रहा है। प्रशासन बहुत भ्रष्ट और विषयगामी है। औरंगजेब जैसे कठोर नियंत्रण और संयम रखने वाले सम्राट् के शासनकाल में भी, मनूची के अनुसार, उसकी सरकार चलाने वाले ऐसे लोग हैं जिन्हें झूठी गवाही देने या जाली इकरारनामा बना लेने में जरा भी झिझक नहीं है। छोटे से बड़े तक सभी यथाकथित अपनी स्वार्थसाधना में लगे हैं, यहां तक कि वे अपने संप्रभु के प्रति भी पूर्णतः निष्ठावान नहीं है। शत्रु से गुप्त पत्राचार तक करते हैं और उसे यथावांछित सहायता देते हैं[1]। अफसर निरंकुश और अत्याचारी है। जहांगीर ने आदेश निकाला था कि किसी के गृह में कोई बलात् न रहे। हमारे सैनिकों में से यदि कोई किसी नगर में जाए और किराये पर स्थान मिले तो ठीक है नहीं तो नगर के बाहर डेरा डालकर अपने लिए स्थान बना लें[2], जिसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि निषेधाज्ञा की आवश्यकता तभी पड़ी होगी जब ऐसा होता रहा होगा।

४८- प्रशासन के कर्तव्य-कर्म बहुत सीमित है। जीवन के अत्यल्प संख्यक क्षेत्रों में राज्य का प्रवेश है। शिक्षा, आदि सुव्यवस्थित नागरिक जीवन की सुविधाओं की अवतारणा, राज्य अपना कर्तव्य नहीं समझता। अकबर के जो अपनी सुधार भावना के लिए, भारतीय इतिहास में विख्यात है, राज्य काल में भी चंद सड़कों, कुछ थोड़े से पुलों, के अतिरिक्त न तो चिकित्सा की कोई संगठित व्यवस्था थी, न शिक्षा की लोकप्रचलित कोई प्रणाली[3]। कुछ ऐसा चित्र बनता है जिसमें भूखी अर्धनग्न भारतीय जनता खून पसीना एक एक कर कमायी हुई सम्पत्ति का अधिकांश निरंकुश विजातीय सम्राट् की शानशौकत के लिए उसके अत्याचारी भ्रष्ट प्रशासकों को अपनी सम्पत्ति देने के लिए विवश है। सम्राट् इस सम्पत्ति का उपयोग अपने साम्राज्य की रक्षा, अपने परिवार

---

१- मनूची, वही, पृ० २६९।

२- जहांगीर, जहांगीरनामा, पृ० १९।

३- मोरलैण्ड -इंडिया ऐट द डेथ आफ अकबर, पृ० २६।

का भरण पोषण और अकल्पनीय विलास-वैभव, के लिए तो करता ही है, जनसामान्य उससे पूर्ण न्याय की आशा भी नहीं कर सकता । लोकमंगल का चिंतन करने वाले कुशल प्रशासकों का अभाव है । प्रशासन के पास जनहित के छुट-पुट काम करने के अलावा कोई ठोस योजना नहीं, सिक्षित विधियों का निर्देशन और क्रियाविधिक नियतन नहीं है । मुगल शासन का एकमात्र ध्येय साम्राज्य विस्तार है और उनके सभी गुण-दोष इसी प्रवृत्ति से संचालित है । अदम्य साहसी बाबर, अस्थिर चित्त हुमायूं, दृढ़ चरित्र अकबर, भोगासक्त जहांगीर, उद्धत शाहजहां और वीतराग औरंगजेब[1] सभी के कार्यों के पीछे संचालक मनोवृत्ति यही है ।

आर्थिक जीवन:

४९- सम्पूर्ण समाज को आर्थिक दृष्टि से दो वर्गों में बांट कर देखा जा सकता है --उपभोक्ता और उत्पादक यानी एक वे जो "वस्तुओं का उपभोग करते हैं और दूसरे वे जो "उत्पादन" में कार्यरत हैं । उपभोक्ता वर्ग में तत्कालीन समाज के दरबार और राजघराना, व्यावसायिक व धार्मिक समुदाय, चेरिलू नौकर एवं दास आते हैं । उत्पादक वर्ग में वे लोग आयेंगे जो कृषि उद्योग या व्यापार-कार्यों में रत हैं ।

५०- तत्कालीन दरबार और राजघराने में प्रायः सभी महत्वपूर्ण तत्व विजातीय और विदेशीय है । राजा जब अपनी जाति या अपने देश से इतर लोगों पर शासन करता है तो उसकी मनोवृत्ति निरंकुशता, अपव्यय, शोषण और अत्याचार की होती है । मध्यकाल में, और उससे भी पहले अकबर के समय से, राष्ट्र की आय का अधिकांश अपव्यय साध्य निरुपयोगी कार्यों में खर्च होता है जिसका भार अंततः उत्पादक वर्ग, कृषक और कारीगरों पर पड़ता है[2] । सम्राट की अनियंत्रित इच्छाएं, राजकुल का असंयमित भोग-विलास

---

१- शर्मा - मुगल एम्पायर इन इंडिया, पृ० ८६१ ।

२- मोरलैण्ड - इंडिया ऐट द डेथ आफ अकबर पृ० ८७ ।

राष्ट्रीय सम्पत्ति का निर्बाध दुरुपयोग करते है । दास-दासियों की संख्या गणना से परे है । अकबर के महल में अंतःपुर की स्त्रियों कीसंख्या ५००० थी और उनमें से हर एक के लिए अलग अलग कक्ष, अनेक दासियों और भोगविलास के नाना प्रसाधनों की व्यवस्था थी । शाहजहाँ ऐशोआराम, उसकी प्रदर्शन की हविश की समता कर सकने वाले उदाहरण संसार के इतिहास में अधिक नहीं मिलेंगे । अकेले ताजमहल के निर्माण में २२ वर्ष लगे थे और इस अवधि में२० हजार मजदूरों ने प्रतिदिन अनवरत कार्य किया था [1]। इसके निर्माण में अनुमानतः ४१ लाख रुपये खर्च हुए । शाहजहाँ का मयूराकृति सिंहासन भी अपार धन की लागत से तैयार हुआ था । तत्कालीन विदेश-यात्री मुगल दरबार की शानो-शौकत से विस्मित और प्रभावित थे । ऐतिहासिक साक्ष्यों और तत्कालीन यात्रियों के विवरणों से यह पता चलता है कि जिस विलास-वैभव का जीवन तत्कालीन मुगल राजघराने और अमीर उमरावों में मिलता है उसके लिए अंत्य दास-दासियों की अपेक्षा रही होगी । इस प्रभूत अपव्यय के कारण, बड़ी-बड़ी आय के बावजूद भी सामंतों में शायद ही कोई धनी रहा हो। बर्नियर लिखता है कि उनमें से अधिकांश विपन्नावस्था में है, उन पर कर्ज का बोझ है, युद्धों, सम्राट् के उपहारों और अपने निजी विलास-प्रसाधनों पर वे पानी की तरह पैसा बहाते है[2]। राजाओं के महल ही नहीं उनके शिविर भी अपने आप में एक भारी नगर होते थे । टेरी उन्हें"चलता फिरता राष्ट्रकुल" कहता है ।

५१- बालोच्य काल में नौकर पेशा लोगों या धर्म-कार्य में रत मुल्ला-पुरोहितों का भविष्य अनिश्चित है । वे सम्राट् की कृपा पर पूर्णतः निर्भर है । सम्राट् की कृपा जितनी अयाचित रीति से सुलभ हो सकती है, जितनी बड़ी उन्नति की हेतु बन सकती है, उतने अकारण छिन भी सकती है और उससे कहीं अधिक, भयंकर विनाश का कारण बन सकती है । अकबर के समय से ही व्यावसायिक वर्ग में भी विवादीय तत्वों का प्राधान्य चला आ रहा था,

---

१- तवर्नियर--ट्रैवेल्स इन इंडिया, पृ० ९१ ।

२- बर्नियर-पूर्वोक्त, पृ० २१२ ।

वह इस समय भी बना रहा ।

५२- परंतु नौकर एवं दासों की संस्थिति प्रायः राजघराने और अमीर-उमरावों के घरों में है । दरबार, और हरम में दास-दासियों की संख्या प्रायः गणनातीत थी । सम्राट की यात्रा के समय भी असंख्य किंकर-दल साथ चलता था । मालोच्यकाल से पूर्व, अकबर के शाही शिविर का उल्लेख करते हुए मोरलैण्ड ने निर्देश किया है कि सैन्यरक्षकों के अतिरिक्त २००० से ३००० तक कुल थे । एक ऐसा तम्बू था जिसे खड़ा करने के लिए एक सप्ताह तक १००० व्यक्तियों को प्रतिदिन कार्य करना पड़ता था । राजघराने के लिए आवश्यक वस्तुओं का संभरण सुदूर देशों और प्रांतों से किया जाता है जिसमें अपरिमेय धन-जन का अपव्यय होता है । अस्तबल में पशुओं के उपयोग के अतिरिक्त साधारण उपयोग के हाथी के लिए चार-चार नौकर हैं[1] । औरंगज़ेब की यात्रा और उसके शिविर का वर्णन बर्नियर ने अपने संस्मरणों में किया है और इनकी संख्या से वह इतना विस्मित है कि "असंख्य" कहने के सिवाय उसे और कोई रास्ता नहीं सूझता । निम्नवर्ग की आर्थिक स्थिति बड़ी संकटपूर्ण है । निकीतिन से लेकर बारबोसा, सालबंक, बार्थिमन, सर टामस रो, एडवर्ड टेरी, मनूची, बर्नियर और तवर्नियर सभी विदेशी यात्री इसके एक स्वर से साक्षी हैं । मनूची लिखता है कि जहां तक सैनिकों, श्रमिकों व अन्य सामान्य व्यक्तियों का प्रश्न है उनके पास सिर ढंकने और कमर में बांधने के वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है[2] । मजदूरी बहुत कम मिलती है । ये सभी यात्री उनकी अर्धनग्नावस्था का अनेकधा उल्लेख करते हैं । मोरलैण्ड के अनुसार "जब आप यह कह देते हैं कि लोग प्रायः नग्न रहते हैं तो उनके वस्त्रादि का विवरण समाप्त समझिये और परंतु साधारण की नज़र से उनके पास कुछ बिस्तर और खाना पकाने के थोड़े-से बर्तनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता । १६२४ में डच व पुर्तगाली सूत्रों से प्राप्त जानकारी से द हेई ने, सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य की स्थिति को इन शब्दों में रक्खा था "इन सौदों में जनसाधारण की ·

---

१- मोरलैण्ड-इंडिया ऐट द डेथ आफ अकबर, पृ० ८९ ।

२- वही, पृ० २३९ ।

स्थिति बड़ी विपन्न है। मजदूरी कम है, कामगर नियमित रूप से दिन में एक बार ही खाना पा सकता है। मकान बहुत खराब और बिना साज-सामान के है, लोगों के पास जाड़े में बचने के लिए पर्याप्त वस्त्र नहीं है।* १७वीं सदी में भारत में जनसाधारण की आर्थिक स्थिति इतनी खराब हो गयी थी कि वह इंग्लैण्ड के राजनीतिक विवादों में चर्चा का विषय बन रही थी। मोरलैण्ड की दृष्टि में यह कोई महत्वपूर्ण गुणात्मक परिवर्तन न था बल्कि अकबर के शासन काल से, और उससे भी पूर्व से यह स्थिति चल रही थी, और वर्तमान विपन्नता उसकी स्वाभाविक परिणति थी[1]।

५३- कुल मिलाकर जनसंख्या का अधिकांश ऐसी स्थिति में था कि हम यह नहीं कह सकते कि उनके पास खाने को पर्याप्त था या पर्याप्त से कुछ कम था, किन्तु उनके पास कदाचित् वस्त्रों की पर्याप्त कमी थी और बरेलू बर्तन वगैरह भी नहीं थे। अकबर के समय और उसके बहुत समय बाद तक अकाल और उसके परिणामस्वरूप मकानों का ध्वंस, बिकती शिशुओं की दासों के रूप में विक्रय, जीवन की निराशापूर्ण खोज और अंततः भूखों मरना या मनुष्यभक्षण का विकल्प---इसकी भूमिका में आगरा के ऐश्वर्य और विजयनगर की विभूति को देखा जाना चाहिए[2]।

५४- भारत सदैव से कृषि प्रधान देश रहा है। यहां की शस्य श्यामला भूमि अपनी उर्वरता में अद्वितीय रही है। टेरी और बर्नियर दोनों इसकी प्रशंसा करते हैं। जब जब कृषि की ओर ध्यान दिया गया, पृथ्वी माता के पास उसके पुत्र निसर्ग-पुनीत नम का उपहार लेकर पहुंचे हैं उसका स्तन्य स्रवित होने लगा है। भारतभूमि हिरण्यगर्भा ही नहीं, प्रभूतान्नप्रसवा भी है। किन्तु राजनीतिक क्रांति और अकाल के दिनों में, पृथ्वी का वक्षस्थल शून्य और शुष्क दिखाई पड़ने लगा है। आलोच्यकाल की पैदावार में जौ, चना, मटर, तैल, बीज, ईख, नील और अफीम प्रमुख है। पैदावार का रूप

---

१- मोरलैण्ड - इंडिया ऐट द डेथ आफ अकबर- पृ० २५२।

२- वही, पृ० २५१।

स्थानीय है। गन्ना आधुनिक उत्तरप्रदेश के क्षेत्र में, बंगाल और बिहार में पैदा होता है। कपास की उपज सार्वभौम है[1]। मुगलकालीन किसान खेती के प्रायः उन्हीं औज़ारों का प्रयोग करता था जो आज उसके वंशज इस्तेमाल करते हैं। सिंचाई के कृत्रिम साधनों का अभाव था किन्तु देश में अनेक नदियों का जीवन-जल प्रवाहित है। समयानुसार बर्षा का जल कृषि-कर्म को जीवन देता है। अकबर के समय में पैदावार की जो स्थिति रही वही बहुत बाद, अंग्रेजी शासन काल तक भी चलती रही। मालगुजारी अपेक्षाकृत अधिक और खनिज अपेक्षाकृत कम थे[2]। किसान जो लगान और कर देता है उसके बदले उसे प्रायः कुछ नहीं मिलता। प्रशासन लोकमंगल के कार्यों में रुचि नहीं लेता। अकबर के शासन-काल में जिस अधोगति का आरम्भ हुआ था वह सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में और तेज़ी से बिगड़ी। स्वार्थी और विलासी प्रशासकों के हाथ में प्रबंध कार्य होने के कारण उत्पादक कार्यों को बहुत क्षति पहुंची। उत्पादन की दिशा में अधिक प्रयास करने के लिए प्रोत्साहन देने वाले तत्वों का अभाव था। आर्थिक व राजनीतिक विनाश का बीज-वपन हो चुका था, १७वीं-१८वीं सदियों में इस सर्वग्राही वृक्ष के पल्लवित-पुष्पित होने की देर थी। प्रतिकूल मौसम में किसान की हालत और खराब हो जाती थी। उसके पास घर में भूखों मरने का निश्चित भविष्य था बाहर सड़क और जंगल में भूखों मरने की संभावना के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रह जाता था। सामान्य कृषक की स्थिति बहुत खराब थी, वह अपनी आय का बृहत्तर अंश निष्क्रिय प्रशासकों के दमन और अत्याचार की आहुति कर देता था और बर्नियर की साक्षी के अनुसार, उसे सारी भूमि जोतने और बोने के प्रोत्साहन का ही अभाव नहीं अपितु परिस्थितियां ऐसी थीं कि वह स्वयं अपने काम की उपेक्षा करने लगता था।

५५- तत्कालीन खनिजों में नमक, अफ़ीम आदि थे। सोना, कुमायूं और पंजाब की नदियों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। लोहा देश के प्रायः

---

१- श्रीवास्तव: मुगल एम्पायर, पृ० ५५७।

२- मोरलैण्ड - इंडिया ऐट द डेथ आफ अकबर, पृ० २६७।

सभी भागों में मिलता था और खेती के औज़ार बनाने में उसका प्रयोग होता था। राजस्थान और मध्यभारत में ताँबे की खानें थीं। फ़तहपुर सीकरी और राजस्थान के अनेक भागों में लाल-पत्थर, जयपुर और जोधपुर में संगमरमर उपलब्ध था। गोलकुण्डा और छोटा नागपुर की हीरे की खानें प्रसिद्ध थीं। नमक सांभर झील व गुजरात और सिंध की कुछ नदियों के पानी से बनाया जाता है। बर्नियर देश में ताँबे, लहसुन, बायफल, दालचीनी, हाथियों आदि की कमी बताता है जो विभिन्न देशों से मंगायी जाती है।

५६- अकबर व उसके उत्तराधिकारियों के समय सबसे महत्वपूर्ण उद्योग कपास के वस्त्रों का है। आगरा, बनारस, लखनऊ, जौनपुर, पटना, बंगाल, बिहार के अनेक भाग इसके लिए प्रसिद्ध है, वैसे स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति लोग स्वयं कर लेते हैं। जहांगीर के समय में आने वाला अंग्रेज थामस एडवर्ड टेरी भारतीयों के हस्तकौशल से प्रभावित हुआ था। संदूक, ट्रंक, गलीचे आदि बनाने के कार्यों का उल्लेख करते हुए उसने भारतीयों के हाथी दांत, पत्थर, हीरे आदि के कौशल को उत्कृष्ट बताया है। भारतीय कलाकारों की अनुकरण क्षमता इतनी अधिक है कि वे किसी भी वस्तु की ऐसी अनुकृति तैयार कर देते हैं कि मूल और अनुकृति को अलग-अलग पहचानना कठिन हो जाता है। इसके आभूषण-निर्माण का कौशल इतना उत्कृष्ट है कि वह यूरोपीय स्वर्णकारों की कलाकृतियों को मात करता है[1]। शस्त्रास्त्रों में धनुष-बाण, तलवारों, कवचों आदि का निर्माण होता है। बारूद भी अच्छी बना लेते हैं[2]। मुग़ल काल में उद्योग-धन्धों का कोई संगठन नहीं है कच्चा माल कीमती है, कर का बोझ है इसलिए, और प्रशासकीय उत्पीड़न के कारण कलाकारों की स्थिति संकटपूर्ण है। कामगरों की स्थिति अकबर के समय से ही गिरने लगी थी, जहांगीर और शाहजहां के समय में दुरवस्था की मध्य स्थिति की औरंगज़ेब में उसकी चरमावस्था आ गई।

---

१- बर्नियर-- वही, पृ० २५९।

२- टेरी---पूर्वोक्त, पृ० १५०।

५७- व्यापार-कार्यों में भारतीयों के चातुर्य की तवर्नियर ने, जो स्वयं एक चतुर व्यापारी था, मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। मुग़ल साम्राज्य में विदेशी व्यापार बहुत विस्तृत नहीं था। मुग़लकालीन भारत में आने वाले मुख्य सामान चांदी, सोना, तांबा, रांगा, यूरोप, विशेषतः फ्रांस से बढ़िया ऊनी कपड़े, फारस की खाड़ी से घोड़े, अमरीका की बढ़िया तंबाकू और अबीसीनिया के दास थे[1]। जिनमें क्रयशक्ति थी ऐसे राजघराने और सामंत परिवार के लोग, सम्राट् और सामंत स्वयं केवल विचित्रताओं के प्रति आकृष्ट रहते थे। उपयोगिता पर उनकी दृष्टि प्रायः नहीं रहती थी। जहांगीर, शाहजहां और औरंगज़ेब के शासनकाल में मुग़ल साम्राज्य के वाणिज्य की मुख्य विशेषता ढब और ग़ैर व्यापारियों की व्यापारिक क्रियाएं थीं जिन्होंने भारतीय वाणिज्य की प्रवृत्तियों में सुधार किया। प्रशासनिक अतिचार इतना अधिक था कि अन्य उत्पादक कार्यों की भांति यहां भी प्रेरक तत्वों का अभाव ही नहीं बाधा की उपस्थिति भी थी। प्रसिद्ध आर्थिक इतिहासकार मोरलैण्ड ने स्थिति का चित्र इन शब्दों में खींचा है 'बुनकर स्वयं वस्त्रहीन रह कर दूसरों के लिए कपड़ा बुनते थे। भूखा किसान कस्बों और नगरों की ज़रूरतें पूरी करने के लिए खेती करता था। भारत सोने-चांदी के बदले उपयोगी वस्तुएं दे देता था, यानी रोटी के बदले पत्थर खरीदता था। स्त्री और पुरुष तमाम साल भूख से व्याकुल रह खाद्यान्न की प्रतीक्षा करते और फसल न होने, जैसा प्रायः होता था, दामों का व्यापारी ही उनका शरणदाता होता था, इसके विकल्प नरमांसभक्षण या भूख की मौत थे। इस घोर संकट से मुक्ति का एक ही उपाय था और वह था रहन सहन के स्तर को ऊंचा करने के साथ उत्पादन बढ़ाना किन्तु तत्कालीन प्रशासन की दुरवस्था में उत्पादन के लिए प्रोत्साहन के अभाव प्रशासक की दण्ड-दृष्टि थी और वर्धमान उपभोग को अधिक शोषण का एक आधार समझ लिया जाता था[2]। अवस्था बड़ी भयावह और दुरवगम्य थी। कुछ ऐसा था -

---

१- कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, ४, पृ० ३१७।

२- Moreland--From Akbar to Aurangzeb, pp. 304-5.

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी ।
जीविका विहीन लोग सीधमान सोच-बस,
कहैं एक एकन सों कहां जाई, का करी[1]?

और यह भी देखिये कि एक-एक से ही कहते हैं, अनेक के एक होकर कहने का युग अभी नहीं आया, प्रशासन की अमानवीय प्रतारणा और जागृति का अभाव उसकी संभावना नहीं रहने देता ।

रहन-सहन:

४८- भारत में खान-पान को बहुत पवित्रतापूर्वक सम्पादित किया जाने वाला कार्य समझा गया है । गीता ने आहार और विहार दोनों के युक्त(सम्यक्) होने पर ज़ोर दिया है । हमारे यहां यह माना जाता रहा है कि अन्न ही प्रण है और जैसा आहार होगा वैसे ही हमारे संस्कार होंगे। मालीक्यकाल के भोजन स्वाद की सम्पन्नता और विविधता घोषित करते हैं । कुलीन सामंतों के सार्वजनिक भोजों में व्यंजनों के प्रकार देखते ही बनते थे । भोजन बनाने की मुसलमानी विधि में शान और ऐश्वर्य था किन्तु हिन्दू पद्धति में शुचिता और सादगी थी । जनसामान्य के भोजन में चावल, मोटा अनाज, दाल, बंगाल एवं समुद्र तट पर मछली या दक्षिण पेनिनसुला में गोश्त। मालवा के अपने अनुभव और पर्यवेक्षण का उल्लेख करते हुए टेरी ने यह स्पष्ट किया है कि मामूली लोग गेहूं नहीं खाते थे किन्तु एक मोटा, सुस्वादु अन्न खाते थे जिससे उसका संकेत संभवतः ज्वार की ओर है । आगरा से लाहौर तक की मुगल साम्राज्य-कालीन कृषि की स्थिति देखकर यह बहुत संभव प्रतीत होता है कि उस क्षेत्र के किसान आजकल जितना गेहूं का प्रयोग करते हैं उतना तब नहीं करते थे । मोटे अनाज का उत्पादन अधिक था और निश्चिततः स्थानीय रूप से उसका प्रयोग होता रहा होगा, फिर यदि सामान्य लोग

---

१- तुलसी - कव०, पृ० ७९ ।

गेहूं का उपयोग आरम्भ कर देते तो राजकुल और सामंतों को गेहूं का संभरण कम हो जाताहै[1]। मक्खन या घी जैसे चिक्कण पदार्थों के उपयोग के भी प्रमाण है । लोग अपने इस सादे भोजन से इतने अधिक संतुष्ट थे कि उन्हें अपने रूखे सूखे खाद्यान्न के सामने राजभोग फीके लगते थे । (टेरी) । शराब का चलन हिन्दुओं में बहुत कम था । एडवर्ड टेरी एक प्रकार के पेय का उल्लेख करता है जिसे वह काफी कहता है । बीजों को पानी में उबाल कर उसका काला सत्व उतार लेते थे और उसी का पान करते थे । यह पाचक और स्फूर्तिदायक व रक्तशोधक बताया गया है[2]। जहांगीर अपने आत्मचरित में कहवा का उल्लेख करता है जो संभवतः इसी प्रकार का पेय था । ये काफी और कहवा आज के काफी और कहवा से भिन्न कोई पेय थे या ये ही हैं, कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । प्याजों का प्रयोग बहुत कम होता था, जो स्थिति ग्रामीण क्षेत्रों में संभवतः आज भी है ।

५९- स्त्रियों की दावत में स्त्रियों और पुरुषों के आमंत्रण में पुरुष ही जाते थे । मुगल भोज अपनी उदात्त विभूति और विविधता के लिए विख्यात है । बड़ी बड़ी प्लेटें और उसमें सुस्वादु भोज्य पदार्थ, सुन्दर मखमली खेत वस्त्रों से ढककर रख दिये जाते थे । इन वस्त्रों में विविध प्रकार की खुशबूदारी का भी काम होता था । शाही स्त्रियों में शर्बत और मीठे फलों के रस प्रिय पेय थे । सम्पन्न वर्ग की स्त्रियों के बीच हुक्का और पान भी प्रचलित थे[3]। इसके विपरीत हिन्दुओं के भोजन में सादगी और सात्विकता थी । खाने के लिए मेज़ कुर्सी आदि का प्रयोग नहीं होता था किन्तु हिन्दू चौके की स्वच्छता मनुष्य जैसे असहिष्णु पर्यवेक्षक को भी प्रभावित किये बिना नहीं रही । गाय के गोबर से लिपा हुआ आंगन दर्पण की भांति चमक उठता था । हिन्दू स्त्रियां पुरुषों के बाद भोजन करती थीं[4]।

---

१- मोरलैण्ड - इंडिया ऐट द डेथ आफ अकबर, पृ० २५३ ।

२- टेरी - वायेज, पृ० १०१ ।

३- कु० कौमुदी, शोधप्रबंध, प्रयाग विश्वविद्यालय में सुरक्षित ।

४- मनूची - वही, पृ० ४९ ।

६०- भारतीय पुरुष वेशभूषा मुगलिया चमक-दमक और राजपूती वस्त्रों के रखाव का समन्वय करके चलती थी । मुसलमानों की वेशभूषा पर चीनी-तुर्की प्रभाव थे । इल्की अचकन, कड़े चुस्त पायजामे और कमर बंद का चलन था । सिर पर तुर्की टोपी या टर्बन का भी प्रयोग होता था । उत्तरी भारत में हिन्दू धोती, दुपट्टा और दुशाला इस्तेमाल करते थे[1] । जनसामान्य में फैशन-परस्ती का अभाव है । फैशन बल्दी बल्दी बदलता भी नहीं । जूतों का प्रयोग भी प्रायः नहीं होता था[2]। आर्थिक सामाजिक स्तर का अंतर वेशभूषा में मुखर हो उठता था । यदि एक ओर मुगल शासक परिवार और सामंत कुल के वस्त्रों की चमक और रत्नविजड़ित पगड़ी और टोपी की दमदमाहट आंखों को चकाचौंध कर देती थी तो दूसरी ओर भारतीय कृषक अपनी लंगोटी में बाबर के समय से ही संतुष्ट बना जा रहा था । बाबर ने भारत आने पर उत्तर भारत के अर्धनग्न कृषक की जो दशा बताई थी वही हमारे मालोच्य युग में भी प्राप्त है । सोलहवीं सदी के अंत में फिचे बनारस के लोगों को अर्धनग्न देखता है और साल्वेक आगरा और लाहौर के बीच के लोगों की विपन्नावस्था पर चार आंसू बहाता है । वेनिस का यात्री मनूची, जो शाहजहां के दरबार में अनेक वर्ष रहा इस दुर्दशा पर प्रभाव की साक्षी देता है । इनी वस्त्रों का कोई प्रमाण नहीं मिलता[3] । हिन्दू स्त्रियां साड़ी या धोती पहनती थीं और मुसलमान बेगमें लम्बे पायजामे और घाघरे व जाकेट । अकबर के समय में पुरुष वेशभूषा और जहांगीर के समय में स्त्री-वेशभूषा के विकास की चरम स्थिति दृष्टिगत होती है । जहांगीर के समय तक आकर आभरणों का विकास सौंदर्य और रखाव की ओर मुड़ा । बुंदे, कुर्ती और अंगिया के साथ इल्के चुस्त पायजामें प्रचलित हो गये । रमणियों के मसृण भुजमूलों से इतराता हुआ दुपट्टा वक्ष को आवृत करता हुआ निकल जाता था[4]। कुर्ती बहुत बढ़िया मलमल की बनी होती थी । शाहजहां के हरम में स्त्री आभरणों की अधिकता चरमसीमा को

---

१- रघुवंशी- शोधप्रबंध, प्रयाग विश्वविद्यालय में सुरक्षित ।

२- टेरी- वायेज, पृ० २०१-२ ।

३- मोरलैण्ड - इंडिया ऐट द डेथ आफ अकबर, पृ० २५७-५८ ।

४- कुमुदी - शोध प्रबन्ध ।

पहुंच गयी थी । गहने भारतीय स्त्री के लिए सदैव विशिष्ट आकर्षण के विषय रहे है । धनधान्य सम्पन्नता के कारण उच्चवर्ग अपनी इच्छा को क्रियान्वित कर सकता था । तत्कालीन मुगल सम्राट् की स्वर्ण-राशि से सभी यात्री प्रभावित थे और तवर्नियर जैसे हीरे-मोती के व्यापारी ने उसे संसार का सर्वाधिक संपन्न सम्राट् घोषित किया है । जहांगीर के आभूषणगृह में डेढ़ मन गैर जड़े हुए हीरे, बारह मन मोती, एक मन रूबी, पांच मन मरकतमणि, एक मन हरितमणि थे । इसमें उन हीरे मोतियों को नहीं गणित किया गया जो आभरणों में नियोजित थे या आसन आदि में लगे थे । शाहजहां सर्वाधिक आभरण प्रिय सम्राट् हुआ है । उसके पास अपने निजी आभरण लगभग ५ करोड़ रुपये की लागत के थे और २ करोड़ की लागत के आभूषण उसने राजकुल के अन्य सदस्यों को उपहार स्वरूप दिये थे[1]। उसका तख्त-ए-ताऊस तो अपनी कीमियागीरी, कीमत और रत्न-सम्पदा के लिए विश्व विख्यात है । औरंगज़ेब के समय में भारत आकर यहां ठहरने वाला फ्रांसीसी यात्री बर्नियर यहां के स्वर्णकारों के कौशल को यूरोपीय स्वर्णकारों की कला से उत्कृष्ट बताता है । स्त्रियों में इस समय कर्णफूल के स्थान पर बाली का प्रचार हो रहा था । चम्पाकली और पीपलपत्ती की और मुसलमान स्त्रियों का विशेष आकर्षण था । पारसी उच्चवर्गीय स्त्रियों के बीच बहुत चला[2] और संभवतः इसीलिए तत्कालीन साहित्य में और किसी गहने से अधिक इसका उल्लेख पाता है । पुरुषों में भी आभरणों का चलन था । इसके अतिरिक्त स्त्रियों में तैल, इत्र, महावर, मेंहदी, सुरमा आदि अन्य अनेक सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रचार था ।

६१- मुगलकालीन समाज में लोगों को खूलकूद में पर्याप्त अभिरुचि थी । अंतर्गृह(इन डोर गेम्स) खेलों में शतरंज, चौपड़, ताश, बुही का उच्च मध्यवर्ग के स्त्री-पुरुषों में खूब चलन था । घर के बाहर के मनोरंजनों में पोलो, शिकार, पतंग आदि प्रचलित थे । सभी मुगल सम्राट् शिकार के शौकीन थे ।

---

१- श्रीवास्तव- मुगल एम्पायर, पृ० ५८६-८७ ।

२- कु० कौमुदी, शोध प्रबन्ध, प्रयाग विश्वविद्यालय में सुरक्षित ।

पतंग बहुत प्रिय खेल था । इसके अतिरिक्त राजदरबारों में पशुओं की लड़ाई, नृत्यसंगीत आदि का सभी रहता था । पहले के बादशाहों की भांति शाहजहां अपने जीवन के उत्तर काल में शिकार का यद्यपि उतना शौकीन नहीं रह गया था फिर भी युवावस्था में उसने शिकार के काम में अभिरुचि ली थी । औरंगजेब के शिकार खेलने की सारी बर्नियर देता है । सिंह का शिकार सम्राट् का विशेषाधिकार समझा जाता था ।

६२- आवास की दृष्टि से भी रीति युग घोर वैषम्य का काल था । यदि एक ओर महान् निर्माता शाहजहां के ताजमहल, मोती मस्जिद और लिली महल का विस्मयकारी अद्भुत वैभव है तो दूसरी ओर भारतीय किसान की ध्वंसावशिष्ट झोपड़ी । यदि एक ओर सम्राट् और सामंतों के भवन हीरे जवाहरातों की प्रभा से भास्वर हो जाते हैं तो दूसरी ओर भारत की धरती का बेटा किसान अपनी कुटिया के कोने को धूमिल दीपक से भी आलोकित नहीं कर पाता । अकबर से लेकर औरंगजेब के समय तक आने वाला कोई भी यात्री भारतीयों की आवास स्थिति पर संतोष नहीं प्रकट करता । यहां तक कि टेरी भी जो भारतीय जन के प्रति अन्य यात्रियों की अपेक्षा कहीं अधिक सहिष्णु था, भारतीय जन की आवास सम्बन्धी दरिद्रता का उल्लेख करता है । वह लिखता है कि 'जैसे भारत के सभी पत्थर हीरे नहीं है उसी प्रकार वहां के सभी मकान महल नहीं है, निर्धन वहां अपनी आवास-व्यवस्था नहीं कर सकता है'।[1] इतिहास के एक शोधार्थी[2] ने तत्कालीन आवासों को तीन वर्गों में बांटा है —

(क) कुलीन सामंतों के आवास

(ख) मध्यवर्गीय लोगों के आवास

(ग) निम्नवर्गीय लोगों की झोपड़ियां ।

६३- वस्तुतः युगल-युग में मध्यवर्ग की स्थिति न के बराबर थी । इसलिए आवासों को भी दो ही वर्गों में रखना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता

---

१- टेरी- वायेज, पृ० १७५ ।

२- रघुवंशी- शोध प्रबन्ध, प्र०वि० ।

है। प्रथम वर्ग के आवास भवनों में विस्तार, भास्वर सौन्दर्य, शालीनता और कलोत्कर्ष दर्शनीय है। इनके भीतर प्रायः सरोवर और निर्झर आदि की भी व्यवस्था की जाती थी। स्नानागार या हमाम भी प्रायः रहते थे। ये गगनचुम्बी विशाल प्रासाद और इनके ठीक विपरीत अल्प घासफूसी झोपड़िया --इनका आलोकित ज्योत्स्नाधवलित वातावरण और झूमरी और किवान का प्रकाश और वायु के आवागमन की व्यवस्था से हीन मिट्टी का घरौंदा--ये दोनों मिलकर उस समय का चित्र पूरा करते हैं[1]।

६४- [illegible] पक्षों में उद्योनों की भी व्यवस्था रहती थी। जहांगीर के समय में मुगलउद्यान-व्यवस्था पूर्णता को पहुंची थी। पर्वत श्रेणियों की पृष्ठभूमि से युक्त डल झील का निकटवर्ती शालामार उद्यान इसका ज्वलंत उदाहरण है। शाहजहां को भी उद्यानों में अभिरुचि रही। लाहौर के निकटस्थ शालामार बाग और दिल्ली के शालिमार का उद्यान विशेषोल्लेख्य है। औरंगजेब ने इसकी उपेक्षा की किन्तु उद्यान-कला की समाप्ति नहीं हुई, स्तर अवश्य गिर गया। बेगुन्निसा ने लाहौर के पास बहारबुर्ज नाम का उद्यान बनवाया था[2]।

६५- शावशामान की दृष्टि से भी सामंतवर्ग परिपूर्ण था। घटाइयां, मखमली गद्दी, चिक आदि उपलब्ध थे। खाना भी सोने-चांदी के बर्तनों में खाया जाता था। टेरी हाथ के पंखे झलवाने का भी उल्लेख करता है। संभवतः पद्माकर के प्रसिद्ध पद"गुलगुली गिलमें" में उल्लिखित सभी वस्तुएं उपलब्ध थीं। यद्यपि जनसामान्य के लिए किसी भी प्रकार के साज सामान दुर्लभ ही थे।

भाषा और साहित्यः

६६- तत्कालीन भाषा एवं साहित्य के सम्बन्ध में ऐतिहास ग्रंथों में अधिक विवरण नहीं मिलते। जो मुगल सम्राट् के अहर्निश मनोरंजन

---

१- मुहम्मद कुरैशी- लिविंगकंडीशन्स इन मोडियवल इंडिया।
२- श्रीवास्तव- मुगल एम्पायर, पृ० ४५४-८९।

और जनता की महत्वहीन अभिव्यक्तियों को नज़रंदाज़ नहीं करते थे, सम्राट् की भाषा और भारतीय जन के अनेक वर्गों की विविध वाणियों की आश्चर्यजनक उपेक्षा करते है। और पाठ्यपुस्तक-इतिहासकार भी अपने ज्ञान्य का गौरव-गर्व करने के बावजूद अपने पर्यवेक्षण में एक विडंबनात्मक परिशिष्ट जोड़ देना ही पर्याप्त समझता है क्योंकि आज भी उसका मन महल के भीतर ही रमता है। विजातीय शासन होने के कारण, प्रशासन और उच्चतर अंतर्व्यवहार की भाषा फारसी ही रही। जहांगीर से पूर्व तक भी फारसी का पर्याप्त प्रचार प्रसार हो चुका था। जहांगीर स्वयं एक विद्वान और समीक्षक दृष्टि का व्यक्ति था, उसने बाबर के अनुकरण पर तारुक-ए-जहांगीर नाम से अपनी आत्मकथा लिखी। इसके अतिरिक्त उर्दू, हिन्दी, संस्कृत का भी सम्यक् प्रचार था। साम्राज्य की भाषा का विवरण देते हुए, तत्कालीन (जहांगीर के समय) योरोपी यात्रालु एडवर्ड टेरी लिखता है "इस साम्राज्य की भाषा, मेरा तात्पर्य आम भाषा से है, राष्ट्र के नाम हिन्दुस्तान से ही जानी जाती है और फारसी व अरबी से बहुत मिलती जुलती है किन्तु हिंदुस्तान अधिक सरल और इन दोनों की अपेक्षा अधिक सोपगम्य है, उसमें पर्याप्त अर्थवत्ता है और थोड़े में बहुत कह लेने की सामर्थ्य है। ये लोग हमारी ही तरह दाहिनी ओर को लिखते है। उसके वर्ण हैं, जो फारसी या अरबी वर्णमाला से बहुत भिन्न है। यहां (भारत में) फारसी बहुत विद्वत्ता है और दरबारी भाषा के रूप में बोली जाती है। अरबी उनके यहां उच्चतरीय वाङ्मय की भाषा है[1]।

६७- फारसी साहित्य को अकबर के समय से ही प्रोत्साहन मिलता चला आ रहा था। उसका राजकीय इतिहासकार अबुलफज़ल फारसी में लिखता था। अकबर ने संस्कृत-अरबी, तुर्की और ग्रीक के अनेक ग्रंथों के अनुवाद फारसी में कराये। जहांगीर का आत्मचरित लेखक की विषय के प्रति ईमानदारी और शैली परिष्कार की दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ है। जहांगीर विद्वज्जन का आदर करता था और उन्हें संरक्षण देता था। नतीजा उसके

---

१- टेरी - वायेज़, पृ० २१७-१८।

दरबार का सबसे अच्छा कवि था । उसके दरबार के विद्वानों में गियास बेग, नाकिलखाँ, मोतमिद खाँ, नियामत उल्ला और अब्दुल हक देहलवी के नाम विशेषोल्लेखनीय हैं । कुरान पर टीकाएं लिखने का कार्य चलता रहा और काव्य-रचना भी पर्याप्त मात्रा में होती रही ।

६८- शाहजहाँ के शासनकाल में भी फारसी को महत्वपूर्ण और मुख्य स्थान प्राप्त रहा । फारस से आये हुए अब्दुल-तालिब नामक व्यक्ति ने कालिम उपनाम से अत्यन्त अलंकृत शैली में राजकीय घटनाओं को पद्यबद्ध किया । उसे राजकवि की उपाधि से अलंकृत किया गया । हाजी मुहम्मद खाँ ने भी एक इतिवृत्त लिखा जिसमें कश्मीर के बागों और शाहजहाँ द्वारा निर्मित इमारतों का यशोगान किया गया था । सम्राट् के बड़े बेटे दारा शिकोह ने पंजाब के चन्द्रभान नामक ब्राह्मण को सेवायोजित किया था जो फारसी में लिखता रहा[1]। किन्तु एक दो अपवादों को छोड़कर ये सभी कवि मध्यम कोटि के स्रष्टा थे । उनकी कृतियों में निर्जीव एकरसता है और उनमें दृष्टि की उदारता व विचन की व्यापकता का अभाव है । ये नवीन काव्य शैली के प्रति अधिक आकृष्ट और उनमें "नवनवोन्मेषशालिनी" प्रतिभा का सर्वथा अभाव है---उनका सृजन निसर्गगत अंतःप्रेरणा का अबाध प्रवाह नहीं; विवशतावन्ध्य कृति है और यह बात उसमें स्पष्टतः झलकती है[2]।

६९- डा० बनारसी प्रसाद सक्सेना लिखते हैं कि उनकी गजलें तथाकथित सूफी ढंग पर लिखी गयी हैं और उनके प्रतिपाद्य प्रायः परम्परागत साधारण विषय हैं । उनके उपमा और रूपक गुल-ओ-बुलबुल, शीरीं-ओ-फरहाद या लैला-ओ-मजनूं के परम्परागत काव्यभण्डार से लिये गये हैं । वे काव्य के महान् पद्य में पदमाओं की ही स्थिति में हैं, कल्पना की ऊंची उड़ान का उनमें प्रायः अभाव है[3]। गजल के अतिरिक्त सम्राट् की प्रशस्ति में कसीदे भी लिखे जाते रहे

---

१- कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, ४, पृ० २२० ।

२- बनारसी प्रसाद सक्सेना- शाहजहाँ आफ दिल्ली, पृ० २५० ।

३- वही, पृ० २५० ।

विशुद्ध फारसी कवियों में प्रमुख सैयद-ए-गिलानी रहे जिनमें नूतन और पुरातन का समन्वय पाया जाता है। इसके अतिरिक्त राजकवि कासिम, कुदसी, सलीम, मसीह, सूफी, फारूक, मुनीर, शहीदा, ब्राह्मण, हासिब, खिसाली आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। गद्य में भी पर्याप्त लेखन-कार्य हुआ और पद्य की भाँति वहाँ भी शैली-शिल्प का उत्कर्ष देखने को मिलता है। इतिहास, पत्राचार आदि अनेक विषयों पर लेखन कार्य हुआ। चार शब्द-कोशों का सम्पादन हुआ और सम्राट् को समर्पित किये गये[1]।

७०- हिंदी साहित्य के विकास की दृष्टि से अकबर का राजकाल स्वर्ण युग रहा। जहाँगीर और शाहजहाँ के दरबार में भी हिन्दी को प्रश्रय मिलता रहा। शाहजहाँ के आधिकारिक विद्वान डा० बनारसी-प्रसाद सक्सेना के अनुसार सम्राट् हिन्दी बोलता था, हिन्दी संगीत का शौकीन था और हिन्दी कवियों को संरक्षण देता था। ग्वालियर के एक ब्राह्मण कवि सुंदरदास को सम्राट् ने महाकविराय की उपाधि से अलंकृत किया था। कानपुर निवासी चिंतामणि को भी सम्राट् का संरक्षण प्राप्त था। इसके अतिरिक्त महाकवि केशवदास ने अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। इन राजकीय संरक्षण प्राप्त कवियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी जनसामान्य के आत्मिक जीवन के उत्कर्ष और आशा-आकांक्षाओं को वाणी देने के लिए अपनी लेखनी चला रहे थे। पन्ना के प्राणनाथ ने हिंदुत्व और इस्लाम के समन्वय के प्रयास में अनेक कविताएं लिखीं जिनकी भाषा की रचनागत आधार हिन्दी होते हुए भी उनमें फारसी और अरबी के शब्दों का उन्मुक्त रूप से व्यवहार किया गया है। अहमदाबाद के दादू ने अपने जीवन का अधिकांश राजपूताना में बिताया। वह एक अच्छा लेखक होने के साथ साथ एक पंथ का विधायक भी था। इनमें भी अधिक प्रभाव संत तुकाराम का रहा[2]। हिन्दी के अतिरिक्त

---

१- बनारसी प्रसाद सक्सेना- शाहजहाँ आफ दिल्ली, पृ० २५५।

२- केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, जिल्द ४, पृ० २२१।

अन्य नव्य भारतीय भाषाओं को भी प्रोत्साहन मिला । औरंगज़ेब के समय तक आते-आते हिन्दी साहित्य की धारा के प्रवाह में गतिरोध आ गया । सम्राट् की धार्मिक कट्टरता ने हिन्दी के साहित्यकारों का राज-घराने में प्रवेश बन्द करा दिया । अब हिन्दू राजाओं के आश्रय में कवि रहने लगे । १८वीं सदी में हिन्दी काव्य में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियां दृष्टिगत होती हैं --भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से ।

७१- उर्दू का जन्म तो दिल्ली सल्तनत काल में हो चुका था किन्तु इसे भाषा का स्थान उत्तर मुग़ल-काल में ही मिल सका । इसे पहले ज़बान-ए-हिंदवी कहा जाता था । इसकी व्याकरण रचना भारतीय है । उर्दू की वास्तविक प्रगति उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में ही हुई । संस्कृत को अकबर के समय से संरक्षण मिला । जहांगीर ने भी अपने पिता की परंपरा चलायी । अब्दुल हमीद लाहौरी ने शाहजहां के दरबार के अनेक संस्कृत कवियों का उल्लेख किया है । अन्य भारतीय तत्वों की ही भांति, संस्कृत में भी औरंगज़ेब की रुचि नहीं थी और उसके समय हिन्दू राजाओं के यहां ही संस्कृत को संरक्षण मिलता रहा ।

७२- साहित्य हृदय के राग को वाणी देता है । तत्कालीन साहित्य स्पष्टतः सामान्य जीवन-प्रवाह से बहुत कुछ दूर हो गया था । इसीलिए रीतिकाल में तुलसी और निराला की सी विराट् भारतीय चेतना के कवि का अभाव है, भूषण में जातीय अनुराग ने कवित्व की क्षति पहुंचायी है, और इसीलिए रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में जीवन के संघर्ष का स्वर न होकर एक प्राणवायुहीन अवसाद है । साहित्य, चाहे वह किसी भी भाषा में लिखा जाता रहा हो, उसमें जीवन की सचाई का अभाव है । लोकजीवन के राग-विराग उसमें ध्वनित नहीं होते, उसमें लोकजीवन का स्पंदन नहीं, एक अतिशयतापूर्ण विशिष्टजीवन का राग व्यंजित होता है; चूंकि कवि के पर्यावरण में अलंकरण की प्रधानता थी इसलिए उसका काव्य भी अलंकारप्रधान है ।

शिक्षा:

७३- शिक्षा मनुष्य की अपनी विशिष्ट उपलब्धि है। वो मनुष्य को निरंतर सुसंस्कृत बनाते हुए आत्मसाक्षात्कार और आत्म-साक्षात्कार के माध्यम से परमतत्व का साक्षात्कार कराना ही इसका उद्देश्य है। मध्यकाल में विजातीय और बहुत कुछ स्वयं अशिक्षित सम्राटों का शासन होने के कारण शिक्षा का क्षेत्र प्रायः उपेक्षित रहा। अकबर ने शिक्षा में थोड़ी-बहुत अभिरुचि लेकर उसका जो रूप निर्धारित किया था वही आगे भी चलता रहा। सरकार अकबर के समय में और उसके बाद तक भी, शिक्षा को अपना आवश्यक विषेय नहीं मानती रही[1]। न तो कोई शिक्षा विभाग ही था और न राजस्व का कोई अंश शिक्षा के लिए ही नियत किया जाता था। अपितु जहांगीर अपने आत्मचरित में जहां अन्य अहदियों का वेतन दस से पंद्रह बढ़ाने की घोषणा करता है, वहां शास्त्रिदं पेशा वालों का वेतन दस से बारह ही बढ़ाया है[2]। विद्यालय धार्मिक स्थानों से सम्बद्ध होते थे। तवर्निअर बताता है कि बनारस में विश्वनाथ के मंदिर के पास राजा का बनवाया हुआ एक विद्यालय था जहां हिन्दू राजाओं के बच्चे शिक्षा पाते थे। वे बनारसान्य की भाषा से इतर किसी भाषा के माध्यम से शिक्षा पाते देखे गये थे[3]। हिन्दू परम्परा में गुरु का महत्व सदैव से बहुत बड़ा रहा है। मुसलमानों में भी गुरु की समान प्रतिष्ठा थी।

७४- हिन्दुओं में ब्राह्मण असाधारण रूप से बुद्धिमान होते थे। वे संस्कृत के रक्षक और शिक्षक समझे जाते थे। मुसलमानों की अध्ययन शालाएं मकतब या मदरसा कहलाती थीं जहां फारसी या अरबी के माध्यम

---

१- सक्सेना--शाहजहां, पृ० २८६।
२- जहांगीर तजुक-पूर्वोक्त, पृ० २३।
३- तवर्निअर, पूर्वोक्त, पृ० १८३ +
तथा सक्सेना-शाहजहां, पृ० २४७।

से शिक्षा दी जाती थी । मकतब प्राइमरी स्कूल का स्थानापन्न था । मुसलमानी मदरसों में छात्रों को कुरान अवश्य पढ़ाया जाता था । हिन्दू पाठशालाओं में उनके वरेण्य धार्मिक ग्रन्थ रामायण महाभारत आदि से पाठ-सामग्री रखी जाती थी । अंकगणित का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण एवं उच्चस्तरीय था । रत्ना बाल (१६२३-२५) एवं फ्रायर (१६७३-८१) दोनों यात्री इस तथ्य का समर्थन करते है कि बच्चे पहाड़ा पढ़ते हुए देखे गये और आपस में मिलकर प्रश्नों के उत्तर ढूंढने के प्रयास करते थे[1]। ज्योतिषशास्त्र या खगोल विद्या का उच्चस्तरीय अध्ययन भी होता था । फ्रांसीसी यात्री बर्नियर, यद्यपि अपने जातीय गौरव के मोह में, यहां के ज्योतिषशास्त्र की गणना को अवैज्ञानिक हीन बताता है किन्तु स्वतंत्र रूप से उसकी उच्चता की स्वीकृति वह भी करता है । तवर्नियर के अनुसार हिन्दू सूर्य-चंद्र ग्रहण के भविष्य ज्ञान में एक मिनट की भूल नहीं करते और उन्होंने इस विद्या के रक्षणार्थ बनारस में एक विश्वविद्यालय खोल लिया है जहां इसका उच्चस्तरीय अध्ययन अध्यापन होता है[2]। बर्नियर भूगोल की शिक्षा को अपर्याप्त बताता है और यहां के ज्ञान को अंधविश्वासों पर आधारित मानता है । इतिहास का भी बहुत सीमित प्रशिक्षण होता था । औरंगजेब जब अपने गुरु से रुष्ट होकर वार्तालाप करता है तब शिक्षा की विपन्नावस्था पर बहुत कुछ प्रकाश डालता है, वह कहता है आपने मुझे पढ़ाया कि पूरा फिरंगिस्तान कुल मिलाकर एक छोटा सा द्वीप है, जिसका सर्वाधिक शक्तिशाली शासक पहले पुर्तगाल का था, फिर हालैण्ड का और तदनंतर इंग्लैण्ड का । फिरंगिस्तान के अन्य संप्रभुओं के बारे में आपने बताया कि वे हमारे मामूली राजाओं से बड़े न थे और हिन्दुस्तान के नरेशों के समक्ष अन्य सभी शासकों की आभा मलिन पड़ जाती थी..... और फारस आदि..... बड़े बड़े देशों के सम्राट् हिन्दुस्तान के शासकों के नाम से कांपते है । क्या ही प्रशंसनीय भूगोल का ज्ञान है क्या ही असाधारण इतिहास-वेत्ता का कार्य है[3]? इस प्रकार कुछ

---

१- हीबर - बेन्स जर्नल्स-यूरोपियन ट्रैवेलर्स इन इण्डिया, पृ० २१ ।

२- तवर्नियर- पूर्वोक्त, पृ० १४२-४३ ।

३- बर्नियर, पूर्वोक्त, १५५-५६ ।

मिलाकर तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था का जो चित्र सम्मुख आता है उससे यह स्पष्ट है कि राज्य की ओर से शैक्षणिक कार्यों में कोई विशेष अभिरुचि नहीं दिखाई जाती थी, शिक्षा राज्य के आवश्यक विषयों में नहीं थी, अधिकांश विषयों का ज्ञान बिलकुल अधूरा और अपूर्ण था, नारी-शिक्षा का भी चलन प्रायः न के बराबर था । बर्नियर इस विपन्नावस्था पर चार आंसू बहाता है ।

७५- इसके बावजूद भी यह उपेक्षणीय तथ्य नहीं है कि जनसामान्य में शिक्षा का प्रचार प्रसार भले न रहा हो किन्तु विद्वानों का अभाव नहीं था। सरकारी स्कूल नहीं थे किन्तु गैर-सरकार शिक्षणशालाओं की संख्या पर्याप्त थी[1]। शिक्षा का व्यावहारिक और सांस्कृतिक मूल्य आंका जाता था । परीक्षाएं नहीं होती थीं किन्तु शास्त्रार्थ आदि के माध्यम से अपनी ख्याति प्रतिष्ठित करना ही प्रमाणपत्र समझा जाता था । काव्य साहित्य और उसके शास्त्रीय पक्ष का ज्ञान रीतिकालीन कवियों की कृतियों से प्रत्यक्षीकृत है । आधुनिक सौकर्यमंडित राज्यों में शिक्षा के प्रचार-प्रसारार्थ जो कुछ किया जाता है, विजातीय बर्बर शासक में उसकी अपेक्षा करने का हमारे पास कोई औचित्यपूर्ण आधार नहीं है ।

## कला

### स्थापत्यः

७६- स्थापत्य कला के क्षेत्र में अकबर ने जिस शैली-शिल्प का विकास किया उसमें भारत की जातीय और मुस्लिम शैलियों का समन्वय पाया जाता है । इतिहासकारों ने इसे भारत की स्थापत्य कला का "राष्ट्रीय रूप" कहा है । अकबर के निर्माणों में वास्तुकला का बाह्याकार मुसलमानी है किन्तु उसकी आत्मा जातीय है । उसके रग-रग में जातीय-रक्त प्रवाहित हो रहा है ।

---

१- मैकाले - रघुवंशी के शोध प्रबन्ध से ।

अकबर की वास्तुकला का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन फतहपुर सीकरी के निर्माण में मिलता है। पंचमहला बौद्ध शैली के अनुसार बना हुआ है तो जोध बाई के महल में राजपूत कला का पूर्ण निदर्शन किया गया है। सुनहरे मकान का अलंकरण और सजावट अद्वितीय है। इसी समूह के सलीम चिश्ती का मकबरा सम्राट् की श्रद्धाभक्ति तथा कृतज्ञता का द्योतक है और बुलन्ददरवाज़ा उसकी राजनीतिक सफलता का बीता जागता स्मारक है। स्पष्ट है कि सीकरी के निर्माण में यदि सम्राट् की कल्पना ने योग दिया तो उसकी रूपरेखा को पत्थर के माध्यम से ढालने का श्रेय हिन्दू मुस्लिम कारीगरों के सामूहिक श्रम को है। ..... जहाँगीरी महल की बनावट तथा उसका वातावरण ठेठ हिन्दू है[1]। अकबर के अपेक्षाकृत उदार व्यक्तित्व और तत्कालीन परिस्थितियों ने मिलकर बुलन्ददरवाज़ा जैसी विराट् कल्पना को प्रस्तर के माध्यम से साकार बनाया। एक लेखक के शब्दों में --इसे भावना का "विस्मयकारी अंतःप्रेरणोद्भूत उद्घाटन" कहा गया है, जिसका विजयद्वार शताधिक यशः सूर्यों से भी अधिक शक्तिशाली है। यह भारत के क्षितिज में सगर्व उत्थित है मानों अकबर की विजय का अपराजेय जयद्वार हो[2]।

७७- यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि अकबर जैसे महान् व्यक्तित्व की कल्पना का ऐसा भव्य स्मारक न कभी बना है और, कदाचित्, न कभी बन सकेगा।

---

१- बनारसीप्रसाद सक्सेना, हिन्दी साहित्य(भा०हि०प०) द्वितीय खण्ड लेख।

२- "A marvellous revelation, an inspired translation of of the feeling that takes hold of you before that formidable arch, whence seems to issue as it were a short of victory, continuous, louder than the trumpets of a hundred fames, from the top of the pedestal that lifts it proudly on the horizon of Hindostan. And the greaty ery of pride rings out over the rich plains, the peaceful towns, the unsubdued jungles, to die away absorbed in the astonished murmer of the southern shores."

(डी० डूमिवर्स-पृ० २०६-७)।

७८- वास्तुकला पर यह हिन्दू-प्रभाव सम्पूर्ण मुगल शासनविधि में धीरे धीरे बढ़ता ही रहा और इसकी अभिव्यक्ति अनायत, स्कन्धों, प्राचीर, अलंकार अभिचार व मुगल भवनों के अन्य आलंकारिक वैशिष्ट्यों के माध्यम से होती रही । हिन्दू-प्रभाव का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन मुगल सम्राटों के मकबरों में मिलता है । डी० ब्रूमिर्ख के शब्दों में "मुगल साम्राज्य का प्रथम पुरुष यदि समरकंद में समाधिस्थ है, बाबर ने अपना शव स्वदेश, आगरा से काबुल, वापस ले जाने की आकांक्षा प्रकट की थी तो हुमायूं दिल्ली में, अकबर सिकंदरा में और शाहजहां आगरा में शयित है[1]।" इस हिन्दू-प्रभाव की प्रक्रिया क्रमशः तीव्रतर होती गयी और शाहजहां के निर्माण में इसकी चरम परिणति चक्षु-गोचर होती है । उसने आगरा, लाहौर, दिल्ली, काबुल, कश्मीर, अजमेर, कांधार, अहमदाबाद आदि अनेक स्थानों पर महल मस्जिद और मकबरे बनवाये । शाहजहां की सभी निर्मितियों की शैली पारसीक है किन्तु श्वेत संगमरमर और प्रभूत अलंकार की नियोजना के कारण यह पारसीक आदर्शों से बहुत दूर जा पड़ी है । उसके निर्माणों का एक प्रमुख वैशिष्ट्य बारीक नक्काशी का काम है जो उसकी सुन्दरतम कल्पना-कृतियों को अलंकृत करती है और रूपेण-भव्यता का प्रशस्त परिकल्पना के साथ समुचित संयोग प्रस्तुत करती है[2]। शाहजहां ने आगरा और दिल्ली में महलों का निर्माण कराया । आधिकारिक वास्तुकला विशेषज्ञ फर्गुसन के अनुसार आगरा स्थित महल में अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत रुचि का निदर्शन है जबकि दिल्ली के किले को यदि समग्रता में देखा जाए तो उसमें शाहजहां के व्यक्तित्व की उतनी ही स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलेगी जैसी फतहपुर सीकरी में सम्राट् अकबर के व्यक्तित्व की देखने में आती है । दोनों भव्य है, विशेषतः दिल्ली का भवन भव्यतर है, जिसमें चांदी की पत्तों वाला दीवान-ए-आम तवर्निअर के अनुमान से २६० लाख फ्रेंच मुद्रा की लागत का रहा होगा[3]। मोती मस्जिद के रूप में हमें शाहजहां

---

१- ए०व गै० वही, पृ० ३१० ।

२- वही, पृ० ३११ ।

की सौन्दर्य प्रियता का एक और अनोखा उदाहरण उपलब्ध है। एक लेखक के शब्दों में---उन क्षुद्र तोरणों की रहस्यमयी प्रभावान्विति, उन श्वेत-नीलम, दूधावारों की बाधा में एक अलौकिक प्रखरता और गोथिक सम्भाकार भवनों की उड़ान से कहीं अधिक दिव्यता है।.....आरम्भिक प्रभाव प्रायः प्रशांति और प्रसाद का होता है। निर्माण की उत्कट प्रभावानुभूति तो बाद में ही होती है जो आत्माशील साधक की भावना का रेचन कर सके। भुवन भास्कर की प्रखर किरणें श्वेत संगमरमर में एक प्रकम्प उत्पन्न करती हैं। तदनंतर, एक बार पुनः शांति का वातावरण व्याप्त हो जाता है, देवालयतन मूर्त हो जाता है, एक विस्मयाभिभूत अलौकिक आत्मा प्रहर्ष और परमाह्लाद के सागर में डूबने उतराने लगती है[1]।

८८- किन्तु शाहजहाँ की अमर कृति है ताजमहल---एक अनोखे दम्पत्ति प्रेम का अद्भुत स्मारक---जिसके निर्माण में तत्कालीन सात सौ सत्तानवे कुशल कार्य का आरम्भ और समापन देखा गया के अनुसार ---२२ साल लगे, जिस अवधि में २२ हज़ार कर्मिक अनवरत कार्य करते रहे। उसमें अनुमानतः चार सौ ग्यारह लाख रुपये व्यय हुए। ताजमहल कुछ ऐसी वस्तु है जिसकी प्रशस्ति में इतिहासकार, स्थापत्य कला विशेषज्ञ बनने लगता है, स्थापत्य कला-

---

१- "There is something more intense in the mystic impression of those denticulated arches, those while and bluey perspectives than in the flight of the Gothic perpendiculars. × × ×
The first impression is rather one of peace and severity. It is only latter that one begins to feel the ardour which purified meditation of the believer would there be capable of attaining. Then a vibration as of metal at white heat sends its waves coursing over those marbles. Next all is peace oncee more, the sanctuary is alive, a mysterious soul throbbs there between bliss and ecstasy.
--D'Humiers--Ibid, pp.255-56.

विशेषज्ञ कवि बन जाता है और कवि का प्रणीत-काव्य तत्व मुखर हो जाता है । वह एक नहीं अनेक भवनों का समन्वित निर्माण है जिसे चारों ओर से विशालाकार दीवारें घेरे है, जिसके दोनों पार्श्वों पर दो मस्जिद हैं । बीच में संगमरमर का हैम्य व्यवस्थित उद्यान के बीच कमलवत् है । उसको ऋतुर्चा बाधुत करने वाले निर्झर है ।

७९- एक दीर्घ वेदिका के अंत में एक विस्तीर्ण जल-कुण्या है जिसका प्रशांत रजतवर्णी पय शुचिता का उत्स-सा प्रतीत होता है, उत्थित मंच के कोनों में प्रहरी की भाँति चार ऊंची मीनारें है । दो समीपस्थ मेहराबों के बीच का विराम और अन्य स्थापत्य निर्माणों में पियत्रा-दुरा के काम का नियोजन है, जिनमें गोमेदक कार्नेलियन, सूर्यकांतिमणि, और नीलमणियों का प्रयोग किया गया है । इनमें भाल्याकार, बेलबूटों की दीर्घपट्टिका, और समकोण नक्काशी का समन्वय है, वे रचना और वर्णविभ्र दोनों की दृष्टि से उत्कृष्ट है, धवल संगमरमर पर स्थित होने के कारण इन्हें वर्ण-वैभ्र के भार से मुक्त करती है । कुल मिलाकर वे स्थापत्य निर्माण में अलंकरण के अन्यतम उत्कृष्ट उदाहरण है[1] । अवतीर्ण होकर हम शाही

---

1- "At the end of a long terrace, its tracious outline, partly mirrored in the still water of wide canal, a fairy vision of silver white--like the spring of purity-seems frost lightly, so tenderly on the earth, as if in a moment it would soar into the sky, at the corners of the raised platforms, stand, sentinel like, four lofty minorest. The spandrels and other architechual details are picked out in a pietra duera work, the stores employed being agate, carvelian, jasper and turquoise. They are combined in wreaths, scrolls, and frets, as exquisite in design as beautiful in colour and relieved by the pure white marble in which they are laid, they form the most beautiful precious style or ornament ever adopted in architecture."

-Fergusson- History of Indian & Eastern Architecture, p.598.

दम्पति के शयनागार में पहुंचते हैं वहां दो अभूतपूर्व प्रेमी समाधिगत हैं। केन्द्रस्थ कथा की अर्धनिमीलित विधा अनिर्वचनीय है।

८०- ताज का निर्माण कौशल इतना अद्वितीय और दूषण-रहित है, उसकी शुचि धवलताभा इतनी प्रभावशालिनी है और शुभ्र धवल संगमरमर की ज्योत्स्नामयी प्रभा इतनी मोहक है और इन सबसे ऊपर दम्पति प्रेम की अखण्ड महनीयता का अदीप्त स्मारक होने के कारण वह "न भूतो न भविष्यत्" वाली श्रेणी का निर्माण हो गया है। वह फर्ग्युसन के माध्यम से कविहृदय का निसर्गतः निःसृत प्रगीत है जिसका छंद ही इतना रसस्निग्ध है कि प्रेक्षक आभ्यंतर में प्रवेश करने से पूर्व ही विस्मय-रस-सिक्त हो जाता है। भारतीय वास्तुकला के विशेषज्ञ फर्ग्युसन महोदय के अनुसार— ताज अपने आप में तो सुन्दर है ही किन्तु यदि उसे अकेला खड़ा कर दिया जाता तो उसका आधा सौन्दर्य तिरोहित हो जाता है। वस्तुतः वह एक नहीं अनेक रमणीयताओं का मनो-मुग्धकारी समन्वय है जिसमें निर्माण का प्रत्येक अंग ही दूसरे से मिलकर पूर्णत्व प्राप्त करता है[1]।

८१- तत्कालीन फ्रांसीसी यात्री बर्नियर इससे इतना अभिभूत हुआ था कि मिस्र के पिरामिड उसे "पत्थरों के ढेर" मात्र दिखने लगे थे। यह सच है कि दुनियां में उससे बड़ी इमारतें हैं, ऐसे भी निर्माण हैं जिसमें शिल्प और अलंकरण की विशदता कहीं अधिक विद्यमान है किन्तु भव्यता और साज्ञी के छंद और सौष्ठव का इतना मनोज्ञ अंगांगयोग कहीं नहीं मिलता। यह नेत्रों को शांति प्रदान करता है, हृदय को तरंगायित करता है। इसकी अवधारणा यहां से अवश्य हुई है किन्तु इसमें मार्बल की स्निग्धता भी है[2]। ताजमहल इतना अद्भुत् और विस्मयकारी निर्माण है कि उसके निर्माण की कटुता और देश के जनसामान्य की अकथनीय विपन्नता का सारा इतिहास क्षण भर के लिए मानस पटल से तिरोहित हो जाता है, प्रेक्षक का अंतर्मन, बेबुन्निसा के अदम्य

---

१- फर्ग्युसन - हिस्ट्री आफ इंडियन आर्कि, १८७६ का संस्करण।
२- बनारसी प्रसाद सक्सेना-शाहजहां, पृ० २६५।

पारिवारिक जीवन एवं पारलौकिक दुरयों में उसका मन अधिक रमता रहा[1]। वस्तुतः अन्य कलाओं के समानांतर यहाँ भी मुगल कलाकार की जनसामान्य के सामान्य-जीवन के प्रति कोई अभिरुचि नहीं थी, उसे वैभव के आकर्षण से अवकाश नहीं मिलता।

८४- भारतीय चित्रकला की भी राष्ट्रीय शैली के विकास का श्रेय इतिहासकार सम्राट् अकबर की सहिष्णुता और सहानुभूतिपूर्ण नीति को देता है। उसके संरक्षण के आकर्षण में अनेक कुशलतम चित्रकार आते और अपना कार्य-सम्पादन करते थे। उसके प्रमुख चित्रकारों में सत्रह में से तेरह हिन्दू थे। अकबर के राजत्वकाल का उत्तरार्ध चित्रकला की दृष्टि से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है जब कलाकार ने उन्मुक्त होकर लोकजीवन के भी विविध पार्श्वों का संस्पर्श करते हुए अपनी तूलिका चलायी।

८५- अपने पिता की भाँति जहाँगीर की भी चित्रकला में प्रारम्भ से ही अभिरुचि रही और आगे चलकर तो सम्राट् चित्रकला का इतना कुशल पारखी हो गया कि वह स्वयं अपने आत्म चरित में लिखता है—"हमारे लिए चित्रकला की ओर रुचि और चित्रों के गुण-दोष -विवेचन की शक्ति इतनी बढ़ गई है कि जब कोई कलाकृति- चाहे मृत चित्रकारों की हो या वर्तमान की हो, हमारे सामने बिना कलाकार का नाम बताए उपस्थित की जाती तो हम तुरन्त बता देते कि यह अमुक की कृति है। और यदि एक ही चित्र में कई शक्लें होतीं और प्रत्येक भिन्न कलाकार की होती तो भी हम प्रत्येक का पता लगा लेते कि कौन किस की है। यदि एक ही मुख पर किसी अन्य व्यक्ति का नेत्र तथा भौं बनाया होता तब भी हम कह देते कि किसने मुख बनाया है और किसने नेत्र तथा भौं[2]। जब सम्राट् की अभिरुचि की यह स्थिति हो तो सम्बन्धित कला का चरम विकास स्वाभाविक ही है। फलस्वरूप मुगल-शिल्प जहाँगीर के राजत्वकाल में अपने पूर्ण यौवन पर आरूढ़—

---

१-ए० व गै०, वही, पृ० ३१३-१४।

२- जहाँगीरनामा, पृ० ४२९-३०।

था । अकबर ने जिस भवन की आधारशिला रखी उसे उसके पुत्र, राजपूत माँ के कोख से जाये बेटे ने अपने ज्ञान और कलात्मक सहजबुद्धि से पूर्ण किया । उसकी निर्णयक्षमता और कलात्मक परख का अनूठा प्रभाव पड़ा है । जहाँगीर मध्य और बहुत कुछ आलस था, उसमें राजनेता की विराट् कल्पना और सूझबूझ का अभाव था किन्तु उसमें कलाकार की मनोदृष्टि थी और पर्सी ब्राउन जैसा आधिकारिक चित्रकला समालोचक उसे "युग की कला की आत्मा" कहकर सम्बोधित करता है । इसप्रकार विदेशी दरबार की आश्रित कला के रूप में जिसका प्रारंभ हुआ और जिसे संरक्षण भी विदेशीय सम्राटों का ही मिलता रहा, वह क्रमशः भारतीय परम्पराओं के निकट आती गयी और अंततः उसके सभी विदेशी तत्व राष्ट्रीय-परम्परा में अंतर्भुक्त हो गये । पर्सी ब्राउन के अनुसार अकबर ने मुगल चित्रकला की आधार शिला रखी किन्तु उसे उसके बेटे जहाँगीर ने अपनी कलात्मक सहज-बुद्धि के मार्गदर्शन में विकास के चरमोत्कर्ष तक पहुँचाया । मुगल चित्रकला में जहाँगीर का वही स्थान है जो वास्तुकला के क्षेत्र में शाहजहाँ का है । शाहजहाँ ने चित्रकला की परम्परा तोड़ी नहीं किन्तु उसका झुकाव वास्तुकला और आभूषणों की ओर अधिक था इसलिए अन्य कलाओं की भाँति चित्रकला में भी स्वर्णिम वर्णों का विपुल वैभव और अतिविशदीकरण व समृद्ध पार्श्व रेखाओं की प्रवृत्ति मिलने लगती है । शाहजहाँ में इस कला की उतनी परख न थी और उसके काल में ही चित्रकला में ह्रास के लक्षण स्पष्ट होने लगते है । इस काल की कलाकृतियों का वैशिष्ट्य जहाँगीर के युग की मौलिकता नहीं, अलंकार और वर्णवैभव है । शाहजहाँ ने कलाकारों की संख्या भी घटा दी । इसके काल के अधिकांश चित्र कागज पर बने है और शिल्प की एकरसता-सी दिखायी पड़ती है[१]। और इस विपुल प्रदर्शन की पृष्ठ-

---

१-" The surface is treated with a pigment and afterwards burnished. The outline is then drawn and the body colours laid on in successive layers. The brush employed was of 'Squirrel hair, and a one-haired brush was used for the finest work."
Rawlinson-India--a short cultural Hist.,p.368.

भूमि में कला की अतिपरिष्कृतता झलक मार जाती है जो पश्चिम ढाढन के शब्दों में पतन और ह्रास का निश्चित लक्षण है। मुगल चित्रकला सम्राट एवं राजदरबार के विलास वैभव का इतिवृत्त है, यह कला आभिजात्य है और सामान्यजन के जीवन की झलक तो यदा -कदा ही उसमें मिलती है[1] ।वस्तुतः तत्कालीन कलाकार के सृजन में ऐहिकता ही नहीं विशुद्ध ऐंद्रिकता प्रधान हो रही थी और यह प्रवृत्ति केवल चित्रकला में ही नहीं अपितु सर्वत्र परिलक्षित हो रही थी । कलाकार सामान्य जीवन से असंपृक्त रहकर सृष्टि करता था जिसके परिणाम स्वरूप उसकी कृति में निष्प्राण ऐन्द्रिकता का प्रभाव प्रखर होता जा रहा था । बनारस के कीताराम संग्रहालय में स्थित चित्रों का विवरण देते हुए कुमारी कौमुदी ने कहा है-"कुछ प्रेम दृश्य और हरम के चित्र तो इतने शृंगार-मुखर हैं कि वे स्थूल इंद्रियानुभूति का तटस्पर्श कर लेते हैं। प्रेमी गुलगुले गद्दों पर लेटे हुए एक दूसरे के आलिंगनपाश में आबद्ध है, नवयुवती रमणी, अपनी समस्त रूपराशि, अपने प्रिय के लिए अर्पित कर रही है, उसके प्रियतम के हाथ उसके प्रमुख कामोत्तेजक अंगों पर अबाध रूप से विचर रहे हैं, या फिर कोई शहजादा मखमल पर लड़खड़ाते पगों से, सुंदरी परिचारिकाओं द्वारा हरम के भीतर ले जाया जा रहा है,संगीत-सरिता का मधुर निःस्वन अबीर मधुपेय के चषकों के लड़खड़ाने का स्वर वातावरण को और भी विलास से भर रहा है, कामोत्सव अपने पूर्ण यौवन

---

१- "It is a record of luxurious living and glowing pageantry of the King and his court, a glittering exhibition of the frivolities and furbelows of nobles and amirs. His is an aristocratic art, it is only occasionally that he gives us a glimpse of the life of thecommon people."

Km.Kaumud's Thesis.

पर हैं। मुगल चित्रकला में नारी प्रतिमाओं में मद निःसृत हो रहा है, उनके मुख-मण्डल पर विलास और ऐंद्रिकता की विभा व्याप्त है, पुरुष में रसलिप्सा और ऐंद्रिय व्यास मानो फूट पड़ रही है। दोनों जीवन का सम्पूर्ण सुख लूट लेने के लिए जैसे विह्वल हो रहे हैं। और ऐसे चित्र केशव, पद्माकर और बिहारी की काव्यकृतियों में ढूंढ लेना दुष्कर नहीं होगा।[1] औरंगज़ेब की धर्मनिष्ठा ने मुगल चित्रकला पर और अधिक प्रहार किये। साम्राज्य के संरक्षण के अभाव में चित्रकला ह्रास की पूर्णता को पहुंच गई। उसने बीजापुर और गोलकुण्डा के महलों की चित्रकारी ध्वस्त करा दी और सिकंदरा में अकबर के मकबरे के चित्र धुलवा दिये। मुगल साम्राज्य के पतन के साथ साथ चित्रकला की भी ह्रास-क्रिया हो गई। येन-केन-प्रकारेण परम्परा तब भी चलती रही। किन्तु मुगल चित्रकला अपने गत उत्कर्ष को फिर से न पा सकी गुण और मात्रा दोनों में ही वह अयोगामी रही।

संगीत एवं नृत्यः

८६- लोकजीवन का क्षीम उल्लास संगीत एवं नृत्य के माध्यम से कदाचित् सर्वाधिक अबाधित और नैसर्गिक अभिव्यक्ति पाता है। गायक के स्वर के

---

१-"Some of the love scenes and harem scenes of the Mughal artists are of extreme frankness, where lovers are lying on luxurious dwans and cosy cushions, locked in each other's embrace, the young woman lying in a carefree condition, while the lovers amorous hands freely stray over her feminine charms, or where a prince is retiring from ladies apartment in a state of intoxication, tenderly supported by a band of female attendants or again where a prince is revelling in his harem stocked with bright-eyed maidens, song and music flowing carelessly, while the sparkling wine in China cups and crystal goblets add further impetus to his unchaste passions."

कुं कौमुदी के शोध प्रबन्ध से।

विषाद और उल्लास में, आरोह-अवरोह में और नर्तक या नर्तकी के शरीर के छंद में जीवन की बहुविध सरलता को संप्रेषणीय बना देने की अद्भुत शक्ति है। ये कलाएं लोकजीवन के इतना निकट पहुंच जाती हैं कि लोकप्रियता के कारण ही कभी-कभी इन्हें मनोरंजन की श्रेणी में उतार लाया जाता है।

८७- संगीत का राष्ट्रीय रूप भी अकबर के राजत्वकाल से आरम्भ माना जाता है। उसके दरबार में हिन्दू-मुस्लिम स्वर-साधना का संगम हुआ। अबुलफ़ज़ल इनमें से तानसेन और बाजबहादुर के नामों का आइन-ए-अकबरी में उल्लेख करता है + और तानसेन की संगीत-उत्कर्षता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि आज उसका नाम लोकजीवन में "महान संगीतकार" का पर्याय हो गया है। जहांगीर को भी, अपने पिता की भांति संगीत और नृत्य में अभिरुचि रही। शताधिक संगीतकार और नर्तकियां नित्यप्रति राज-महल में सम्राट् और उसकी पत्नियों के मनोरंजनार्थ उपस्थित रहती थीं और अनेक इस रूप से प्रस्तुत रहती थीं कि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें बुलाया जा सके[1]। फ्रांसीसी यात्री तवर्नियर शाहजहां के शासनकाल में भारत आया था। उसने राजमहल के संगीत को मधुर और श्रुति सुखद बताते हुए कहा है कि यह संगीत इतनी धीमी धुन पर चलता है कि राजकार्य जैसे गम्भीर विषय में लगे हुए सम्राट् एवं सभासदों के अवधान और एकाग्र चित्तता में लेशमात्र बाधा नहीं उपस्थित करता[2]। कभी - कभी सम्राट् स्वयं उसमें भाग लेता और यदि राजकीय इतिवृत्तकार पर विश्वास किया जाय तो सम्राट् स्वयं एक वाद्ययंत्र निपुण और मीठी आवाज़ वाला व्यक्ति था। तत्कालीन चित्रों में ढोल, मजीरा, डफ और कभी-कभी वीणा लिए हुए लोगों को दिखाया गया है। ध्रुपद व होरी गाने का प्रचलन था। पुरुष भी मजीरा बजाते थे और स्त्रियां ढोल बजाती थीं। औरंगज़ेब ने संगीत पर प्रतिबंध लगा दिया था किन्तु मनूची की साक्ष्य के अनुसार नर्तकियों का राजमहल में प्रवेश तब भी चलता रहा

---

१- विन्सेण्ट स्मिथ-अर्ली हिस्ट्री, पृ० १८३।

२- तवर्नियर- ट्रैवेल्स इन इंडिया, जिल्द १, पृ० ८१०।

और यदाकदा सम्राट् स्वयं व महिषी और सम्राट् की उपपत्नियां उसमें अभिरुचि लेती रहीं और सम्राट् नर्तकियों को सम्मानित करता रहा । इस प्रकार गति मंद हुई, और वह भी केवल राजमहल में अन्यथा लोकजीवन में संगीत और नृत्य की परम्परा अबाधित रूप से चलती रही । अन्य कलाओं की भांति उत्तरवर्ती संगीत और नृत्य भी अपेक्षाकृत अधिक ऐहिकतापरक, ऐंद्रिक और शृंगारिक - प्रधान होने लगे । ध्रुपद जैसे सशक्त रागों के स्थान पर ख्याल, ठुमरी, टप्पा और दादरा जैसे स्त्रैण रागों की प्रतिष्ठा होने लगी । वाजिदअली शाह द्वारा प्रवर्तित ठुमरी का उल्लेख करते हुए बाबू श्यामसुन्दरदास का कथन है--"अवध के अधीश्वर वाजिदअली शाह ने ठुमरी नामक गानशैली की परिपाटी चलाई । यह संगीत प्रणाली का अन्तिम स्त्रैण शृंगारिक रूप है । इस समय अकबर के समय के ध्रुपद की गंभीर परिपाटी, मुहम्मदशाह द्वारा अनुमोदित ख्याल की चपल शैली तथा उन्हीं के समय में प्रचलित टप्पे की रसमय और कोमल गायकी और वाजिद अली शाह के समय की रंगीली रसीली ठुमरी अपने-अपने आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति की ही परिचायक नहीं, लोक की प्रौढ़ रुचि का किस क्रम से पतन हुआ उसका भी इतिहास है[1]। फिर भी नृत्य और संगीत की लोकप्रियता घटी नहीं । मध्यभारत में कई वर्ष तक निवास करने के बाद श्री मल्कोम ने भारतीय कृषक और उनकी स्त्रियों में सार्वभौम रूप से संगीत एवं नृत्य के प्रचलित होने की साक्षी दी है । इस संगीत और नृत्य की विविध विधाओं के माध्यम से भारत का लोकजीवन अपना हर्ष-विषाद, उत्साह और अवसाद व्यक्त करने के साथ अपनी धार्मिक परम्परा को भी अक्षुण्ण रख सका है क्योंकि इनके विषय प्रायः धार्मिक या पौराणिक होते रहे हैं । ताल एवं लास्य आदि के जरिये भारतीय नर्तक का कौशल मानव-मन की विविध अनिर्वचनीय मनोदशाओं और गूढ़ अनुभूतियों के शरीर के छंद में उतारता रहा है । उसमें एक अपूर्व लालित्य और शुचिता के साथ साथ अकथनीय को कह देने की क्षमता भी रही है । एक महाराजा के यहां

---

१- बाबू श्यामसुन्दरदास-हिन्दी भाषा और साहित्य, पृ० २३१ ।
(डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित रीति काव्य, सभा, काशी से उद्धृत)।

नृत्य देखने के बाद, लार्ड बेकन ने इसे अनुपमेय बताया था । उन्होंने यह स्वीकार किया था कि उनके अपने देश में इस प्रकार की कोई कला नहीं है । इसका वर्णन करते हुए लार्ड बेकन आगे लिखते हैं —"आरम्भ में नृत्य क्रिया प्रशांत होती है, अंग-चालन में ज्यों-ज्यों तीव्रता आती है, संगीत का स्वर ऊर्ध्वगामी होने लगता है, हाव-भावों की अभिव्यक्ति में प्रेम, प्रशंसा, भय, स्नेह, घृणा आदि मधुर-गंभीर, उग्र, भाव परिलक्षित होने लगते हैं और क्रमशः संगीत और गीत दोनों अनुभूति के सोपान में ऊर्ध्वारोहण करते हुए नर्तक को अधिक आवेशपूर्ण भावों को वाणी देने के लिए अंगविशेष की प्रेरणा देते हैं । और इसका आशातीत सफल निष्पादन मैंने अनेक बार देखा है । नर्तक अपने अंग चालन की चरमावस्था में सभी इंद्रियों को निलंबित कर देता है । और समीपस्थ लोगों को उसे उठाकर ले जाना पड़ता है[1]।

इसके अतिरिक्त शोभन-लेखन-कला (कैलियोग्राफी), मूर्ति-कला, प्रस्तर चित्रकर्मन, प्रसाधनलेखन आदि कलाओं के प्रचलन के प्रभूत प्रमाण प्राप्त हैं । वस्तुतः मुगल-शासन-काल और विशेषतः उत्तर मुगलकाल या हिन्दी का रीतियुगीन कविता की पृष्ठभूमि में पड़ने वाले और समानांतरगामी युग में सभी कलाओं और शिल्पों का महान् उत्कर्ष हुआ किन्तु लोकजीवन की सामान्य सुविधारा से असंपृक्त होने के कारण उनमें ऐहिक मनोवृत्ति, विलास वैभव, ऐंद्रिय अभिरुचि और अधिक ऐंद्रिक नमूनों में निष्प्राण जीवन-दर्शन का आभास मिलता है । यह ठीक है कि जहांगीर ने चित्रकला को चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया, शाहजहां ताजमहल जैसे विस्मयकारी निर्माण करा सका और उत्तरवर्ती सम्राटों और नवाबों ने संगीत और नृत्य के विकास में उत्तरोत्तर योग दिया, कवि भी उनके यहां आश्रय पाता रहा किन्तु यह भी ठीक है कि इनका जीवन ऐसा था कि चित्रकार की तूलिका रंगमहल के राग में ही डूबी गयी, ताजमहल संसार का अन्यतम प्रेम स्मारक होते हुए भी तत्कालीन जनजीवन की विपन्नता और अपर्याप्तता का उपहास सा करता है और उसका सौन्दर्य भी विराटता का नहीं मार्दव और रूपकल्पना की

---

१- बेकन- पृ० २८६( रघुवंशी के शोध प्रबन्ध से) ।

सुघराई है, ठुमरी, दादरा और टप्पा स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि संगीत की प्रगति किस ओर हो रही है। मद्य अहांगीर, अतिशय भोगासक्त नारिजन प्रेमी शाहजहां, लालकुंवर जैसी सामान्या के आकर्षण में भारत जैसे विराट् राज्य की उपेक्षा करने वाले जहांदरशाह का जीवन और दे भी क्या सकता था ? तत्कालीन कलाओं का जो भी वैशिष्ट्य एवं अभाव है उन्मुक्त प्राणवायु की विहीनता है और उन्मुक्त प्राणवायु महल की चहारदीवारी के घेरे में नहीं, लोकजीवन के विस्तृत प्रांगण में मिलती है। यह सत्य तत्कालीन कलाकार को पृथक् नहीं हो सका ।

जीवन-दृष्टि:

८९ सुल्तानों और मुग़लों के आक्रमण तथा उनके सामने राजवंशों के पराजित होने के फलस्वरूप देश का विदेशी शासन में चला जाना मध्यदेश के इतिहास में एक असाधारण तथा युगपरिवर्तक घटना थी । भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यहां अनेक जातियों के आक्रमण हुए, वे आयीं और यहां आकर धीरे-धीरे यहीं की हो गयीं । यहां की सभ्यता और संस्कृति को उन्होंने अपना लिया । किन्तु सुल्तानों और मुग़लों का आगमन इस दृष्टि से भारतीय इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है । आरंभ में भारत में आने वाली जातियों की संस्कृति या तो भारत की स्थानीय संस्कृति से बहुत मिलती-जुलती थी या उनकी अपनी संस्कृति अल्प-विकसित अवस्था में थी इसलिए यहां की संस्कृति को अपना लेने में उन्हें विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं होता था । वे मध्यदेश में आकर मध्यदेश के ही हो जाते थे और आज कोई नृ-विज्ञान का अनुसन्धाता ही यह समझ सकता है कि मध्यदेश के वर्तमान निवासियों में से कौन किस प्रजाति से मूलतः संबद्ध है । सभी 'क्षीरोदकी भूता-समगुणा परिखा-' के न्यायानुसार एक दूसरे में घुल मिल गये हैं और उनकी सभ्यता व संस्कृति का भी विशिष्ट अस्तित्व नहीं रहा। किन्तु सुल्तानों और विशेषकर मुग़लों के रूप में आने वाली आक्रमणकारियों की नितान्त भिन्न प्रकार की संस्कृति थी ।राजनीतिक दृष्टि से पराजित मध्यदेशवासी इस विषम संस्कृति को आत्मसात नहीं कर सके और न राजनीतिक स्तर पर सामूहिक रूप में उनका विरोध ही कर सके।

डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार यद्यपि देश की सैनिक पराजय हुई और राज - नीतिक सफलता की दृष्टि से देश ६०० वर्ष तक सिर नहीं उठा सका किन्तु साथ ही समाज, धर्म और साहित्य की रक्षा के लिए जो आयोजन देश ने सफलता के साथ किया और जिसके फलस्वरूप राजनीतिक और सैनिक पर-तंत्रता के रहते हुए भी देश की संस्कृति की रक्षा ६०० वर्ष तक हो सकी यह संसार के इतिहास में एक अत्यन्त असाधारण घटना है। सेमेटिक, इस्लामी आक्रमण के फलस्वरूप ईराक, ईरान, अफगानिस्तान, तुर्की, मिस्र आदि अनेक देशों की समस्त जनता ने इस्लामी धर्म भाषा और संस्कृति को ग्रहण कर लिया। किन्तु ६०० वर्ष तक स्वयं मध्यदेश में इस्लामी शासन रहने पर भी कठिनाई से ९ प्रतिशत जनता मुसलमान हुई और शेष ९१ प्रतिशत आज भी देश की संस्कृति को पकड़े हुए हैं[1]।

९०- मध्यकाल में हिन्दू अपने देश में ही स्वयं उपेक्षित और सामान्य नागरिक है, आभिजात्य वर्ग के अंतर्गत प्रमुखतः और अधिकांशतः विदेशीय मुसलमान आते है। इन दोनों की जीवन- दृष्टि में इतना घोर वैषम्य था कि सम्मिलन - बिन्दु ढूंढना दुष्कर ही नहीं असंभव - सा कार्य है। यदि एक ओर तत्कालीन यात्री जनसामान्य की सत्यनिष्ठा, ईमानदारी एवं परिश्रम-प्रियता की साक्ष्य देते हैं तो दूसरी ओर वे ही यात्री राजकुल एवं सम्राट् के पर्यावरण की कुत्सा और अविश्वसनीय चारित्र्य का कथन करते नहीं थकते। अंग्रेज यात्री टेरी भारत के तत्कालीन निवासियों से हिंदुओं को अलग कर उनके परिश्रम की प्रशस्ति करता है। उनकी सत्यनिष्ठा एवं ईमानदारी की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "वे हमसे (ईसाइयों) से भी अधिक सत्यनिष्ठ हैं" और सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि टेरी यह सत्य-निष्ठा हिन्दुओं में नैसर्गिक मानता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में हिंदुओं के पास कोई मार्गदर्शक प्रकाश-स्तंभ नहीं है जैसा कि ईसाइयों के पास प्रभु के

---

१-डा० धीरेन्द्र वर्मा- मध्यदेश, पृ० १७१।

के आदेश "बाइबिल" रूप में संकलित हैं। अनजाने में, उस गरीब ने यह नहीं समझा नहीं कि पैगम्बर और प्रभु के आदेश चारित्र्य का निर्माण करते, बातीय- जीवन-दृष्टि के निर्माण के कारण उससे कहीं गंभीर और निसर्गगत होते है। उसके आगे भी टेरी ईसाइयों और हिन्दुओं की तुलना करते हुए "सभ्य ईसाई, गंभीर हिन्दू(यद्यपि उसने इण्डियन शब्द का प्रयोग किया है किंतु संदर्भ बताता है कि उसका तात्पर्य किससे है) संतुलित-मना हिन्दू और बुभुक्षित ईसाई को देखकर उसे दुख होता है[1]। टेरी के अनंतर भारत आने वाले फ्रान्सीसी व्यापारी "मूर्तिपूजकों" के ज्ञान को बताते हुए भी उनके जीवन को "निसर्गतः नैतिक" बताता है[2]। वे अपना प्रत्येक कार्य बड़े धैर्य और संतुलन के साथ करते हैं और किसी को अधीर हो कोई कार्य करते देख वे कुछ कहते नहीं केवल मुस्करा देते है[3]। इसके अतिरिक्त वे आत्मा का एक योनि से दूसरी जीवयोनि में संक्रमण मानने के कारण हिंसा बिलकुल नहीं करते[4]। अन्नाहारण के बीच मद्यपान आदि का चलन नहीं है और टेरी तो यहां तक साक्ष्य देता है कि हिन्दू धर्मणा वर्जित वस्तुओं का सेवन करने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन भी सहकर समझता है और यदि यह अत्युक्ति भी हो तो यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की अत्युक्ति का कोई आधार रहा होगा। इसके विपरीत तत्कालीन आभिजात्य वर्ग मदिरा के महाकुण्ड में आकण्ठ निमज्जित था, अपने जीवन के उत्तर-काल में जहांगीर का मदिरापान यहां तक पहुंच गया था कि वह प्रतिदिन बीस प्याला तथा कभी कभी इससे अधिक पीता था। प्रत्येक प्याला एक सेर का होता था तथा बीस प्याला एराक का एक मन। इस कारण उसकी ऐसी अवस्था हो गई कि यदि एक घड़ी न पीता तो हाथ कांपने लगते तथा बैठने की शक्ति नहीं रह जाती थी[5]। हिन्दू निसर्गतः सहिष्णु

---

१-टेरी: पृ० २४०-४१।
२- तवर्नियर : ट्रैवल्स इन इंडिया भिल्द २ पृ० १९६।
३- वही, पृ० २१४।
४- वही, पृ० १८६।
५- जहांगीरनामा, पृ० १८।

थे और वर्निंयर ने जब उनसे बातचीत के सिलसिले में उनके धर्म की आलोचना करते हुए पूछा कि वे इसका अनुसरण क्यों करते हैं तो उनका उत्तर था हम यह दंभ नहीं करते कि हमारा धर्म सार्वभौम उपयोग के लिए है। परमात्मा ने इसे केवल हमारे लिए बनाया है और इसीलिए हम किसी विदेशी को अपने भीतर से नहीं रखते और न ही हम यह कहते हैं कि आपका धर्म असत्य है, संभव है वह आपकी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त हो क्योंकि ईश्वर ने स्वर्ग के अनेक मार्ग बनाये हैं। और वर्निंयर फिर लिखता है कि मेरे लिए यह समझना सहज असंभव हो गया कि ईसाई धर्म समस्त विश्व के लिए बना है और उनका धर्म केवल कपोलकल्पनाओं का जाल मात्र है[1]। कोई भी बुद्धिमान प्राणी इन "अशिक्षित हिन्दुओं" और इस "सुसंस्कृत ईसाई" के कथनों से यह समझ सकता है कि सत्य कहां है, "विनयी सहिष्णु अशिक्षित" के पास या "धर्मदम्भी" लेखक के पास।

९१- पारिवारिक सीमाओं में लोग अपने कर्तव्यों क्रमों के प्रति पूर्णतः सजग थे। एब्बर्ड टेरी हिन्दुओं की मातृ-पितृ भक्ति की प्रशंसा करता है। वह लिखता है कि "वे चाहे कितने ही निर्धन क्यों न हों और अपनी आजीविका के लिए उन्हें चाहे अल्पतम ही उपलब्ध होता हो किन्तु वे अपने माता-पिता की सेवाभक्ति में कोई त्रुटि आने देने से मर जाना कहीं अच्छा समझेंगे। मैं चाहूंगा कि जो लोग ईसाई होने का दंभ करने के बावजूद अपने वृद्धतमंद और विपन्नतापूर्ण माता-पिता की उपेक्षा करते हैं वे इसका अनोखा अध्ययन करें[2]। यहां की संतति-स्नेह भी आदर्श था और तत्कालीन यात्रियों के साक्ष्य से उसकी पुष्टि होती है। हिन्दू सामान्यतः एक पत्नी-व्रतधारी होता था उसका यौनजीवन संयमित और संतुलित होता था। टेरी और तवर्निंयर दोनों अपने-अपने समय में इसकी साक्षी देते हैं। इसके विपरीत राजकुल और सम्राट् का यौनजीवन निर्बाध भोगलिप्सा और पशुताचरण की सीमा पार कर चुका था। वस्तुतः मद्यपान और अनियंत्रित यौन-भोग का

---

१- वर्निंयर, पूर्वोक्त, पृ० ३१८।

२- टेरी, पूर्वोक्त, पृ० २१२-१३।

चीवनपन अकबर के समय से ही हो चुका था। यद्यपि यह सत्य है कि अकबर की सदाशयता उसके चरित्र के अन्य पक्षों पर पर्दा डाल देने में सहायक होती है किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि मधुपान वह पर्याप्त मात्रा में करता था, उसके हरम में कुल मिलाकर पांच हजार स्त्रियां थीं, जिनके परिचर्या के लिए इससे अनेक गुणा अधिक बांदियों और परिचारिकाओं की जरूरत पड़ती थी। उसके बेटे जहांगीर में मद्यपान चरमसीमा को पहुंच गया, शराब पीकर सम्राट् प्रकृतिवर्जी के से आचरण करने लगता, उसके हरम में १०००, स्त्रियां तो थीं ही, जिनका सत्यापन विश्वसनीय ढंग से टेरी ने किया था, उसके अतिरिक्त उसकी कामुकता इस सीमा पर पहुंच गयी थी कि वह समलिंगभोग के लिए "लड़के" भी रखता था[1]। और इस साक्ष्य के साथ यह स्मरण रखना चाहिए कि इसका स्रोत वह व्यक्ति है जो हमेशा सत्यता को ही देखने का यत्न करता था। यौनजीवन के भ्रष्टाचरण की अधःवर्ती सीमा शाहजहां में और भी विकृत रूप में दिखायी देती है। मनूची उसके दरबार में अनेक वर्षों तक रहा था और उसकी दृष्टि में सम्राट् केवल एक ही वस्तु के सम्बन्ध में उपयोगशील दिखता है और वह है नित नवीन प्रमदाओं की सेज। अपने मृत्यों तक की पत्नियों, बेटियों के साथ सम्राट् का बुरा दुराचरण चलता था। अकबर और खलीलुल्लाखां की पत्नियों के साथ उसके कथित सम्बन्ध इस सीमा तक पहुंच गये थे कि चलते-फिरते इन्हें चिढ़ाया जाता था। शाकिरखां की पत्नी का सतीत्व भंग करने की भी चर्चा है और पीटर मण्डी अपनी बेटी के शाहजहां के साथ कथित सम्बन्ध की सात्मकस्वीकृति करता है[2]। और यह प्रवृत्ति इस सीमा तक पहुंची कि सम्राट् पर स्वयं अपनी प्रिय पुत्री जहांनारा के साथ अगम्यागमन का और पातक लगाया जाता है। बर्नियर, तवर्नियर और कार्तू तीनों प्रायः अस्पष्ट शब्दों में यह आरोप लगाते हैं, प्रसिद्ध इतिहासकार विंसेंट स्मिथ इसका समर्थन करते हैं, मनूची, सम्भवतः सम्राट् का नमक खाने के कारण इस सम्बन्ध में मौन है और इतिहासकार इस

---

१- टेरी, पूर्वोक्त, पृ० ४०६।

२- बनारसीप्रसाद सक्सेना- शाहजहां, पृ० २३७।

सम्बन्ध में अब तक कोई ठोस और सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं निकाल पाये, शाहजहाँ के सहानुभूतिपूर्ण विद्वान डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना की अदालत में भी सम्राट् को केवल सन्देह का लाभ मिल पाता है। यह सच हो या नहीं और अधिक संभावना इसके सत्य होने की ही है किन्तु इसकी संभावनामात्र रावकुल की नैतिक अधोगामिता का पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करती है[1]। इसके परवात् औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों का जीवन और भी गिरता चला गया। बहादुरशाह लालकुंवर का बेमोल का नौकर ही था उसे सम्राट् कहना संप्रभु की गरिमा और गौरव का उपहास करना है।

९२- इतिहासकार की अभिरुचि प्रायः रावकुल के घेरे तक सीमित रही है, कम से कम अब ऐसा रहा है इसलिए उनके आधार पर साहित्य की पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन कराने में रीतियुग के सम्बन्ध में साहित्येतिहासकार अठारहवीं सदी को सामान्यरूप से नैतिक चारित्र्य की गिरावट का काल मान लेते हैं और साहित्य में उसका प्रतिबिम्ब देखते हैं। साहित्य में युगजीवन का प्रतिबिम्ब देखना उपादेय है। किन्तु उसकी आवश्यक उपाधि यह है कि प्रस्तुत साहित्य लोकजीवन को प्रतिबिम्बित करता हो। रीतियुग का यह साहित्य अन्य कलाएं भी लोकजीवन से प्रायः असंपृक्त हैं इसीलिए उनमें अभिव्यक्ति पाने वाली भोगलिप्सा और विलास-लालसा के ऐंद्रिक वेग को तत्कालीन युगचेतना का अपरिहार्य अवयव मान लेना भ्रांत है। भारतीय जन रावनीति के प्रति प्रायः उदासीन रहा है और हमारी दृष्टि में भारतीयों की पराजय का कारण आपसी फूट उतना नहीं जितना रावनीति के प्रति जनसामान्य की उदासीनता। लोग यह समझते हैं कि रावकाज चलाना एक विशेष वर्ग का कार्य है और उन्हें उससे कोई विशेष सरोकार नहीं। जनतांत्रिक भारत में भी यह प्रवृत्ति पूर्णतः समाप्त नहीं पायी। इसलिए रीतियुगीन समाज की जीवन दृष्टि का अध्ययन करते समय हमें यह सर्वथा ध्यान रखना चाहिए कि नैतिक अधःपतन के विरोध में उसका संयमित और सरल जीवन अधिक

---

१- बर्नियर और तवर्नियर—दोनों के यात्रा संस्मरणों में इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

धार हो उठा था । मल्कोम ने भारतीयों के ही सम्बन्ध में कहा था---"मैं समान परिस्थितियों में किसी भी बड़ी जनसंख्या के सम्बन्ध में नहीं जानता थी, इसी प्रकार के निरंकुश शासन में रहकर भी इतने सद्गुणों और योग्यताओं का परिरक्षण करसकी हो जितने सद्गुण एवं जितनी योग्यताएं इस देश के अधिकांश निवासियों में पायी जाती हैं[1]। और अनेक वर्षों बाद भारत के गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने भारतीयों को नम्र, उदार सहिष्णु, किये हुए का आभार मानने वाले, दोषों के प्रतिशोध के लिए अनिच्छाकृत उपेक्षा भाव रखने वाले विश्वसनीय और मानवीय दोनों से सर्वथा युक्त कहा है[2]।

९३- जातीय चरित्र वाणी में निर्मित और धराशायी नहीं होते उनकी जड़े बहुत गहरे जाती है, तभी भारतीय जन अपने चरित्र को ऐसे सांस्कृतिक संकटकाल से भी निष्कलंक निकाल सका है, साहित्य का संदूषण इसलिए हुआ है कि साहित्य के सृष्टा ने लोकजीवन से नाता तोड़कर सत्ता का संपर्क काम्य समझा था ।

९४- भारत की धर्म-परम्परा में मुहम्मद साहब और ईसामसीह का स्थान-धन्य कोई नहीं है । संभवतः कुरान और बाइबिल का - सा गौरव भी किसी एक ग्रंथ को प्राप्त नहीं है । मध्योत्तरकाल में हिन्दू धर्म का जो रूप था वह अपने "सनातन" नाम को बहुत कुछ सार्थक बनाता है । यह ठीक है कि कर्मकाण्ड और आचार के पीछे निहित विचार-शृंखला की वैज्ञानिकता को सामान्य जन नहीं समझते थे किन्तु धर्म का मूल वेद और पुराण ही थे, आज तक भी है, इसमें सन्देह का अवसर नहीं रह जाता । यह भी ठीक है कि अंतर्निहित विचारभूमि के छूट जाने से अनेक धर्माभासी प्रत्यय विकसित हो रहे थे । प्राण की रक्षा न मिलने पर भौतिक संसर्ग से वस्तुएं प्रायः मलिन होने लगती हैं । सती प्रथा तो लगभग सार्वभौम हो गयी थी । टेरी, बर्नियर, फ्रायर, तवर्नियर, मनूची प्रायः सभी साक्षी इसका उल्लेख और निंदा करते है । शुभाशुभ विचार पर अन्धसामान्य तो विश्वास करता ही था सम्राट् आदि तक इस

---

१- मैल्कम - मेमायर, पृ० ४२९-४० ।।
२-रजनीश के पूर्वोक्त शोधप्रबन्ध से ।

विश्वास रखते थे और राज्य के महत्वपूर्ण कार्य, यात्रा आदि के लिए मुहूर्तशोधन के उपरांत ही कार्यारम्भ होता था। जहांगीर अपने आत्मचरित में लिखता है--"हमने सुना है कि सौभाग्य या दुर्भाग्य चार वस्तुओं पर अवलम्बित होता है, पहली पत्नी, दूसरा दास, तीसरा गृह और चौथा घोड़ा। किसी मकान के शुभाशुभ विचार के लिए नियम बने हैं और वे वास्तव में निर्भ्रान्त हैं। जिस भूमि पर गृह बनाना हो उसके एक छोटे टुकड़े की मिट्टी खोद ले और उसी मिट्टी को उसमें भरे। यदि वह उस मिट्टी से बराबर भर जाय तो वह साधारण शुभ है, न विशेष शुभ है न अशुभ, यदि न भरे अर्थात् कम हो जाय तो अशुभ और यदि भरने पर कुछ बढ़ जाय तो विशेष शुभ है[१]।" ज्योतिष के नीमहकीमों पर जनता का अटूट विश्वास है। दिल्ली के बाज़ार का वर्णन करते हुए बर्नियर यह बताता है कि स्त्रियां पथ के दोनों किनारों पर बैठे हुए तथाकथित ज्योतिषाचार्यों के पास जाती है और अपने गुह्यतम रहस्य उनके सामने खोल देती हैं। लोगों का यह विश्वास है कि नक्षत्र उनके जीवन पर प्रभाव डालते हैं जिसे यह नक्षत्र-वैज्ञानिक अनुशासित कर सकता है। नगर और गांव के मार्गों एवं गलियों में नंगे घूमते हुए फकीरों का भी उल्लेख प्रायः सभी यात्रियों के संस्मरणों में प्राप्त है। वस्तुतः अज्ञान के कारण धर्म की मूल भूमि से परिचय छूट जाने के फलस्वरूप धर्म एवं धर्माभास में कोई अंतर नहीं रह गया था, यह सत्य है

किन्तु उसके साथ यह भी वांछनीय है कि ये तथाकथित विजातीय विद्वानों द्वारा भ्रांत समझे गये आचार वस्तुतः अज्ञानमूलक एवं असत्य है और क्या किसी भी सीमा में ऐसा संभव है कि हम जनसामान्य को इतना प्रबुद्ध कर दें कि वह अपने धार्मिक प्रयत्नों का दार्शनिक, कल्पित विवेचन कर सके, विशेषतः ऐसे धर्मसमाज में जहां बाइबिल और कुरान जैसी एकनिष्ठ भक्ति पाने वाला कोई ग्रंथ नहीं है,--इस दृष्टि से इन पर विचार किया जाये। वस्तुतः भारत एक ऐसा देश है जहां लोकजीवन का प्रत्येक महत्वपूर्ण और महत्वहीन कार्य या घटना किसी न किसी रूप में धर्म से सम्बद्ध कर दी गयी है। अठारहवीं सदी

---

१- जहांगीरनामा, पृ० ३०५।

में दुबोई ने हिन्दू रीति-आचारों का अध्ययन करने के बाद लिखा था "अनेक वर्षों की अवधि में हिन्दू रीतियाचारों का अध्ययन करने के बाद भी मैं एक भी ऐसा उदाहरण नहीं पा सका, चाहे सम्बन्धित आचार कितना ही गंदा और भद्दा क्यों न हो, जिसकी आधारशिला धर्म न हो। कोई भी बात संयोग पर नहीं छोड़ी गयी, हर वस्तु के सम्बन्ध में नियम बना दिये गये हैं और उनकी सभी प्रथाओं का मूल स्रोत विशुद्धतः धर्म ही है। यही कारण है कि हिन्दू अपने रीतिरिवाजों एवं प्रथाओं को अनुल्लंघनीय समझता है, तत्वतः धार्मिक होने के कारण, वे उन्हीं को धर्म समझते हैं[1]। भारतीय समाज के सम्बन्ध में दुबोई का अभिमत जितना उस समय सत्य था, प्रायशः अशिक्षित समाज के लिए उतना ही आज भी सत्य है।

९५- धार्मिक और व्यापक सांस्कृतिक स्तर पर यह दो महान संस्कृतियों के सम्मिलन का काल है। सम्राटों की राज्यलिप्सा और तज्जन्य कलह और डाह, प्रदर्शन एवं अत्याचार की कहानी इतिहासकार को अधिक रोचक और रोमांचकारी प्रतीत होती है, रासमहल की अकिंचन कथाएं उसे पन्ने पर पन्ने रंग देने की प्रेरणा देती है और इस धार्मिक सम्मिलन एवं सांस्कृतिक समन्वय पर अध्याय के अंत में कतिपय पंक्तियों का परिशिष्ट उसे पर्याप्त समझ पड़ता है किन्तु सत्यदर्शन के प्राणों में इतिहासकार भी इसका महत्व समझता है। एक आधिकारिक इतिहास ग्रंथ के अनुसार "मानव जाति के इतिहास में दो इतनी पूर्णविकसित और इतनी नितांत असम— हिन्दू और मुसलमान——सभ्यताओं का-सा विराट् संगम शायद ही कभी हुआ है। उनकी संस्कृतियों एवं उनके धर्मों की विस्तृत दूरी ही उनके पारस्परिक प्रभाव को अधिक महत्वपूर्ण और विशिष्ट बना देती है[2]। इस सम्मिलन का सूत्रपात और स्वर्णकाल अकबर के शासन में आरम्भ होता है। श्री मुहम्मद हुसैन शमे-बरादर को "शिवराजि" से और ताजिया को कृष्णलीला से

---

१- दुबोई- हिन्दू मैनर्स पृ० ३१।

२- केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ५६८ और ६४०।

साम्य बताते हुए प्रभाव निर्देश करते हैं[1]। वस्तुतः इस दिशा में अकबर के प्रशस्तिगान में कुछ अतिशयता हुई है किन्तु उस अतिशयता के लिए अकाट्य आधार अवश्य है। उसका बेटा जहांगीर अनिश्चित धार्मिक विचारों का व्यक्ति था किन्तु उसने बहुत कुछ अपने पिता द्वारा प्रशस्त मार्ग का ही अवलम्ब किया। अपने पोते अकबर की बीमारी के समय उसने शिकार छोड़ देने तक की मनौती की थी। अपने "आत्मचरित" में वह स्वयं स्वीकार करता है कि "हिन्दुस्तान के छः भाग मनुष्यों में पांच भाग हिन्दू तथा मूर्तिपूजक है। बहुत-सा व्यापार, खेती, वस्त्र बुनना, कारीगरी तथा अन्य कार्य इन्हीं के हाथ में है। यदि चाहें कि सबको मुसलमान बना लें तो संभव नहीं कि वे मारे न जावें। यह कार्य कठिन है और अंत में ईश्वर इन्हें दण्ड देगा। मुझे इनके मारने से क्या काम है[2]।" अकबर द्वारा प्रचलित रक्षाबंधन में राखी बंधवाने की परम्परा उसने बनाये रक्खी। शाहजहां में उतनी सहिष्णुता नहीं थी। उसने एक स्थिति पर हिन्दू मंदिरों को ध्वस्त करने का भी आदेश किया और वस्तुतः मंदिर गिराये भी गये। औरंगज़ेब के शासन में धार्मिक असहिष्णुता और कट्टरता का रूप धारण कर लेती है। यद्यपि यह कहना ठीक नहीं कि अन्य सम्राट् हिन्दू और मुसलमान प्रजा को बराबर समझते थे या अकबर का शासन धर्म निरपेक्ष था किन्तु यह सत्य है कि औरंगज़ेब की-सी घातक कट्टरता किसी में नहीं थी। औरंगज़ेब ने इस्लाम की रक्षा और प्रचार-प्रसार के लिए ही शासन लेने की घोषणा की थी। मंदिर गिराने, जजिया लगाने आदि के कार्यों से उसने हिन्दू मुसलमान प्रजा के बीच गहरा द्वेष और खाई पैदा कर दी। कूटनीति कुशल औरंगज़ेब यदि अकबर की नीति कुशलता-अन्य धार्मिक सहिष्णुता की पाठशाला का स्नातक होता तो शायद मुगल साम्राज्य का भविष्य कुछ और ही होता। प्रो० हुमायूं कबीर, डा०ताराचंद जैसे विद्वानों ने हिन्दू संस्कृति और भारतीय दर्शन पर विशेषतः शंकर पर इस्लाम संस्कृत एवं दर्शन के प्रभाव की अतिशयोक्ति की है, इतनी बड़ी अत्युक्ति के

---

१- मुतफ कुहेन—गिलम्सवेज आव मीडिएवल इण्डियन कल्चर, पृ० १२६।
२- जहांगीरनामा, पृ० ४३-४४।

साम्य बताते हुए प्रभाव निर्देश करते हैं[1]। वस्तुतः इस दिशा में अकबर के प्रशस्तिगान में कुछ अतिशयता हुई है किन्तु उस अतिशयता के लिए अपेक्षित आधार अवश्य है। इसका बेटा जहांगीर अनिश्चित धार्मिक विचारों का व्यक्ति था किन्तु उसने बहुत कुछ अपने पिता द्वारा प्रशस्त मार्ग का ही अवलम्ब किया। अपने पोते अकबर की बीमारी के समय उसने शिकार छोड़ देने तक की मनौती की थी। अपने "आत्मचरित" में वह स्वयं स्वीकार करता है कि "हिन्दुस्तान के छः भाग मनुष्यों में पांच भाग हिन्दू तथा मूर्तिपूजक हैं। बहुत-सा व्यापार, खेती, वस्त्र बुनना, कारीगरी तथा अन्य कार्य इन्हीं के हाथ में है। यदि चाहें कि सबको मुसलमान बना लें तो संभव नहीं कि वे मारे न जायें। यह कार्य कठिन है और अंत में ईश्वर इन्हें दण्ड दे सकेगा। मुझे इनके मारने से क्या काम है[2]।" अकबर द्वारा प्रचारित रक्षाबंधन में राखी बंधवाने की परम्परा उसने बनाये रखी। शाहजहां में उतनी सहिष्णुता नहीं थी। उसने एक स्थिति पर हिन्दू मंदिरों को ध्वस्त करने का भी आदेश किया और वस्तुतः मंदिर गिराये भी गये। औरंगजेब के शासन में धार्मिक असहिष्णुता और कट्टरता का रूप धारण कर लेती है। यद्यपि यह कहना ठीक नहीं कि अन्य सम्राट् हिन्दू और मुसलमान प्रजा को बराबर समझते थे या यह अकबर का शासन धर्म निरपेक्ष था किन्तु यह सत्य है कि औरंगजेब की-सी घातक कट्टरता किसी में नहीं थी। औरंगजेब ने इस्लाम की रक्षा और प्रचार-प्रसार के लिए ही शासन लेने की घोषणा की थी। मंदिर गिराने, जजिया लगाने आदि के कार्यों से उसने हिन्दू मुसलमान प्रजा के बीच गहरा द्वेष और खाई पैदा कर दी। कूटनीति कुशल औरंगजेब यदि अकबर की नीति कुशलता-अन्य धार्मिक सहिष्णुता की पाठशाला का स्नातक होता तो शायद मुगल साम्राज्य का भविष्य कुछ और ही होता। प्रो० कुमायूं कबीर, डा०ताराचंद जैसे विद्वानों ने हिन्दू संस्कृति और भारतीय दर्शन पर विशेषतः शंकर पर इस्लाम संस्कृति एवं दर्शन के प्रभाव की अतिशयोक्ति की है, इतनी बड़ी अत्युक्ति के

---

१- थामस कुक--सिलेक्शंस फ्राम दी लिटरेचर ऑफ इण्डियन अकबर, पृ० १२६।
२- जहांगीरनामा, पृ० ४३-४४।

लिए न तो आधार ही हैं और न वह वांछनीय ही । भावनात्मक एकता के आवेशमय प्रयास में चिंतन की समतल भूमि छोड़कर यह नहीं भूलना चाहिए कि शंकर जैसा अलौकिक शक्ति संपन्न मेधावी प्रभावों से नहीं विकसित होता, उसके सृजन में सहस्रों वर्ष की जातीय चेतना का उर्वर कोश रीता हो जाता है, राष्ट्रमाता जिस मनीषा को आकार देकर कृतकार्या हो जाती है, वह विजातीय पोषक तत्वों के बल पर हृष्ट-पुष्ट नहीं होता । किसी भी महान देश की बढ़ती हुई आयात-निर्यात के व्यापार से नहीं शमित होती, तब उसके मन की भूख विदेश का दर्शन कैसे मिटायेगा यह सामान्य सत्य उपेक्षित नहीं होना चाहिए । काश, मुसलमान शासक न होकर हिन्दुओं के सहवासी होते या शासक बर्बर न होकर सदाशयी होते तो इस समन्वय की प्रक्रिया में कितने पुष्प खिलते यह कल्पना ही बड़ी अर्थगर्भ और संभावनाकाम है ।

९६- इस प्रकृति-पुरुषमय सृष्टि क्रम में स्त्री का स्थान हमारी जीवन दृष्टि के अन्तरतम सत्यों का आधार बनता है । भारतीय संस्कृति में "यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवताः" से लेकर "द्वारं तु नरकस्य एकं हि नारी" की परस्पर विरोधी घोषणाएं मिलती है । वस्तुतः व्यक्तिगत एवं पारिवारिक सीमाओं में स्त्री का जितना महत्वपूर्ण स्थान रहा है, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन से वह उतनी ही दूर रही है । स्त्री स्वतंत्रता पर तो प्रायः आरम्भ से ही प्रतिबंध रहे हैं । भारतीय परिवार का आदर्श रहा है -

पिता रक्षति कौमार्ये, भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा, न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ।।

फिर भी उसको कार्यों में मंत्री, करणीयों में दासी, भोजन के अवसर पर स्नेहमयी मां, शयनावसर में कांत यौवना अप्सरा का स्थान मिलता रहा है । मध्योत्तरकाल में भी हिन्दू स्त्रियां मुसलमान स्त्रियों की अपेक्षा कहीं

अधिक स्वतंत्र थीं । तत्कालीन यात्री फ्रायर लिखता है कि मुसलमान अपनी स्त्रियों को सभी की निगाहों से बचाकर रखते हैं जबकि हिन्दू स्त्रियां बाहर आ सकती हैं और स्वच्छ वायु का सेवन कर सकती हैं ।

९७- भारतीय परम्परा में एकपत्नीव्रत का सैद्धांतिक और कुछ व्यावहारिक महत्व तो रहा ही है, पतिभक्ति की उससे बड़ी महत्ता है । पति वस्तुतः देवता समझा जाता रहा है । बर्नियर लिखता है कि हर हिन्दू ललना को घर में यह सीख दी जाती है कि पति ही उसका सब कुछ है, और जिस ने उसका वरण किया है, उसके साथ ही उसे अपनी जीवनलीला समाप्त कर देनी चाहिए । हमारा साहित्य स्वकीया के आदर्श से आप्लावित है । विवाह अल्पवय में ही होते थे और द्विरागमन हो जाने के बाद पति के घर पहुंचाकर स्त्री एक अत्यन्त कठोर अनुशासन में पड़ जाती थी । उसे घर के छोटे बड़े सब काम करने पड़ते---पानी भरना, बर्तन धोना आदि । मनूची उसकी स्थिति दासी की-सी बताता है । वह कभी अपना मुंह नहीं खोलती, नम्रमुखी रहती है । सास की गलत-सही मांगें पूरी करती है, प्रसव-काल में उसकी सारी स्वतंत्रताएं छिन जाती हैं[1] । स्त्रियों को पुनर्विवाह की आज्ञा न थी, और न तलाक देने का अवसर । वे पति चाहे जैसा हो उसके साथ निर्वाह करने के लिए बनायी गयी थीं । इसी आधार पर सती प्रथा का प्रचलन था । विधवा-जीवन बड़ा नारकीय होता था । पितृ-गृह में दासी का जीवन बिताना पड़ता था । उसका जीवन आंसुओं और तकलीफों की कहानी बन जाता था । वह अपना समय पूजा आदि में बिताती और जीवन के समस्त सुखों का त्याग कर देती । किसी शुभ अवसर पर उसकी उपस्थिति अमांगलिक समझी जाती । बिना सिंदूर की, रीती मांग उसकी अभिज्ञा थी ।

९८- किन्तु इसके बावजूद भी यह स्वीकरणीय है कि भारतीय समाज में नारी के प्रति अत्यन्त दृष्टिकोण नहीं था, यदि उन्हें स्वतंत्रता नहीं

---

१- मनूची: स्टोरियादो मोगार, पृ० ५९ एवं १५५ ।

थीं, तो उन पर अत्याचार भी नहीं हो सकते थे । युद्धों में बंदी बनायी गयी स्त्रियों के साथ अत्यन्त मर्यादित और प्रतिष्ठापरक व्यवहार किया जाता था । स्त्रियों का व्यवहार तो लोकप्रसिद्ध है ही । मनुजी इसकी प्रशंसा करता है । एलेक्जेण्डर टाड लिखता है कि भारत में नारियां इतनी पवित्र और रक्षणीय समझी जाती हैं कि अपने राम और महान-विध्वंस के बीच भी सामान्य सैनिक तक इन्हें अक्षुण्ण छोड़ देता है । हरम विलास की सभी निरंकुश कृतियों से मुक्त है ।" आलोच्यकाल में नारी परतंत्रता की कटु आलोचना करते समय समालोचक यह भूल जाता है कि नारी स्वातंत्र्य की कल्पना आधुनिक है, अभी दस वर्ष भी नहीं हुए जबकि इंग्लैण्ड जैसे दीर्घ जनतांत्रिक परम्परा वाले देश की लार्ड सभा की पहली महिला सदस्य बनायी गयी है । यह सभा पिछले चार सौ वर्षों से काम कर रही थी । जीवनात प्रत्यय युगानुशासित होते हैं, इस सामान्य तथ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, आज के चिंतन को रीति-युग पर घोषना अवांछनीय है ।

:::::::::::::::

# अध्याय २

## समाज की रचना

## अध्याय २

## समाज की रचना

### आधार-सामग्री-

आलोच्यकाल के समाज की रचना पर विचार करते समय उसके विभिन्न भौतिक एवं धार्मिक या जातिगत वर्गों से संबद्ध सामग्री का अन्वेषण करते समय हम यह देखते हैं कि इस संबंध में हमारे प्रमुख सहायक रीति कवि, वीर काव्य के प्रणेता, संत और तत्कालीन नीति काव्य रचयिता सिद्ध होते है। रीति कवियों में ऐसा प्रतीत होता है, केशव (१५५८-१६७४) का सामाजिक अध्ययन सर्वाधिक व्यापक, गहन और प्रमाणिक है। तत्पश्चात् सेनापति (१६४६) बिहारी (१६६०-१७२० ) और पद्माकर (१८१०-१८९०) के काव्य हमारी आधार भूत सामग्री प्रस्तुत करते हैं। संत कवि संभवतः तत्कालीन सजग कवि वर्गों से समाज के प्रति कहीं अधिक सजग दिखते है। यह अवश्य है कि संत कवि तत्कालीन समस्याओं का तैयार समाधान कदाचित् नहीं दे पाये किन्तु जीवन-प्रधान न होकर दृष्टि-प्रधान होने के कारण इन कवियों का काव्य लोकजीवन और विशेषकर उसके निचले वर्ग के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रहा है। संत कवियों में सुंदरदास (१६६३-१७४६), दरिया साहब (१६३४-१७८०) और पलटू साहब विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुए है। पराजित जाति के वीरकाव्य का मूलस्वर प्रायः प्रतिशोध की भावना का हुआ करता है, इसलिए, आलोच्यकाल के वीर कवियों में हमें यह बात दृष्टिगत होती है। आलोच्य-कालीन वीर कवियों ने प्रायः कोई न कोई ऐसा चरितनायक चुन लिया है जिसे वे हिन्दू जाति और हिन्दुत्व का रक्षक मान कर उसका गुण गान करते हैं। स्वभावतः उनके काव्य में उनके चरित नायक से संबद्ध प्रदेश की सामाजिक अवस्था, वहां बसने वाली विभिन्न जातियों और वर्गों के विवरण आये है। इनके चरित नायक तत्कालीन हिन्दू राजा हुए है और इनके राज्यान्तर्गत सामाजिक व्यवस्था और विभाग का चित्र राजा की कीर्ति के वर्णन के साथ आना स्वाभाविक ही था। वीर कवियों में भूषण (१६७०-१७१५ ) मानकवि (१७१७),सूदन(१८१०), जोधराज (१८०५ ) विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुए

है। इनके चरित नायक क्रमशः शिवाजी और छत्रसाल, राजसिंह, सुजान और हम्मीरदेव रहे है। स्फुटकवियों में गिरधर (१८००) और दीनदयाल (१८८८) विशेष सहायक सिद्ध हुए हैं। कृष्ण भक्त कवियों में एकमात्र नागरीदास (१७८०-१८१९) से सहायता मिल सकी है। इस संबंध में सूफी काव्य से सामग्री न मिलने की बात खटकती है। संभवतः उसका कारण यह रहा हो कि सूफी कवि साधना और रहस्य के कवि हैं। इस संबंध में प्रतीक रूप में अथवा अपना कथ्य बोध-गम्य कराने के लिए पारिवारिक संबंधों के उपयोग इनके काव्य में अपेक्षाकृत अधिक मिल जाते है किन्तु सामाजिक विभाग अपने आप में भेद-भाव पर आधारित होने के कारण उन्हें न रुचता रहा होगा। यह बात संत कवियों के संबंध में भी प्रयोज्य हो सकती थी किन्तु उन्होंने इस विभाजन की उपेक्षा न करके उस पर प्रहार करना अधिक उपयुक्त समझा। कृष्ण भक्त कवियों में नागरीदास के संदर्भ मिलना आश्चर्यजनक है क्योंकि इन कवियों को भी अपने कन्हैया की रास-लीला से फुर्सत कम ही मिला करती थी।

२- भारत के सामाजिक जीवन में परिवार का महत्व अत्याधिक है। वस्तुतः हिन्दू का जीवन जन्म से मरण तक परिवार में ही व्यतीत होता है। परिवार के संबंध में मालोच्यकाल के कवियों की रचनाओं में प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है। उसमें व्यवस्था का अभाव अवश्य है। उसमें समस्त पारिवारिक संबंधों को अन्तर्भुक्त करने की चेष्टा नहीं की गयी और कुछ ही संबंधों के अन्तर्गत आने वाली कुछ विशेष मनोदशाओं और क्रियाओं का ही अधिक उल्लेख हुआ है। कुल मिला कर परिवार को रीति काल के कवियों ने पर्याप्त मात्रा में अपने काव्य का विषय बनाया है। यहाँ रीति कवियों में पद्माकर (१८१०-१८९०) से हमें सर्वाधिक सहायता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त बिहारी (१६६०-१७१०) मतिराम(१७०४-१७५८), बेनी प्रवीन(१८७४) अकबर साहि, प्रतापसाहि(१८८१-१९००), के काव्यों से भी सहायता मिली है। संतकवियों में दरिया साहब(१६७४-१७८०) और सुंदरदास (१६५३-१७४६) के काव्य के आधार भूत सामग्री प्रदान करते हैं। सहजो बाई का काव्य पारिवारिक सन्दर्भों से प्रचुर समृद्ध है।

स्त्री होने के कारण पारिवारिक वातावरण में उनका मन स्वभावतः अधिक रमता रहा है। सूफी कवियों में जान(१६१०-१७६४) कासिमशाह (१७५८) और बीधा (१८३०-१८६०ई) विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुए हैं। कृष्ण कवियों में यहाँ भी नागरीदास का आधार मिलता है और वह भी पारिवारिक संबंधों की व्यर्थता बताने की दृष्टि से। वीर काव्य में भूषण के अतिरिक्त (१६७३-१७१५) गोरे लाल (१७५४ई) और सूदन (१८१०ई) के काव्य आधारभूत सामग्री प्रदान करते हैं। स्फुट कवियों में उल्लेख सहायता केवल बाध से प्राप्त होती है।

भौतिक विभागः

१- रीति कालीन काव्य में चित्रित समाज को भौतिक दृष्टि से चार मोटे वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग के अन्तर्गत राजकुल और सामंत परिवार के लोग आयेंगे जो संख्या में सबसे कम होते हुए भी समाज के सर्वाधिक सुखी सम्पन्न और शक्तिशाली लोग थे। समाज का आर्थिक एवं राजनीतिक ढाँचा कुछ ऐसा था कि उसमें शक्तियाँ स्वाभाविक रूप से समाज के छोटे से अभिजात एवं विजातीय वर्ग के हाथों में केन्द्रित हो गयीं थी। सम्राट् राजनीतिक दृष्टि से सर्वप्रभुत्वसंपन्न अधिपति था। देश की समस्त भूमि और जनता उसके निरंकुश अधिकार में थी। राजनीति और अर्थ एकछत्र रूप से सम्राट् के पास होने के कारण उसका और उसके परिवार का जीवन अत्यन्त सुखी और विलासपूर्ण था। समीक्ष-काव्य का कवि इस वर्ग के जीवन से इतना प्रभावित था कि उसका मूल स्वर ही बदल गया। राजा की दिन चर्या का वर्णन करते हुए केशव दास मेघोरसिंह देव चरित" में बताया है कि प्रातः काल महल के पालतू शुक आदि पक्षियों की ध्वनि सुनकर राजा उठे और ईश्वराधन करते हुए आसन में आते हैं। सुन्दरी युवतियाँ उनके पाँव पखारती हैं और स्वच्छ कलशों से उन्हें धोती हैं। वस्त्र और मृत्तिका विधिपूर्वक मिलाकर सात प्रकार से उनके हाथ धोये जाते हैं। तदनन्तर कुंकुम चन्दनादि से उनके चरण पुनः पखारे जाते

है, दातौन करने के बाद गंगा जल से स्नान कर, सूर्यदेव की उपासना कर, गोदान देकर फिर भोजन करते हैं[1]। राजा की दिन-चर्या का वर्णन करते हुए सेनापति बताते हैं कि नृप प्रातः स्नान कर, वस्त्रादि बदलने के बाद सभाभवन को जाते हैं, धीरे-धीरे धूप चढ़ने पर प्यारी के संग गंधपूरित रंगमहल में बतलाते रहते हैं। रंग-मंदिर के द्वार इस प्रकार बन्द रहते हैं कि बाह्य वातावरण के उत्थान-पतन और परिवर्तन इन पर कोई प्रभाव नहीं डालते[2]।

नौकर पेशा वर्गः

४- इस दृष्टि से दूसरा वर्ग नौकर पेशा लोगों का है। इसमें राजकीय अधिकारी एवं भृत्य और दास दासियां आदि आते हैं। कुछ सम्पन्न संपन्न परिवारों में भी घरेलू नौकर नौकरानियां रखे जाते थे। दासियां गृह-कार्य में गृह-स्वामिनियों की सहायता करती थीं[3]। भौतिक दृष्टि से

---

१- के०वी०क०, पृ० २६१-२६३।

२- प्रात नृप न्हात, करि आसन बसन गात,
बैठि सभा जात की सों बासर सुहात है।
धीरे बतलाने, प्यारी संग सुखसाने, बिह-
रत अघाने, बस धाम निवरात है ।।
लागे कपाट, सेना पति रंगमंदिर के,
परदा परे, न खरक्क कहूं पात है।
कोई न भनक, ह्वै के चनम - मनक रही
बेठ की दुपहरी कि मानौं अधरात है।।
-से०क०र०, पृ० ५८।

३- दासी घर को काम सब करती होसे साथ।
युवती रूपे बंश की बीमें ताके हाथ ।।
-पु०गृ०पृ० १९०।

राजकीय अधिकारियों भृत्यों एवं इतर दास दासियों का यह वर्ग सुख सुविधा पूर्ण जीवन नहीं व्यतीत करता था । शाहजहाँ तक आते-आते मुगल साम्राज्य का वैभव और प्रदर्शन बहुत व्ययसाध्य हो चुका था । राष्ट्रीय उत्पादन पहले से कम या यथावत् था, कर वसूल करने में कड़ाई बरतने की आवश्यकता पड़ने लगी थी और इसका दायित्व इन्हीं राजकीय अधिकारियों को सौंपा जाता था अतः समाज से भी इन्हें अधिक सद्भाव और सहानुभूति प्राप्त नहीं थी । सरकारी सिक्षा पढ़ी का काम प्रायः कायस्थ करते थे[1]। औरंगजेब के समय में तो सरकारी कर्मचारियों को पूरा वेतन मिलना भी दूभर हो गया था और उसके उत्तराधिकारियों के समय स्थिति और भी बिगड़ गयी थी अतः यह वर्ग असन्तुष्ट, फलतः, अत्याचारी था ।

वाणिज्य एवं उद्योग धन्धों में रत वर्गः

५- तीसरा वर्ग वाणिज्य एवं उद्योग धन्धों में लगे लोगों का था । इसमें सुनार, कंसार, सूची, सूत्रधार, संगार, तमोली, तेली, के तत्थार, नाभित, चितारे, सुहार, रंगरेज, भड़भूजे, कलार आदि के नाम रावविलास में आए हैं[2] । केशव ने वैद्यक का भी उल्लेख किया है[3]। उद्योग धन्धों और व्यापार की स्थिति भी बहुत कुछ असन्तोषजनक-सी थी । रीतिकालीन काव्य

---

१- मान - राव विलास, पृ० ३४ ।

२- सिलेह बसंत सुनार कंसार, सुची सुत्रधार भराए रंगार ।
सिलावट दह कुंभवि गहीर, कुलालस मालिय भाडय भीर ।।
तमोलिय तेलिय वृंद तत्थार, सिलीकर नाभित सबद्ध लवार ।
चितारे सुहारे सु कागदि लेख, सराफि वराफि सिले रंगरेख ।।
-मान- रा० वि०, पृ० ३४ ।

३- केसव ही भागे रिपु लोग,
ज्यों धन्वतरि आये रोग ।।
-के० ग्रं०, पृ० ५४२ ।

में चित्रित समाज के रहन - सहन को देखते हुए यह अनुमान लगाना समुचित-सम्मत नहीं होगा कि तत्कालीन सामाजिक जीवन का स्तर सामान्य रूप से बहुत ऊँचा था और उद्योग-धन्धे फल-फूल रहे थे । बड़े से उद्योग और व्यापार तो सम्राट् की एवं राजपरिवार व सामन्तों की तथा राजकीय अधिकारियों की कृपा पर निर्भर थे और यह कृपा जितनी अयाचित रूप से प्राप्त हो सकती थी उतनी ही अकारण छिन भी सकती थी । कलाकारों और कामगरों को अपनी आजीविका के सम्बन्ध में स्थिरता नहीं प्राप्त थी ।

कृषक वर्ग:

६- भौतिक दृष्टि से शोषण और जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा वर्ग कृषकों का है । भारत आरंभ से ही कृषि प्रधान देश रहा है । शास्त्रीय काल में भी परिमाण की दृष्टि से कृषि की ही प्रधानता रही । वस्तुतः कृषक ही राज्य के सामान्य नागरिक का प्रतिनिधित्व करता है । देश की लगभग अस्सी प्रतिशत जनता कृषि-कार्य में संलग्न है । कृषक - वर्ग गावों में बसता है उस समय तक बड़े-बड़े नगरों का अस्तित्व नहीं था और भारत की संस्कृति और सभ्यता का प्रधान वर्ग ग्रामीण ही था । उसकी आत्मा गांवों में बसती थी । उसके रीति और आचार का मूल स्रोत भी ग्रामीण समाज ही था । जनसंख्या और सांस्कृतिक महत्व की दृष्टि से प्रमुख वर्ग होने पर भी आर्थिक विपन्नता और राजनैतिक अधिकार-हीनता के कारण कृषक-वर्ग सामाजिक दृष्टि से बहुत महत्व पूर्ण स्थान नहीं रखता था । उसके जीवन में सादगी और सरलता ही नहीं थी अपितु विवशतावन्य अभाव और क्लेश भी थे । गांव के निवासियों को अल्पसंख्यक नागरिक हेय

दृष्टि से देखते थे[1] । समस्त भूमि पर सम्राट् का अधिकार था और भ्रष्ट प्रशासकों के उत्पीड़न एवं अत्याचार से दबा कुचला "गण्डस्योपरि अपरः पिडकः सम्वृत्तः" वाली कहावत को चरितार्थ करता था । पास कुछ तो था ही नहीं, जो कुछ था, बहुत कम था, और उस अभाव की नगण्य सम्पत्ति पर भी लोलुप प्रशासक वर्ग की और सम्राट् की भी गृद्ध-दृष्टि लगी रहती थी । अब तक होने वाले अकालों ने गरीबी में और भी आटा गीला कर दिया था । इतनी बड़ी संख्या में होकर भी भारत का भूमिपुत्र अपनी ही धरती में सामाजिक दृष्टि से महत्व हीन हो गया था ।

धार्मिक विभाजन:

७- भारत के सांस्कृतिक इतिहास में समाज को कर्म एवं शक्ति के आधार पर न बांट कर आरम्भ में कर्म और तत्पश्चात् जन्म के आधार पर विभक्त किया गया था इसलिए स्वभावतः सांस्कृतिक इतिहास का अन्वेता भारतीय समाज को जाति और वर्ण के आधारों पर ही प्रमुखतः विभक्त कर समाज का अध्ययन करता है । भारत सदैव से विभिन्न जातियों एवं संस्कृतियों का संगमस्थल रहा है । समीक्षाकाल में भी अनेक विजातीय तत्व भारत की सामाजिक रचना में उपस्थित थे । तुर्क, भूतपूर्व शासक होने के कारण और

---

१- कर है, मूंघि सराहि हूं, रहे सबै गहि मौनु ।
गंधी गंध, गुलाब को गंवई गाहकु कौनु ।।
† † † -बि०र०दो० ६२४ ।
वे न इहां नागर, बढ़ी जिन आदर तो आब ।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गंवई - गांव, गुलाब ।।
† † † -बि०र०दो० ५३८ ।
सबै सहत दुरि दारिदै नागरता के नावं ।
गयौ गरबु ह्वै गुन को गरबु गएं गंवारे गांव ।।
-बि०र०दो० २७६ ।

मुग़ल तत्कालीन शासक होने के कारण, हिन्दुओं के बाद, संख्या में सबसे अधिक थे। पद्माकर ने तुर्कों के तेग़ का उल्लेख किया है। वीरसिंह देव चरित में, मुग़ल और पठानों की अत्यन्त भीड़ होने की बात कही गई है[1]। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक साक्ष्य के अनुसार अरब, फारस, पुर्तगाल, इंग्लैण्ड, फ्रांस, डच आदि देशों के लोग भी अच्छी खासी संख्या में थे। भूषण के काव्य में फ्रांसीसियों, फिरंगियों, हब्शियों और तुर्कों के नाम आये हैं[2]।

हिन्दू (वर्ण व्यवस्था):

८- हिन्दू भारतीय समाज का सबसे बड़ा धार्मिक और वर्गीकृत वर्ग रहा है। हिन्दू समाज का ताना बाना वर्ण व्यवस्था के सूत्रों से निर्मित है। वर्ण व्यवस्था भारतीय समाज का अपना वैशिष्ट्य है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में यह बताया गया है कि ब्राह्मण विराट् पुरुष के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य उदर से तथा शूद्र चरणों से उत्पन्न हुए हैं[3]। गीता में योगिराज कृष्ण ने गुण-कर्म के आधार पर स्वयं चातुर्वर्ण्य की सृष्टि करने की बात कही है। वे

---

१- सूबर, मैना बाट बहीर। मुगल पठानन की अति भीर।
- के०वी०व०, पृ० ९९।

२- भूषन भनत फरांसीस स्वीं फिरंगी मारि,
हब्सी तुरक डारे उलटि बहाव है।
बेसत मे रूसतम खां को बिन डाक किया,
साल की सुरति मावु सुनी सो बावाव है॥
-भू०ग्र०पृ० १२०।

३- ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(पुरुष सूक्त)।

स्वयं को ही उसका कर्ता और कर्म मानने का आदेश देते हैं[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्मगत था। कालान्तर में यह कर्म और व्यवसाय का आधार वर्ण बन गया और वर्ण का आधार जन्म हो गया। इस प्रकार कर्म, वर्ण और जन्म एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप में संबद्ध होते चले गये। संस्कृति की उन्मेषावस्था में जीवन के हर क्षेत्र में उन्मुक्ति का वातावरण रहता है। कोई भी प्रक्रिया आरम्भ में ऋजु और निर्दोष रूप में प्रवर्तित होकर कालान्तर में जटिल और सदोष हो जाती है। वर्ण व्यवस्था के संबंध में यह बात पूर्णतः लागू होती है। आरम्भ में जो व्यवस्था कर्म के आधार पर चली और कर्म के परिवर्तन से ही जिसमें हेर-फेर संभव था वही आगे चल कर जटिल, जन्मगत आधार वाली बनती चली गयी। ह्रासोन्मुखकाल भारतीय संस्कृति के इतिहास में यदि पतन का नहीं तो संस्कृतिक गति-रोध और स्थिरता का काल अवश्य है। इसलिए वर्ण-व्यवस्था में, समीक्ष्य काल में जटिलता और संकीर्णता आ गया था। शादी-ब्याह, खान-पान और वेश-भूषा आदि में तो कठोर नियमों का पालन किया जाता था किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विभिन्न वर्ण अपना विशेष विस्मृत कर देने के बाद भी वर्ण विशेष में बने रहते थे और उससे प्राप्त होने वाली सभी सुख-सुविधाओं का उपभोग करते थे। उन्मुक्ति के स्थान पर बंधनकारी प्रवृत्तियां काम करने लगी थीं। पहले स्वकर्म में रत शूद्र की सामाजिक प्रतिष्ठा में कोई विशेष भेद और ऊंच-नीच का अन्तर नहीं माना जाता था किन्तु आगे चल कर ऊंच-नीच की भावना घर कर गयी और ह्रासोन्मुखकाल तक आते-आते स्थिति पर्याप्त बिगड़ चुकी थी। समीक्ष्य काल की वर्ण-व्यवस्था को इसी संदर्भ में देखना होगा।

---

१- चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

-श्रीमद्भगवद्गीता ४।१३।

९- रीतिकालीन काव्य में वर्णाश्रम व्यवस्था के विशद् सन्दर्भ प्राप्त होते है। सुन्दर दास के अनुसार भगवान ने वर्णाश्रम की व्यवस्था कर सभी को अपने-अपने कर्म का ज्ञान करा दिया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को अपने अपने विशेष बता दिये हैं[1]। केशव ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्तव्यों और विशिष्ट्यों का अलग-अलग उल्लेख किया है। पंडितगण गुणमंडित, क्षत्रिय धर्मप्रवर और समरत, वैश्य सत्यनिष्ठ और पाप से रहित, और शूद्र इन सब के सेवक होते है[2]। अन्य स्थान पर केशवदास विप्रों के लिए अध्ययन, राजन्यों के लिए प्रजापालन तथा खलबलदलन, और वणिक् वर्ग के लिए कृषि और व्यापार आदि के काम बताते है[3]। दास कवि के अनुसार भी जग में जो चार वर्ण आये है और इन सबके लिए प्रभु ने अलग-अलग उद्यमों की व्यवस्था की है और उद्यम के माध्यम के रूप में हाथ पांव दिये हैं[4]। सुन्दरदास

---

१- वर्णाश्रम धंधोध करि अपने अपने धर्म ।
ब्राह्मण, छत्रिय, वैश्य पुनि, शूद्र दिठाए कर्म ।।
-सु०ग्र०भाग १, पृ० १३ ।

२- पंडितगन मंडित गुन दंडित मति देखिये ।
क्षत्रियवर धर्मप्रवर युद्ध समर लेखिये ।
वैश्य सहित सत्य रहित पाप ठैक्ट भानिहे ।
शूद्र सकति विप्र भगति सीस जगत जानिये ।।
-के०ग्र०, पृ० २११ ।

३- विप्र पढ़त नरपाल प्रजनि पालत बल बल दुति ।
बनिबनि विविध उपन्य शूद्र कृषि गोकुल सो रति ।।
-के०ग्र० पृ० ६१८ ।

४- चारि वरन जेता में आये । सबको प्रभु उद्यम ठहराये ।
हाथ पाइ उद्यम की दीनी । तातें उद्यम करत प्रवीनी ।।
-दास - छन्द प्रकाश- पृ० ९१ ।

ने ब्राह्मण कहलाने वाले लोगों के लिए ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना एवं अत्यन्त पवित्र सुख के सागर में नित्यप्रति स्नान करना आवश्यक बताया है। ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह सिर पर ज्ञान-छत्र धारण किये हुए पूजा का प्रतिपादन करता रहे। वैश्य और शूद्रों को भी स्वकर्म के द्वारा आत्मलाभ करने का प्रयत्न करना चाहिए[1]।

ब्राह्मण:

१०- वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि है। केशवदास जी स्वयं ब्राह्मण थे, ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के प्रतिपादन में सर्वाधिक उत्साह दिखाते हैं। उनके अनुसार द्विज जाति को सब्ब सभी का प्रभु समझना चाहिये[2]। हम्मीर रासो में विप्रों की भलीभांति पूजा किये जाने का उल्लेख आया है[3]। केशव राजा के साथ-साथ ब्राह्मण को भी आदरणीय मानते हैं।

---

१- ब्राह्मण कहावै तौ तु आपहि को ब्रह्म जानि,
अति ही पवित्र सुख सागर में न्हाइये ।
क्षत्री कहावै तौ तू पूजा प्रतिपाल कर,
सीस पै एक ज्ञान छत्र को फिराइये ।
वैश्य तू कहावै तौ एक ही व्यापार कर आत्मा को लाभ-अनायास पाइये ।
शूद्र तू कहावै तौ तू शूद्र देह त्यागि कर सुंदर कहा द्विज रूप में समाइये ।।
-सु०ग्रं० - २, पृ० ३१९ ।

२- भूषण सूरज वंश को दूषण कलि को भानु
दास एक द्विज जाति को सबही को प्रभु जानु ।
-के०की०के०च०, पृ० ९ ।

३- चौहरान - हम्मीर रासो- पृ० १४९ ।

उनके विचार से राजा को मारने से स्वार्थ का और ब्राह्मण को मारने से परमार्थ का नाश होता है और संसार उसकी निन्दा करता है[1]। कविवर रत्नाकर ने भी जामदग्नि को बनेऊधुक्त अर्थात् ब्राह्मण होने के कारण ही अवध्य कहा गया है[2]। विज्ञान गीता में केशव ने हरि भक्ति से पहले द्विज भक्ति का उपदेश दिया है। क्योंकि ब्रह्म भक्ति से हरि-भक्ति स्वतः उत्पन्न होती है। नृपति को विप्रों की सीख सुननी चाहिए और ब्राह्मण को ब्रह्म के समान समझना चाहिए उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहिए और उनका चरणोदक लेकर आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिए। अहंकार छोड़कर भूदेव ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए[3]। भगवान् राम जी जनक के नाम से उन्होंने भी मथुरा-मंडल में सनाढ्य ब्राह्मणों के पाँव पूज कर ग्रामदान दिया था[4]। केशव तो यहाँ तक कहते हैं कि पंगु, मूक और अंध, अनाथ और आतुर सभी प्रकार के ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए[5]। ब्राह्मण सर्वथा अवध्य होता है। केशव ब्राह्मण को

---

१- जाय जमदग्नि जानतेऊ एक घरी माँझ।
होती जौ न न्यारी वह विरह बनेऊ की ॥
-के०क०र०, पृ० ८२।

२- ब्रह्म भक्ति कीजै नृपति उपजि परै हरि भक्ति।
तासे पहिले ही सुनै सिखावत द्विज भक्ति ॥
विप्रन की सब सीख सुनो यू। ब्राह्मण ब्रह्म में समान गुनो यू।
देहु सबै इक दुःख न दीजै। आशीष लो चरणोदक लीजै ॥
छाड़ि अहंकृत विप्रनि पूजो। भूसुर में एइ केशव दूजो।
काम सबै तेइ पूजन पूजै। ब्राह्मण पावहु पूजन पूजै ॥
-के० वि०गी०, पृ० २३०।

३- विधि सो पाँव पखार के राम जनक के नाँह।
दीन्हे गाम सनौढ़िका मथुरामंडल माँह ॥
-के०ग्र० पृ० ३६४।

४- पंगु ब्राह्मण गुंग अंध अनाथ राव कि रंक।
का होहि कि बिप्र भेद न जानिए करि संक ॥
पूजिए मन वचन कर्मनि प्रेम पुण्य प्रमान।
सावधान ह्वै देइये सब विप्र ब्रह्म समान ॥
-के० वि०गी०पृ० २३१।

सदैव वन्दनीय बताते हैं[1]। अर्थकथा में तो एक ऐसा भी प्रसंग आया है जहां चोर भी ब्राह्मणों को कष्ट नहीं देते और उन्हें छोड़ देते हैं[2]। सूत्र के अनुसार ब्राह्मण अपने परंपरागत दायित्वों का पालन कर रहे हैं उनमें से कोई कोई सामरिक योग्यताओं में भी प्रवीण है। अनेक रथसंचालन में दक्ष है, अनेक वेदपुराणों में कुशल है, बहुत से ब्राह्मण वेद स्मृति और ज्योतिष आदि का ज्ञान रखते हैं[3]। ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत भी अनेक उपविभाग हो गये हैं। आलोच्यकाल तक आकर यह व्यवस्था बहुत जटिल हो गई थी। रोटी-बेटी के संबंध करते समय केवल वर्ण का ही नहीं अपितु इन उपविभागों का भी ध्यान रक्खा जाता था और इनके नियमों और वर्जनाओं की कठोरता

---

१- है अदंड भूमेस सहाई मम तव सुनिये बड़ाई।
ऐस दास जब याकह दीवे चूक हीन अरि कौउन की वे॥
-के०ग०च० पृ० २००।

२- सूत काढ़ि डोरा बट्यो किए अनेक बार।
पहिरे तीन सिहुं बने राख्यो एक उबार।
माटी लीनी भूमि से पानी लीनो तास।
विप्र वेश लीन्यो बने टीका कीनी भाल॥
-व०म०क०, पृ० ४७।

३- † † † †
तब बनारसी पटा सिलोक दी आसीस इन लीनी धोक।
कहे चौधुरी आवहु पास तुम नारायन मैं तुम्ह दास॥
-व०म०क०, पृ० ४७।

४- किते विप्र कवि धनुष यंग रंगनु के देता।
किते रथनु असवार सुबस कीरति के देता।
किते पुरान प्रवीन किते जोतिस के जाता।
किते वेदविधि निपुन किते सुभ्रुतन के ज्ञाता॥
-सु०सु०च०, पृ० २९।

पूर्वक पालन किया जाता था । इनमें भी ऊँचनीच की दृष्टि का प्रवेश हो गया था । केशव दास ने सनाढ्य जाति को नर्मदा की भाँति पवित्र और अन्य उपजातियों से उत्कृष्ट बताया है[1] । मान ने रावविलास में ब्राह्मण उपजातियों में पुरोहित, भट्ट, पाठक, व्यास, तिवारी, चौबे और दुबे के नाम लिये हैं[2]।

क्षत्रिय:

१९- वर्ण व्यवस्था के सोपान में ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का स्थान आता है । इनका कार्य समाज में शांति और सुव्यवस्था बनाये रखना और ब्राह्मण, गौ आदि का पालन और रक्षण, रिपुओं एवं असामाजिक तत्वों का संहरण है[3]। वे अपनी बात पर अटल रहते हैं[4]। जोधराज क्षत्रिय का जादर्श बताते हुए कहते हैं कि उसे गर्व जाना नहीं जाना चाहिए, भूमि पर उकडू नहीं बैठना चाहिए, शरणागत का त्याग नहीं करना चाहिए, परस्त्री के सम्मुख लज्जा करनी चाहिए । अकारण झूठ नहीं बोलना चाहिए, रण में पीठ नहीं दिखानी चाहिए । एक अन्य स्थान पर हम्मीर-रासो में ही कहा गया है कि जो दीन का दुख देख कर उसका दुख दूर करने का प्रयास

---

१- सनाढ्य जाति सर्वदा यथा पुनीत नर्मदा - के०वी०के०च०, पृ०२३५ तथा ६ ।

२- पुरोहित भट्ट पाठक व्यास । तिवारिय चौबे दुबे सुप्रकास ।।
-मानव्य० वि०, पृ० ३४ ।

३- वह धर्म छत्रिन को प्रधान पुरान-वेद सदा कहै ।
द्विज-गऊ पालहिं रिपु उखारहिं सरन-पावहिं तन गहै ।
जग जुवा जुद्धहु को कबहुं सपनेहुं नहिं नाहीं करै ।
ऐसे परम रजपूत कौं रन गिरत बारंगन वरै ।।पद्मगं०पु० १५ ।

४- रजपूत की संपति यहै पति सदा अपनी राखिये ।
पति गयो पतिनी आदरै नहिं और की कह भाखिये ।।
-पद्मगं०, पृ० १६ ।

करता है, जो प्रजा पर प्रीति रखता है, और जो दूसरों के हित के लिए अपने प्राण त्याग देता है, ऐसा क्षत्रिय समर में अजेय होता है[1]। जो क्षत्रिय अबला और गाय की पुकार सुनकर के उसकी रक्षा के लिए नहीं निकल पड़ता उसका कुल पृथ्वी पर तो निन्दनीय होता ही मृत्यु के उपरान्त उसे स्वर्ग भी नहीं प्राप्त होता। अपने कर्तव्य - कर्म का निर्वाह न करने के कारण इहलोक में अकीर्तता और परलोक की हानि होती है[2]। क्षत्रिय कुलभूषण को युद्ध-क्षेत्र से पीछे पांव न धरने पर ही जगत में कीर्ति और सुरलोक में यश की प्राप्ति होती है[3]। क्षत्रिय युद्ध के लिए सोत्साह प्रयाण करता है युद्ध में जाते समय उसका सम्यक् शृंगार आदि किया जाता है। हम्मीररासो में युद्ध के लिए प्रस्थान करने से पूर्व सहस्र गोदान करने, सिर पर मौर धारण करने और सूर्य को नमन करने के पश्चात् खड्ग धारण करने का वर्णन आया है[4]। वहीं एक अन्य स्थान पर क्षत्रिय अपने शीश पर मौर रखने

---

१-(क) नहिं भोजन सोहि सरम्भ करै। उकरू नहिं बैठत भुम्मि धरै॥
सरणागत आवत नाहिं तवै। पर काम सबै मन माहिं लवै॥
जहाँ आवत प्राण न राख तहां। नहिं झूठ अकारन भाख तहां॥
रन में नहिं पीठ दई कबहूं। छत्रि आरति बन्धन सो अबहू॥
तहां मेलत आरति आरति ही। मुखते उचरै न टरै कब ही॥
- डॉ० हम्मीर रासो, पृ० ५०।

(ख) छत्रि दीनन को दुख हरै को प्रजा पर प्रीति।
प्रान तबै पर काज को छत्री समर अजीत॥ च०बा० हम्मीरहठ, पृ०२९।

२- छत्री सुनि की ना करै, तिय अरु गाय गोहारि।
पुहुमी कुल गारी चढ़ै नरग होइ मुख कारि॥ - उ०चि०, पृ० १४९।

३- दीन, सं०, पृ० २३९।

४- खड्ग गहन करि दान रख सिर मौर सु बन्धो।
कर्यो युद्ध को साज छत्र कुल सुरस सु संध्यो।
करि सूरज को नमन रख कर खग्ग संवारी॥
-चौष० हरा०, पृ० १४६।

राठौर, गौड़हार, चौहान, तोमर, चंदेल, बाघल, पौरव, पुन्डीर, पंवार, सेंगर, सोलंकी, बघेले डीची, डीचर, बुंदेले, बनाफर, बड़गूजर, सिकरवार आदि के नाम लिये हैं[1]।

वैश्यः

१९- वर्णव्यवस्था में वैश्यों का स्थान क्षत्रियों के बाद आता है। वैश्य वर्ण व्यापार - वस का प्रतिनिधित्व करता है। व्यापार-वस में लक्ष्मी(सम्पत्ति) की कृपा होती है। और लक्ष्मी से उन्मत्त होकर दीनदुखियों को त्रास देने आदि के रूप में वस का दुरुपयोग भी संभव है। इसलिए व्यापार - वस या सम्पत्ति वस का नियंत्र शासन वस द्वारा किया गया है। जैसा कि इनकी उत्पत्ति के इतिहास से स्पष्ट है ये उत्पादन और निर्माण के कार्य करते हैं। वर्णव्यवस्था के विकास की आरम्भिक अवस्था में ये कृषि और वाणिज्य आदि के कार्य करते थे किन्तु कृषिकर्म संभवतः अधिक दिनों तक इनके एक मात्र अधिकार में नहीं रहा और समाज के वैश्येतर लोग भी इसमें भाग लेने लगे होंगे। वाणिज्य-कर्म काफी समय तक अधिकांशतः वैश्य वर्ग ही करता रहा है इसका परिणाम यह हुआ है कि वैश्य और वणिक् या हिन्दी का बनिया शब्द एक दूसरे के पर्याय हो गये। पारम्परिक रूप में अधिक दिनों तक एक ही कार्य में संलग्न रहने के कारण सभी भारतीय वर्णों ने अपने-अपने कार्यों में विशेष दक्षता और कौशल प्राप्त कर लिया

---

१- कूरम राठौर गौड़ हाड़ा चहुंवान मौर,
तोमर चंदेल बाघेली बंस बितवार है।
पौरव पुंडीर परिहार औ पंवार भेल,
सेंगर सिसौदिया सुतंकी बितवार है॥
बुरको बघेले डीची डीचर बुंदेले बनि,
बारहे बनाफर सदा ही हतवार है।
बीर बड़गूजर बखानत सिकर बार,
होत अवतार ये करत निरार है॥

रव -पृ०पु०च०पु० १४।

है । इस दृष्टि से आर्थिक एवं व्यापारिक कार्यों में वैश्यों ने असाधारण कौशल एवं असामान्य दक्षता प्राप्त की है । अतीव्यकाल में भारत आने वाले यात्री मनूची और तवर्निएर दोनों; और तवर्निएर विशेष रूप से, भारतीय वणिक् की गणित संबंधी और व्यापारिक योग्यता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं । आलोच्यकाल के काव्य में वैश्यों की लाभ-दर्शी दृष्टि की अनेकधा प्रशंसा की गई है । दीनदयाल ने बाजार का रूपक लेते हुए यह बताया है कि वहां अनेकानेक दूकानें सजी हुई है और वणिक् अपनी-अपनी दूकानों पर बैठे है । कवि अन्योक्ति के माध्यम से अपने मंतव्य को प्रकट करने के लिए खरीदार को सलाह देता है कि वह अपनी धन-सम्पत्ति यहां न गवाये वह घर में काम आयेगा यहां तो सब लूटने वाले है । बनिया अपने बाप को भी ठगने में नहीं हिचकता और अपनी मां अर्थात् जन्मभूमि को तो वह दिन रात ठगता ही रहता है । गिरधर कविराय संसार के लोगों को उद्बोधित करते है कि वैश्या और बनिया मतलब के यार होते हैं[1] । स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर वे किसी के नहीं होते । अन्य वर्णों की भांति इनमें भी उपजातियां रही होंगी जैसे कि आज भी हैं किन्तु इनके उल्लेख काव्य में प्रायः नहीं मिलते । कुछ ऐसे व्यवसायियों और व्यापारियों के उल्लेख अवश्य मिलते हैं जिनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह निश्चित रूप से वैश्य ही थे ।

---

१- बनिया अपने बाप का ठौ न लावै बार ।
निसि बासर बनती ठौ वहां लेत अवतार ।।
-गिरधर सा० ग्र० पृ० २५० ।

कह गिरधर कविराय सुनो रे सबरे दुनिया ।
मतलब के ही यार होत बेरया और बनिया ।।
-गिरधर सा० ग्र० पृ० ९१ ।

शूद्रः

१- शूद्र विराट्-पुरुष के चरणों से उत्पन्न और अन्य तीन वर्णों के सेवक माने गये हैं। वहाँ एक ओर ब्राह्मणों का काम ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में समाज को आगे बढ़ाना, क्षत्रियों का विशेष सामाजिक सुरक्षा, शांति और सुव्यवस्था और वैश्यों का कार्य समाज का भरण-पोषण है उसी प्रकार शूद्रों का कार्य इन सभी वर्णों की अर्थात् व्यापक रूप में समाज की सेवा करना है। शूद्र जाति के हाथ में शिल्पबल दिया गया था। याज्ञवल्क्य ने "शिल्पैर्वा विविधैर्-जीवेत् द्विजातिहितमाचरन्" की व्यवस्था बतायी है। इनमें भी भिन्न-भिन्न शिल्पों के लिए भिन्न जातियों का विभाग कर दिया गया था। यह शिल्पबल शूद्र-बल है।..... इस दृष्टि से शूद्रबल का नियंत्रण व्यापार-बल के द्वारा किया गया[1]। इस वर्ग के अन्तर्गत समाज के अनेक छोटे-मोटे काम करने वाले लोग आते हैं। धोबी, कुम्हार, कुम्हार, भंगी, लुहार, दर्जी, चुड़िहार, बढ़ई आदि इसके अन्तर्गत आते हैं। वस्तुतः आजकल शूद्र और अछूत शब्द प्रायः पर्याय से हो गये है किन्तु वर्णगत विभाजन के आरम्भ में ऐसी धारणा नहीं थी। वर्णविभाजन के अन्तर्गत शूद्र उन्हें कहा जाता था जो समाज के सेवार्थ शारीरिक श्रम करते थे। आरम्भ में उन्हें अन्त्यज एवं हीन भी नहीं समझा जाता था। ये भावना कालान्तर में विकसित हुई। आलोच्य काल के काव्य में इनमें से अनेक उप जातियों के उल्लेख मिलते है। एक स्थान पर दीनदयाल अन्योक्ति के लिए धोबी के व्यवसाय का आधार लेकर कहते है "ऐ धोबी मेरा निवेदन है कि तुम ऐसी धुलाई करो जो फिर कभी गन्दी न हो[2]।" सुन्दरदास ने धोबी, कुम्हार, दर्जी, बढ़ई और

---

१- पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी-वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ०२०६।

२- हे रे मेरे धोबिया तोसो भाखत टेर।
ऐसी धोनी धोय जो मैली होहि न फेर॥
-दीन - ग्र० पृ० ११९।

लोहार के कर्तव्यों का उल्लेख किया है। धोबी कपड़े धोता है, कुम्हार मिट्टी का काम करता है, बढ़ई और लोहार क्रमशः लकड़ी और लोहे के काम करते हैं। दर्जी कपड़े सिलता है जिसके लिए सुई के प्रयोग का उल्लेख हुआ है[1]। दीनदयाल ने गूजरिन, किरातिन और पनिहारिन के नाम लिये हैं। गूजरिन या अहीरिन दूध दही आदि से संबंधित गृह कार्य करती है। दही में पानी डाल कर मथने के स्थान पर पानी में दही डाल कर मथरही है। इसलिए कवि उसे श्रम व्यर्थ न करने का उद्बोधन करता है। किरात वन्य जाति है इसलिए किरातिन वन के मूंगों को माणिक्यमुक्ताओं से अधिक मूल्यवान् समझ कर, माणिक्यमुक्ताओं को त्याग देती है। पनिहारिन तलाशय में लोगों से झगड़ती रही है और खाली घड़ा लिये घर चली जा रही है वहां उसे अपने पति की डांट खानी पड़ेगी[2]। इनके अतिरिक्त दीनदयाल के काव्य में माली, कुलाल, दर्जी के नामों और कामों का उल्लेख आया है। माली बाग बगीचे आदि की व्यवस्था का काम करता है। उसके बाग में चन्दन का विशाल वृक्ष है। कुलाल या कुंभार मादक वस्तुओं को तैयार करते और बेचते हैं। मादक वस्तुओं के संपर्क के कारण उसे भी मद हो गया है, कपड़े सीते-सीते दर्जी को न जाने कितने दिन बीत गये

---

१- कपरा धोबी को गहि धोवै। माटी बपुरी को कुम्हार॥
सुई बिचारी दरिबिहिं सीवै। सोना तावै घरि सुनार॥
लकड़ी बढ़ई को गहि छीलै। लाल सु बैठी घरै लुहार॥
-सु०गृ-पृ० ५२३।

२- बारि बिलोवै डारि दधि करी मांथरी गूजरि।
ह्वै है श्रम तेरो वृथा नहिं पैहै घृत डारि॥
गुंजन को बन देखिके मुकुतन दीनी त्यागि।
अरी बबूक किरातिनी थिक थिक तेरी लागि॥
पनिहारी डहि सर परे सरसि रही सब पाइ।
रीतो घट है घर चली उठै मारिहै नाइ॥
-दी०गृ० पृ० २३५-२३६।

है[1] ।

चातुर्वर्ण्येतर:

१४- कुछ ऐसी जातियों के उल्लेख भी मिलते हैं जिन्हें चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत रखने में कठिनाई होती है । इनमें कायस्थ प्रमुख है । किसी क्षेत्र में यह अपने को ब्राह्मण कहते हैं कहीं इन्हें क्षत्रिय वर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं और कहीं शूद्र ही समझा जाता है । काव्य में इसप्रकार के उल्लेख आये हैं जहाँ इनके कार्यों की चर्चा है । ये लोग प्रशासन सम्बन्धी लिखा पढ़ी में अत्यन्त निपुण होते हैं । प्रशासन के छोटे बड़े पदों पर लेखा जोखा रखने और लिखने - पढ़ने का काम करने के लिए इन्हें नियुक्त किया जाता था । रावविलास में महाराजा जगतसिंह के वैभव और नगर का वर्णन करते हुए मानकवि ने बताया है कि वहाँ कई हजार कायस्थ बसते हैं और विभिन्न प्रकार की लिखा पढ़ी का काम करते हैं[2] । राज-दरबार और प्रशासनिक कार्यों से संबद्ध होने के कारण ये दरबारी सभ्यता में विशेष दक्ष होते थे । केशवदास जी स्वयं दरबार से संबद्ध थे और अत्यंत व्यवहार-कुशल थे, कायस्थों की प्रशंसा करते हुए बताते हैं वे अत्यन्त साधु प्रकृति के, निर्लोभी और सच्चे होते हैं, उन्हें धर्माधर्म और कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान रहता है । और वे राजकीय शिष्टाचार में अत्यन्त निपुण होते हैं[3] ।

---

१- माली तेरे बाग में चंदन लगी सिवाल--।।
जैसो मद में है भरो ताकी करो पिछान ।
यहि कुलाल को देखिए यही प्रपंच निधान ।।
दरबी सीवत तोहि में दिन बहु बरने कौन ।।
-दीन-गृं० पृ० २३३-२३४ ।

२- बसैं तहं कायथ केइ हजार । सिवैं बहु लेख अलेख सिकार ।।
-मान-रा० वि० पृ० १४ ।

३- परम साधु कायथ बखानिए, निर्लोभी साचो मानिए ।।
जाने धर्माधर्म विचार जाने आनित नृप व्यवहार ।।
-के० दो० के० च प्रकाश ११ छन्द ३ ।

## वर्ण व्यवस्था की पतनोन्मुख स्थिति : ब्राह्मण-

१५- वर्ण व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर आरम्भ हुई थी । वस्तुतः वर्णव्यवस्था हिन्दू संस्कृति का एक ऐसा वैशिष्ट्य है जिसका समतुल्य किसी भी जाति की संस्कृति में उपलब्ध नहीं है । जिस पुरुषसूक्त[1] में सभी वर्णों की उत्पत्ति का इतिहास बताया गया है उसमें यह दर्शनीय है कि चारों वर्ण एक ही विराट् पुरुष के शरीर के अवयव है और जब ब्राह्मण को मुख तथा शूद्र को विराट् पुरुष के चरणस्वरूप बताया जाता है तो ब्राह्मण को इस रूप में बड़ा बताने का प्रयोजन कदापि नहीं है कि उसका महत्व शूद्र की हीनता का कारण बन जाय । जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर में मुख, हाथ, उदर एवं चरणों का समान महत्व है उसी प्रकार भारत की सामाजिक रचना में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र चारों वर्णों का अपना अपना महत्व है और एक के महत्व में अनिवार्यतः दूसरे की हीनता नहीं सिद्ध होती । अपितु हिन्दू वर्ण-व्यवस्था ने तो वह आधार प्रदान किया जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का समाज में एक निश्चित स्थान और महत्व निर्धारित हो सका । डा० राधा कृष्णन् के अनुसार "हिन्दू-वर्ण-व्यवस्था हिन्दुत्व पर बाहर से पड़ने वाले प्रभावों और तज्जन्य समस्याओं का समाधान सिद्ध हुई । यह एक ऐसा माध्यम थी जिसके द्वारा हिन्दुत्व ने विभिन्न जनजातियों को अपने भीतर लेकर उन्हें सभ्य और सामाजिक बनाया[2]।" इसके आगे हिन्दू वर्ण-व्यवस्था की आधार - भूत मान्यता और कारण को बताते हुए डा० राधा कृष्णन् के अनुसार हर समाज में ऐसे विभिन्न सक्रिय व्यक्ति समूह होते है जो समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं । चूंकि यह विभिन्न समूह एक ही एक सामान्य लक्ष्य की पूर्ति के लिए क्रियाशील रहते हैं इसलिये वे

---

१- ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।
-पुरुषसूक्त ।।

२- राधाकृष्णन् - द हिन्दू व्यू आफ़ लाइफ, पृ० ७५ ।

एकता की भावना एवं सामाजिक बन्धुत्व की दृढ़ता में आबद्ध होते है। सांस्कृतिक और आध्यात्मिक, सैनिक एवं राजनैतिक, आर्थिक और मकशल श्रमिक - ये वर्ण-व्यवस्था के चार आधार- स्तम्भ हैं। इस प्रकार मानव जीवन के विभिन्न कर्तव्य कर्म स्पष्टतः पृथक कर दिये गये और उनके विशिष्ट एवं पूरक स्वरूप को मान्यता दी गयी। हर वर्ण का अपना सामाजिक प्रयोजन है उसकी अपनी आचरणसंहिता और परम्पराएं है ----। हर समूह अवांछित रूप से अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होने की स्वतंत्रता रखता है। विभिन्न वर्णों के कार्य समग्र समाज के लिए समान महत्व के समझे गये है। अध्यापक की पुनीतता, योद्धा का शौर्य, वणिक् की सत्यनिष्ठा और श्रमिक का धैर्य और उसकी कर्मण्यता सभी सामाजिक समृद्धि के समान रूप से योग देते है। प्रत्येक की अपनी पूर्णता है'।" किन्तु जिस व्यवस्था को इतने सद्भाव और ठोस लोकमंगल की धारणा के आधार पर बनाया गया, जिसका आधार गुण और कर्म थे, जो बाह्य तत्वों को आत्मसात् कर, विभिन्न सामाजिक समूहों को उचित और वैध महत्व देने के लिए निर्मित हुई थी वही धीरे-धीरे सत्वहीन, पतनोन्मुख और विकृत होती गयी। सद्भाव- मूलक व्यवस्था ने दुर्भावनाओं के बीज बोये। ठोस व्यवस्था के आधार पर वर्ण-विभाग का भान बोझिल और जर्जर होने लगा। संघटन और समन्वय के लिए जो संगठन तैयार किया गया था वह विघटन और असामंजस्य का हेतु बना। कर्म और गुण के स्थान पर जन्म और पाखण्ड के आधार पर अयोग्य और अवांछनीय व्यक्ति अनुचित स्थानों पर बने रहे। विजातीय तत्वों को अपने में लेना और उनके लिए सामाजिक रचना में एक विशिष्ट स्थान देना तो दूर रहा अपने ही समाज में अनेक कटघरे बन गये। व्यष्टि और विराट् धारणा के स्थान पर संकीर्णता और हीनता का वातावरण उत्पन्न हो गया। वहां सभी को समान महत्व का का स्थान प्राप्त था। वही एक वर्ण दूसरे वर्ण को, एक उपजाति दूसरी उपजाति को हीन समझने लगी।

---

१- राधा कृष्णन् - द हिंदू व्यू आफ़ लाइफ़, पृ० ७६-७७।

हर वर्ण अपना कर्तव्य तो भूलने लगा किन्तु अपने अधिकार पर अपेक्षा-कृत अधिक और अवांछनीय बल देने लगा । यह प्रक्रिया आरम्भ तो बहुत पहले ही हो गयी थी । मनुस्मृति आदि ग्रन्थ शूद्रों के प्रति अपने उदार और सहिष्णु नहीं है किन्तु मध्योत्तरकाल तक आते-आते, सांस्कृतिक पराभव की प्रक्रिया की चरमावस्था के परिणामस्वरूप वर्ण-व्यवस्था में जितना गंदलापन आया उतनी ही दुरूहता भी आयी । छुआछूत, खानपान और अन्य प्रकार के सामाजिक आदान-प्रदान के नियम अधिकाधिक कठोर होते गये । वृन्द कवि को यह सलाह देने की आवश्यकता प्रतीत हुई कि कुछ करने से पूर्व सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए । किसी का अन्नजल ग्रहण कर लेने के बाद वर्ण कुल आदि के सम्बन्ध में पूछताछ करना उपयुक्त नहीं है[1] । विप्र, विचार के स्थान पर आचार और कर्मकाण्ड के क्षेत्र में अतिवादी हो गये[2] । कवि नागरीदास लिखते हैं कि अनेक विप्रों ने अपना धर्म छोड़ दिया है और वे अब पवित्र आचरण वाले और इन्द्रियजित् नहीं रह गये हैं अपितु अपनी विभिन्न इन्द्रिय बुभुक्षाओं की सम्पूर्ति में ही लगे रहते हैं । सुपात्रों की संख्या थोड़ी है, कुपात्रों की संख्या अधिक हो गयी है । द्विजत्व का चिह्न जनेऊ मात्र शेष रह गया है । द्विजकुल यद्यपि कलिकाल जन्य अवगुणों से युक्त हैं फिर भी समर्थ है । जो इनकी सेवा करे वह तो भला समझा जाता है पर इनकी सेवा न करने वाले की निन्दा होती है । यद्यपि इनमें अनेकानेक अवगुणों का वास है तथापित यह सभी वर्णों

---

१- जो करिए सो कीजिये पहिले की निहार ।
पानी पी घर पूंछिबो नाहिं न भलो विचार ।।
वृन्द सा० प्रमा० पृ० १९० ।

२- अति करहिं विप्र आचारा । दै चौका लीक निनारा ।।
सु०गृ० पृ० १३८ ।

के सिरमौर हैं, धरती के देवता हैं[1] । दरिया साहब का कटाक्ष इससे भी पैना और तीखा है । शाक्तों की निन्दा करने वाला वैष्णव ब्राह्मण अपने घर में शाक्त स्त्री रखता है अपने को बड़ा कुलीन कहने वाला यह ब्राह्मण उस मांस भक्षिणी स्त्री के साथ सहवास करता है, उसका चुंबन लेता है । वह सरासर झूठ बोलता है फिर भी कन्धे पर जनेऊ धारण करता है[2] । वेदाध्ययन तो किसी सीमा तक अब भी शेष है पर जीव हत्या करके मांस-भक्षण करने वाले वेद के पठन-पाठन से क्या लाभ ऐसे ब्राह्मण

---

१- बहुविप्रन तबि दीनी धर्म- - - - - - - - - - ।।
सिसन उदर पोषन कीप्रीति शुचि आचार न इन्द्रीजीत ।।
मातक घोरे बहुत कुपात्र रही बु एक जनेऊ मात्र ।।
द्विज कलि कुल औगुन भरे तऊ समर्था दोष ।।
भलो करै सेवै इन्हे पुरो ओघे होय ।।
यद्यपि औगुन हू भरे तऊ बरन के भूप ।।
कही है वेद ब्रह्मन्य हरि विप्रमान की रूप ।।

- ना० स० पृ० ४१

२- सक्त जीव का कहे बुझाई । पंडित के घर जीव न खाही ।।
अपने ब्राह्मन बिरनो होई । घर में साकठ मेहरि होई ।।
मासु खाय संग सूतई जाई । ताके मुख चुंबन गहि लाई ।।
कहत फिरै हम बड़ा कुलीना । घरवा में तुरकिन नहिं बीना ।।
झूठ कहे सब झूठ सुनावै । नौमुख कांध जनेऊ लावै ।।

- द० ग्रं० पृ० ८४ ।

की बात मान कर संसारी व्यक्ति कैसे मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मांस मछली भक्षण करने वाला ब्राह्मण अन्ततः नर्कगामी होता है[1]।

क्षत्रिय एवं वैश्यः

१६- इसी प्रकार क्षत्रिय वर्ण भी अपना कर्तव्यकर्म भूल बैठा है। समाज में शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने, सत्य और न्याय की रक्षा करने वाला उत्तरदायी वर्ग स्वयं आततायी और अत्याचारी बन गया है। उसे स्वयं कुकर्म करते हुए लज्जा नहीं आती। रक्षक भक्षक बन गया है, पालक ने संहारक का रूप धारण कर लिया है। वह स्वयं प्रजा की संपत्ति और प्राणों का हरण करने लगा है। गौ और ब्राह्मणों का प्रतिपालन करने वाला क्षत्रिय स्वयं उनके विनाश का हेतु बन गया है वह स्वयं चोर है और उन्हीं के संपर्क में रहता है सत्य का उसमें लेशमात्र भी शेष नहीं रह गया है। उसका बाह्य स्वरूप मूछों का तना होना, चढ़ी भृकुटि और हाथ में कृपाण तो अब भी ज्यों का त्यों है किन्तु रण से भागते उसे लज्जा नहीं आती। सौजन्य और सौहार्द, उदारता और विशाल हृदयता, सहिष्णुता और सदाशयता, सत्यनिष्ठा और समाजशीलता जैसे गुण उसकी प्रकृति के अंग नहीं रहे। थोड़ी सी भूमि के लिए पिता पुत्र की हत्या कर देना उसके सहज हो गया है। अपने कर्तव्य-कर्मों से विहीन क्षत्रियों ने वणिक् कर्म में दक्षता प्राप्त कर ली है[2]। लोभ और स्वार्थ उसके स्वभाव के अंग हो गये हैं। करुणा, शक्ति और परमार्थ उसके पास नहीं फटकते, असहाय की सुन्दर स्त्री के साथ वे बलात्कार करते हैं। रोगी और बलहीन हो गये हैं। दैन्य भी

---

१- ब्राह्मन वेद पढ़े का पावै। बीच मारि मासु मुख लावै॥
ताकर बात मानै संसारा। कैसे तेहि उतरहिं पारा॥
मासु मछरी ब्राह्मन खाई। कौ कस कैरि जम पर जाई॥
-दरिया-गं, पृ० ९१।

२- ना०स०, पृ० ४९।

उनकी प्रकृति का सहज अंग हो गया है[1]। वैश्यों में भी परम्परागत गुण नहीं रहे। अधर्म और पाप का उनके यहां भी बोल बाला है। वे मलिन वस्त्र धारण करते हैं। परमार्थ का चिन्तन तो कभी करते ही नहीं अपने कर्त्तव्य से भी विरत है। अन्य वर्णों की सेवा से मुंह मोड़ते हैं कपट और मिथ्याचरण उनके लिए स्वाभाविक हो गये हैं। राह छोड़ कर कुराह पर चलते है, चोरी करते हुए भी साहूकार कहे जाते हैं[2]। गिरधर कविराय लोगों को यह बताते कि बैरवा और बनिया मतलब के यार होते हैं। बनिया अपने बाप को भी ठगने में संकोच नहीं करता। जिस धरती की कोख में उसने जन्म लिया है उसी के निवासियों को दिन रात ठगता रहता है[3]।

सूत्र:

१७- जब उच्चवर्णों की यह दशा है तो तथाकथित निम्नवर्ण का तो कहना ही क्या? वास्तुतः जिस प्रकार सद्गुण और चारित्रिक स्वास्थ्य समाज के उच्च वर्ग या नेतृ वर्ग से चलकर नीचे की ओर विभिन्न धाराओं में प्रसरित होते हैं, उसी प्रकार दुर्गुण और चारित्रिक अधःपतन भी उच्च वर्ग में आरम्भ होकर निम्नवर्ग की ओर फैलता है, और अपेक्षाकृत अधिक तेजी से फैलता है। नागरीदास के अनुसार जब मुक्त वर्णों की यह अधोगति है

---

१- तिनके एक लोभ को स्वारथ। दया मया नाहीं परमारथ॥
बा निर्बल के सुन्दर नारी। गहि बानक बहले बिभिचारी॥
अंग अरोग सदा बलहीन। घर कर ही भाग्य हे दीन॥
-ना०स०पृ० ४९।

२- बैरथ बंश महापापी भये। मनहंमंग धर्मनि को लये॥
मलिन बस्त्रनि महा कुवीच। परसै उपवस नहान सबीन॥
परमारथ कबहूं नहिं करै। चतुरानन सेवा से टरै॥
बणिज कपट परिपाटी पढ़े। मिथ्या महा विवादनि बढ़े॥
छांडत राहरू चलै कुवाट। चोरी करै कहावै साह॥

३- गिरधर०ग्रा०रत्नाकर, पृ० ९१। -ना०सम्पृ० ४१।
गिरधर०ग्रा०प्रभाकर, पृ० २५०।

तो शूद्र शूद्रों की दशा तो और भी चिन्तनीय होना स्वाभाविक है। वे लोग भी अपना कर्तव्य-कर्म भूल बैठे हैं। अनेक प्रकार के अकरणीय कार्य करने लगे है। उनके पास कर्मों की सूची अकल्पनीय है[1]। इस प्रकार समाज के सभी वर्णों में अधःपतन और अराजकता व्याप्त है। ब्राह्मण गले में जनेऊ धारण करने के बाद भी ब्रह्म से अनभिज्ञ है, क्षत्रिय शौर्यहीन और क्षात्रधर्म-विहीन है, वैश्य और शूद्र भी अपने अपने कर्तव्यों को भूल चुके हैं[2]। यह वर्णव्यवस्था के अधःपतन की पराकाष्ठा का काल है। किन्तु ऊपर उद्धृत साक्ष्य पर विचार करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि ये टिप्पणियाँ लोक हित-चिंतक संत कवियों की हैं।

१८- इस व्यापक अधःपतन और लोकक्षोभ का ही परिणाम है कि अनेक लोग जाति-पाँति को निरर्थक समझ कर उसका खण्डन करने लगे थे। जब कोई व्यवस्था अपना अभिप्रेत सिद्ध नहीं करती तो उससे पहले समाज का चिन्तक और भविष्यद्रष्टा वर्ग उस पर प्रहार और आक्रमण करता है किन्तु यह वर्ग योगी और निष्प्राण व्यवस्थाओं पर जितने ही क्रूर प्रहार करता है जनसाधारण उनसे उतना ही चिपका रहना चाहता है। उसे इन जर्जर और सड़ी-गली परम्पराओं से एक प्रकार का मोह हो जाता है। यह भविष्य द्रष्टा

---

१- मुख्य वर्न हू कि बु यह गति। शूद्रनि छुद्रनि की कहा मति॥
तपसी रूप परिग्रह लेत। जानत नहीं आपनो भेष॥
विविध अकर्मन के परकार। तिनके बसत है विस्तार॥
पापकर्म को कहा लगि कहै। अंत्य शूद्र कौ का लहै॥ ना०स०, पृ०४२।

२- सूत मरे मरिहैं मेलि भयो छिव ब्राह्मन ह्वै कर ब्रह्म न जान्यो।
क्षत्रिय ह्वै कर खाग धर्‌यो सिर ह्वै गय वैश्य सो मन मान्यो।
वैरय भयो वपु की वय देखत मूठ प्रपंच बनिज्य ठिठान्यो।
शूद्र भयो मिल शूद्र शरीरहिं सुन्दर आपु नहीं पहिचान्यो॥
-सु०सं० पृ० ५८६।

विचारक की बात सुनकर झुंझला पड़ता है। जाति व्यवस्था के संबंध में यह पूर्णतः सत्य है। आलोच्य-काल से पूर्व, तुलसी जैसे लोककवि ने भी वर्ण-व्यवस्था के संबंध में छके-छके, उसकी अनावश्यकता के संकेत देने आरम्भ कर दिये थे, और तुलसी से भी पूर्व कबीर के प्रहार, समाज की अन्ध बर्बर मान्यताओं, थोथे विश्वासों और अवांछित पाखण्डों के साथ ही वर्ण व्यवस्था पर, भी अत्यन्त निर्मम और कठोर थे। आलोच्यकाल तक आते-आते ये प्रहार अधिक गुरुतर और व्यापक होते गये। दरिया साहब के विचार से जाति पांति कोई नहीं पूछता- पूछ तो वास्तव में निर्मल ज्ञान की होती है। संतों की जाति और अजाति तो इस बात पर निर्भर है कि उसे मोक्ष मिला या नहीं जिसे निर्वाण पद प्राप्त हो गया वह उत्तम और जिसे नहीं प्राप्त हुआ वह निकृष्ट है[1]। पलटू साहब के अनुसार ब्राह्मण, शूद्र, के विभाजन निराधार है। हम सबमें एक ही आत्म-तत्व विद्यमान है। फिर यदि ब्राह्मणत्व का चिह्न जनेऊ है और ब्राह्मण उसे धारण किये रहता है तो ब्राह्मणी के गले में भी वह चिह्न होना चाहिए, वैसा कि होता नहीं, और जिसके अभाव में उसे शूद्र स्त्री समझा जाना चाहिए और शूद्र स्त्री का बनाया खाने वाला व्यक्ति ब्राह्मण कैसे है यह बात समझ में नहीं आती[2]। यह विचार संत कवियों का ही नहीं है। महाकवि केशव भी इस पक्ष में है कि सभी की उत्पत्ति रज-वीर्य से हुई है, सभी विनाशशील है, सभी एक प्रकार के हैं, किसी में कोई वैशिष्ट्य नहीं है, सभी कुम्हार के एक आवां के बर्तनों जैसे हैं। जिस पर भी यह ऊंचनीच का विचार करना और इस निराधार को बढ़ाना व्यर्थ है। वेद छोड़ देने के बाद ब्राह्मण और शूद्र एक से दो जाते हैं, एक की पावनता और दूसरे की अपावनता का प्रश्न नहीं रह

---

१- जाति पांति नहीं पूछहु, पूछहु निर्मल ज्ञान।
संत के जाति अजाति है जिन्हि पद पायो निर्वाण॥
-दरिया-ग्रं०, पृ० २८९।

२- पलटू बानी २।४४।

जाता[1] ।

आश्रम:

१८- वर्ण-व्यवस्था के साथ-साथ आश्रमों के रूप में व्यक्ति के जीवन का चार भागों में बांट दिया गया था । आरंभ में ब्रह्मचर्य, तत्पश्चात् गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और अन्ततः संन्यास । ब्रह्मचार्याश्रम में व्यक्ति गुरुकुल आदि में वेदाध्ययन करता था । उसके बाद विवाह कर गृहस्थ जीवन व्यतीत करता, पुत्रों के बड़े हो जाने पर घर का काम काज उन्हेंसौंप कर सपत्नीक वन को चला जाता और अंत में एक बार आकर, पारिवारिक परिस्थितियों का पुनः अवलोकन कर, तत्संबंधी अंतिम व्यवस्था कर संसार से विराग ले संन्यास आश्रम में प्रवेश करता । "वर्ण व्यवस्था जहां सामाजिक संगठन दिखाती है, वहां आश्रम व्यवस्था एक ही व्यक्ति को समय भेद से लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की उन्नति का साधन करना सिखा देती है । केवल लौकिक उन्नति के चक्कर में पड़ हम आध्यात्मिक दृष्टि से विमुख न हो जावें और मनुष्य जीवन का फल ही सर्वथा न खो बैठें । इसका उपाय आश्रम-व्यवस्था कर देती है[2] । आलोच्य-काल में वर्ण व्यवस्था के साथ साथ आश्रम विधान के उल्लेख भी मिलते हैं किन्तु स्पष्टतः आश्रम व्यवस्था का अस्तित्व नाम - मात्र को ही रह गया था । व्यक्ति के जीवन के सभी व्यापार गार्हस्थ्य में ही सम्पन्न होते थे और सर्वसामान्य रूप से या किसी व्यापक पैमाने पर भी आश्रम व्यवस्था के प्रचलित होने की संभावना नहीं

---

१- है उपवे रवबीवहि ते विनसे हू सबै छिति थाइ के छडि ।
एक - से देखु कहू न विसेखु न्यों एके उन्हार कुम्हार के भाड़ि ।
तापर ऊंच औ नीच विचार वृथा बकवाद बढ़ावत चाडि ।
वेदनि मूंदु, किधौ इन दुंदु कि सुंदु अपावन पावन पाडि ।।
-देव० दे० सु०, पृ० २१ ।

२- गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी- वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ०२०८ ।

प्रतीत होती ।

अनेकता में एकता:

भारत आरंभ से ही विभिन्न संस्कृतियों का संगम स्थल रहा है । इसीलिए भारतीय संस्कृति का प्रमुख वैशिष्ट्य अनेकता में एकता का विधान तथा एकता में अनेकता की रक्षा रहा है । भारतीय इतिहास का अद्यतन ज्ञात प्रथम ऐतिहासिक काल, यहां आर्यों के आगमन से आरम्भ होता है । तबसे लेकर अब तक विदेशी और विजातीय यहां आते रहे हैं । अपने साथ वे अपनी संस्कृति और सभ्यता लाते, इस देश की धरती में बसते, यहां के लोगों से घुलमिल जाते और अन्ततः यहीं के बन जाते रहे है । सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत काल में भारत में विजातीय तत्वों को पचा कर अपने से मिला लेने की अद्भुत शक्ति रही है । भारतीय जन का निर्माण करने वाले विभिन्न तत्वों अनार्य, आर्य, शक, हूण, यवन आदि में से कुछ को बाह्य विशिष्टताओं और आचारगत भिन्नताओं के आधार पर पहचान लेना भले ही संभव हो किंतु उन सबके अन्तस में प्रवाहित भारतीय संस्कृति के स्रोत का दर्शन भी उतना ही सहज और स्वाभाविक है । भारतीय संस्कृति का कोई विशुद्ध रूप नहीं है और किसी भी परिवार का व्यक्ति अपने को इन आरंभिक वर्गों में से किसी एक का विशुद्ध वंशानुवर्ती बताने का दावा नहीं कर सकता । जब दो जन परस्पर संपर्क में आते है तो संवेदन-शील प्राणी होने के नाते उनमें पारस्परिक आदान- प्रदान चलता है । यह आदान-प्रदान स्थूल रक्त एवं वंश के धरातल पर हो सकता है, संभव है न भी हो किन्तु अन्तर्मन के स्तर पर संस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में आचार और व्यवहार की दृष्टि से यह आदान-प्रदान अपरिहार्य हो जाता है । भारतीय जन के निर्माण में यह प्रक्रिया स्थूल आनुवंशिक धरातल पर और सूक्ष्म सांस्कृतिक क्षेत्र, दोनों रूपों में चलती रही आरम्भ में कोई जाति या संस्कृति बाहर से आती है तो स्वभावतः उसके संदर्भ में भीतर और बाहर दोनों क्षेत्रों में एक प्रतिक्रिया होती है । देश के लोग युद्ध -विग्रह आदि के रूप में विजातीय जन का सामना करते है और जातीय संस्कृति विजातीय संस्कृति के तत्वों से संघर्ष करती है । प्रतिरोध और संघर्षण की यह प्रक्रिया थोड़े समय बाद समाप्त हो जाती है । एक और शारीरिक

धरातल पर दोनों थक जाते हैं, आगंतुक की आक्रामक शक्ति और जातीय जन की प्रतिरोध-शक्ति दोनों क्षीण होने लगती है। दूसरी ओर मानसिक धरातल पर दोनों एक दूसरे के प्रति सहिष्णु और संवेदनशील होने लगते हैं। दोनों के आचार-व्यवहार एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यदि राजनीतिक शक्ति आगंतुक के हाथ में चली गयी और उसने क्रूरता एवं बर्बरता के साथ दमन-चक्र चलाया और देशीय जनकी प्रतिरोध शक्ति हताशा की सीमा तक क्षीण हो गयी तो सांस्कृतिक पराभव की प्रक्रिया आरंभ होती है। आलोच्यकाल की पीठिका में जो काल पड़ता है, उस समय तक बाबर और हुमायूं की विजय के बाद अकबर ने मुगल साम्राज्य का संगठन सुदृढ़ कर लिया था। अकबर उदार और सहिष्णु भी था। यद्यपि उसकी उदारता और सहिष्णुता की पृष्ठभूमि में नीति थ की प्रेरणा अधिक थी किन्तु लोक मानस पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था ही। पराजित हिन्दू जाति को संतोष के लिए एक आधार तो मिल ही गया था। जहांगीर राजकीय मामलों में कभी-कभी जितना ही निर्मम हो उठता था धार्मिक और सांस्कृतिक विषयों के प्रति उतना ही उपेक्षा भाव भी रखता था। अकबर का शासनकाल प्रशासनिक दृष्टि से बहुत अच्छा तो नहीं था किन्तु जहांगीर की शासनावधि में प्रगति अधोमुखी ही रही। शाहजहां प्रदर्शन प्रिय, प्रशासनिक दृष्टि से सामान्य कुशलता का व्यक्ति था। उसका काल राजनीतिक दृष्टि से अपेक्षाकृत शांति का काल था किन्तु धार्मिक क्षेत्र में खण्डन और अत्याचार की जो प्रक्रिया औरंगजेब के समय में चरम सीमा पर पहुंचती है उसके छुट पुट उदाहरण शाहजहां के समय ही मिलने लगे थे। औरंगजेब ने राजनीतिक क्षेत्र में मुगल साम्राज्य को जितना व्यापक और विस्तीर्ण किया। जिस अदम्य साहस और अद्भुत राजनयिक प्रतिभा के बल पर अपने शासन को उसने अधिक कठोर बनाने की चेष्टा की उतनी ही निर्ममता से उसने भारतीय संस्कृति और कर्म पर प्रहार किये। आलोच्यकाल की दो महान् संस्कृतियों हिन्दू और मुस्लिम के अन्तर्सम्बन्धों को देखते समय हमें यह पृष्ठभूमि अपने मस्तिष्क में रखनी चाहिए।

छोटे-छोटे राजाओं और रियासतों का आपसी वैर, मुगल साम्राज्य के प्रति मराठों और बुन्देलों और जाटों आदि के छुट-पुट प्रतिरोध, जातीय जीवन में व्याप्त त्रास और संघर्ष से विरति इन परिस्थितियों में हिन्दू-मुस्लिम संबंधों की बहुत अच्छी स्थिति संभव नहीं थी। इसलिए एक ओर कबीर के समय से चली आती संत परम्परा के कवि हैं जो हिन्दू मुस्लिम ऐक्य और सद्भाव की वकालत करते हैं तो दूसरी ओर हिन्दू राजाओं के दरबार के कवि हैं जो मुग़लों के विरुद्ध उनके संघर्ष का अतिशयता पूर्ण वर्णन करते है। इसलिए समन्वय का प्रयास उन संत कवियों में दृष्टिगत होता है जो संसार से बाहर रह कर भी लोक-कल्याण की कामना रखते है। कदाचित् उसका कारण यह रहा हो कि उन्हें अपमान और अत्याचार के क्रूर दृश्य देखने और उनका अनुभव करने का अवसर न मिला हो या पूर्णतः आध्यात्मिक स्तर पर सोचने के कारण वे जातीय और विजातीय तत्वों में अंतर ही न करते रहे हों। दरिया साहब हिन्दू और तुर्कों को एक ही समझते है क्योंकि सभी "बीज साहब" के हैं। सभी के शरीर अन्न जल से पालित-पोषित होते हैं, सभी में एक ही आत्मतत्व संचरित होता है इसलिए हिन्दू और मुसलमान में भेद करना उचित नहीं है[1]। सुंदरदास हिन्दू और मुसलमान दोनों की राहें छोड़कर "सहज मार्ग" अपनाना चाहते है जिसमें राम और अल्ला एक है[2]। इसके विपरीत भान, जोधराज और भूषण आदि कवि संघर्षशील हिन्दुत्व की वाणी देते हैं। उनमें अन्तरतम् की अपराजेय शक्ति न होने के कारण काव्य भले ही द्वितीय श्रेणी का रह

---

१-सभै बीज साहब कर कहई। बूझि विचार ज्ञान एक कहई॥
अन पानी सभै के होई। हिंदू तुरुक दूजा नहिं कोई॥
-दरिया - गुं० पृ० ६१।

२- हिन्दू की हदि छाड़ि के तजी तरक की राह।
सुंदर सहजै सोधि ल्या एकै राम अलाह॥
- सु०गुं- पृ० २०४।

गया हो, और वह स्वाभाविक भी था क्योंकि तात्कालीन लोकचेतना में वह शक्ति नहीं थी और कवि को उसका आधार लोक चेतना से मिले तभी उसका काव्य उत्कृष्ट होता है, किन्तु वे मुसलमानों के प्रति असहिष्णुता और कभी-कभी घृणा का भाव तो भर ही रहे थे। ये कवि मुस्लिम संस्कृति और इस्लाम धर्म के आक्रमण से हिन्दू संस्कृति और हिन्दू धर्म को बचाने के लिए सतत् प्रयत्नशील थे। इनके प्रयत्न को साम्प्रदायिक और संकुचित कह कर निन्दित बनाना कदाचित् उचित न होगा क्योंकि उस समय तक धर्म-निरपेक्षता एवं राष्ट्रीयता आदि की धारणाओं का विकास नहीं हुआ था। मुगल शासकों की प्रशासनिक व्यवस्था, धार्मिक भेदभाव और राजनीतिक अतिचार को देखते हुए यदि मान कवि तुर्कों और औरंगज़ेब जैसे शासकों को असुर कहता है, भूषण उन्हें म्लेच्छ कहता है तो उनकी भावनाएं बहुत अस्वाभाविक नहीं है। राजविलास में महाराव राजसिंह को स्थान-स्थान पर हिन्दुत्व का रक्षक और नेता कहा गया है[1]। उनके पिता महाराजा जगतसिंह को भी "हिंदुमग रक्षन", "हिन्दुकुल आदीत", "हिन्दु सिर सिंगार" आदि विशेषणों से अभिहित किया गया है। महाराव राजसिंह को हिंदुनाथ, हिंदुईश, हिन्दुपाल, हिन्दु आधार, हिन्दुभान आदि विशेषण दिये गये हैं। वे हिन्दुओं की "हद्द" रखने वाले हैं। महाराणा राजसिंह और महाराजा जसवंतसिंह दोनों बारातें लेकर जब बूंदी नरेश राव छत्रसाल के यहां पहुंचे और तोरण-बंधाई को रस्म पर वाद-विवाद हुआ तो जसवंत सिंह के विरुद्ध यह भी तर्क रखा गया था कि उन्होंने किसी युद्ध में विजय प्राप्त करके हिन्दुओं की मर्यादा की रक्षा नहीं

---

१- मान० रा० वि०, पृ० ८, २७।

कूरम रथौ हरि अवतार इह, राजसिंह महराण।
औरंग से असुरेस सौं, जीते जंग जु आन॥
अलपति परि औरंग अति, कूर कपट की कोट।
जिन मारे बंधव जनक अलह दे विध बोट॥

-मान०राव० विलास, पृ० १०२।

की अपितु वे स्वयं अमुरों के अधीन हैं अतः उन्हें पहले तोरण बंधाई का अधिकार नहीं है[1] । इसके विपरीत महाराणा राजसिंह स्वयं हिन्दुओं की मर्यादा के रक्षक कहे गये हैं[2] । हिन्दू और मुसलमानों के बीच के इस वैर-भाव के हेतु की व्याख्या करते हुए मानकवि ने बताया है कि वैर से वैर बढ़ता है और सद्भाव से सहिष्णुता और पारस्परिक सम्मान की वृद्धि होती है । जिस प्रकार फटे हुए दूध का दही नहीं बन सकता उसी प्रकार फटे हुए मन कभी नहीं मिल सकते औरंगज़ेब कितनी ही नीतियों से काम क्यों न ले किंतु महाराज जसवंत राय का मन क्योंकि फट चुका है, औरंगज़ेब के आसुरी कार्यों से उनके मन में एक गांठ पड़ गयी है इसलिए उनके संबंधों को समरस नहीं किया जा सकता[3] ।। इसीलिए भूषण आलमगीर औरंगज़ेब को सहिष्णु और उदार होने की सलाह देते हैं । बहादुर का काम है बहादुर से लड़ना । दीनों और असहायों को सताना उसे शोभा नहीं देता । बीफ़ करके, गरीब हिन्दुओं के मठ-मंदिर तोड़ना और उन्हें सताना ठीक नहीं औरंग को इसका कलंक नहीं लेना चाहिए उसे चाहिए कि हिन्दूपति शिवा जी से मुकाबला करे[4] ।

---

१- कब के तुम नरनाह, कहौ कब पन्थ कहानिय ।
बीति कहां तुम बंग, हद राखी हिन्दुवानिय ।
तुम आसुर आधीन, पीय दै धरनि धु रक्खहु ।
इन करनी इम आग, अंध मुह करि करि अक्खहु ।।
-मान०ग्र० वि०पृ० ५२ ।

२- मान० रा०वि०, पृ० ५२ ।

३- मान०रा० वि०, पृ० १०७ ।

४- हाव धरी सिव बू सों लरी सब सैयद सेख पठान पठाय के ।
भूषन ह्वां गढ़ कोटन हारे उहां तुम क्यों मठ तोरे रिसाय के ।।
हिंदुन के पति सों न सिवाति सतावत हिन्दु गरीबन पाय के ।
लीबे कलंक न दिल्ली के बालम, बालम आलमगीर कहाय के ।।
- भूषण - ग्रं० पृ० ७४ ।

निष्कर्ष:

२१- रीति कालीन काव्य के माध्यम से सामाजिक रचना का अवलोकन करने पर कुछ इस प्रकार का चित्र बनता है। भौतिक दृष्टि से सामाजिक रचना के शिखर पर राजकुल और सामंत परिवार आसीन है। इस वर्ग को भौतिक जीवन के समस्त सुख साधन और शक्तियां उपलब्ध है। प्रकृति से ही यह वर्ग सर्वाधिकारवादी, शोषक और उत्पीड़क है। अपने सुख-साधन के लिए यह वर्ग वैध-अवैध सभी प्रकार के तरीकों का उपयोग कर सकता है। इस प्रकार समाज की अधिकांश शक्तियों और सम्पत्तियों का स्वामी यही वर्ग है। सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि यह वर्ग विजातीय है। दूसरे स्थान पर नौकर पेशा लोग हैं जिनमें राजकीय भृत्य और सामंतों आदि के पास काम करने वाले अन्य कर्मचारी आते हैं। इस वर्ग का जीवन सुख सुविधा पूर्ण नहीं है। इनका भविष्य "राजा रूष्टा राजा तुष्टा - रूष्टा तुष्टा तु राजा राजा" वृत्ति के सम्राट् और सामंतों के हाथ है। ये स्वयं जितने पीड़ित हैं प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे वर्गों को उतना ही अधिक सताते है। तीसरे स्थान पर वाणिज्य एवं उद्योग धन्धों में लगे हुए लोग आते हैं। चूंकि जनसामान्य में क्रय शक्ति अधिक नहीं है, बाज़ार का जरूरी सामान तो साधारण लोग खरीदते है, किन्तु राज की भांति लोकतांत्रिक मनोवृत्ति न होने के कारण सुख साधनों का उपयोग जन सामान्य की पहुंच के बाहर था। उद्योग धन्धों में निर्मित होने वाला सामान भी अधिकांशतः उच्च वर्ग के ही उपयोग के निमित्त होता था। उच्च वर्ग का मन नितान्त अस्थिर और चंचल है अतः इस वर्ग की स्थिति भी बहुत कुछ अनिश्चित-सी है। अंतिम किन्तु जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा, भारतीय संस्कृति की परंपरा के जीवन के समस्त संघर्षों को वहन करने वाला वर्ग, किसानों का है। इतना बड़ा होकर भी यह वर्ग विपन्न, उपेक्षित और सब प्रकार के अधिकारों से हीन है। उसके लिए दोहरे शोषण की प्रक्रिया चलती है। एक ओर राजशक्ति के स्वामी प्रशासक वर्ग की प्रतारणा और उसके शोषण एवं अत्याचार से पीड़ित है, तो दूसरी ओर उसके गांव का साहूकार भी

उसकी गरीबी और विवशता का अनुचित लाभ उठाता है ।

२३- इतिहास के उत्थान-पतन ने भारत को एक ऐसे महासागर का रूप प्रदान किया है जिसमें विविध जाति रूपी सरिताएं आ-आकर अपना स्वत्व समर्पित कर देती हैं । हर नयी सरिता उसकी अगाधता और व्यापकता में वृद्धि तो करती है किन्तु उस महासागर के हृदय में उथल-पुथल और विक्षोभ उसे कभी विनाशकारी स्थिति तक नहीं पहुंचाते, उसका अपना स्वत्व बना ही रह जाता है । आलोच्यकाल में हिन्दू और मुसलमान दो प्रमुख जाति वर्गों के अतिरिक्त तुर्क, पठान, और अरब, फारस, पुर्तगाल, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि देशों के लोग भी अच्छी खासी संख्या में हैं । मुसलमानों में दो प्रमुख वर्ग हैं, एक तो वे परिवार जो बाबर और हुमायूं के साथ या अकबर के समय विदेश से आये और दूसरे वे लोग हैं जो इनके प्रभाव में आकर इस्लाम धर्म ग्रहण कर मुसलमान बन गये । इनमें से प्रथम अर्थात् विशुद्ध विजातीय वर्ग अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति में है । धार्मिक या जाति गत दृष्टि से हिन्दू भारत का सबसे बड़ा वर्ग है । हिन्दू-समाज वर्णव्यवस्था के आधार पर विभक्त है । वर्णव्यवस्था के मूल स्रोत वैदिक काल में प्राप्त होते हैं तदनुसार समस्त हिन्दू समाज चार वर्णों में विभक्त है । ब्राह्मण इनमें शिखरस्थ हैं । वे वेदपाठी अध्ययन-अध्यापन के कार्य में रत कहे गये है । तत्पश्चात् समाज की रक्षा शांति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने का काम करने वाले पराक्रमी क्षत्रिय हैं । वणिक् वृत्ति अपनाने वाले वैश्य और शिल्प कार्य में रत अन्य वर्णों की सेवा करने वाले शूद्र हैं । कुछ वर्ग ऐसे भी हैं जो चातुर्वर्ण्य की परिधि के भीतर नहीं समेटे जा सकते । जिस विराट् पुरुष के मुख, बाहु और उदर और चरणों के रूप में चारों वर्णों की कल्पना की गयी है उसके पीछे यह धारणा सुनिश्चित थी कि सभी वर्णों का अपना-अपना कार्य और सामाजिक रचना में अपना-अपना स्थान है । आरम्भ में वर्ण व्यवस्था का आदर्श रूप रहा होगा पर आलोच्य - काल तक आते-आते वह पर्याप्त दूषित हो गई थी उसके अपने उद्देश्य पराजित हो गये थे । जो वर्णव्यवस्था संघटन और समन्वय के लिए निर्मित की गयी थी । वह समाज के विघटन और असामंजस्य के बीज वपन कर चुकी थी। जिसका उद्देश्य यह था कि बाहर से आने वाली जातियों को अपने भीतर अन्तर्भुक्त कर ले वहीं

आगंतुकों को अपरिचित अतिथि की भाँति तिरस्कृत करने लगी । समाज में समानता संतुलन लाने और ऊँच-नीच का भेद मिटाने के स्थान पर वर्ण-व्यवस्था ने असमानता, असंतुलन और छोटे - बड़े के अन्तर को बल दे दिया था । वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण और कर्म नहीं जन्म और पाखण्ड हो गये । भविष्यद्रष्टा संत कवियों ने वर्णव्यवस्था के अधः पतन के चिन्ह देखे हुए उन पर विशेष रूप से आक्रमण किये है ।

२३- आश्रम-व्यवस्था इस समय तक आते-आते प्रायः सिद्धान्त रूप में ही रह गयी है उसका अस्तित्व वास्तविक रूप में नहीं रहा । चार आश्रमों के सभी कार्य गृहस्थ आश्रम में ही संपन्न होते हैं ।

२४- मध्यकाल में धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से दो महान् जातियों, धर्मों एवं संस्कृतियों का आदान-प्रदान हुआ । यह आदान-प्रदान कभी संघर्ष और असहिष्णुता, कभी समरसता और सहिष्णुता के रूप में देखने को मिलता है । एक ओर भूषण, जोधराज और लाल जैसे हिन्दुत्व का उद्घोष करने वाले कवि है जो जाति की रक्षा के उत्साह में अपने चरित-नायकों को हिंदुत्व की रक्षा करने का लेख देने के साथ साथ तुर्कों को कठोर वचन भी कहते है । वे जाति पर होने वाले अत्याचार और उत्पीड़न के प्रति अत्यन्त सजग और संवेदनशील है । इन कवियों में यदि दृष्टि की विराटता का अभाव न होता तो हिन्दू जाति के लिए ये जितना कर सके है संभवतः उससे अधिक कर सकते । इनके पूर्ववर्ती तुलसी और परवर्ती निराला में विराट् दृष्टि की उपस्थिति ही काव्य को अधिक सरस और कवि के स्वप्न को महान् बना सकी है । दूसरी ओर संत कवि है जो "सबै जीव, साहब का बंदी" "हिन्दू तुरक दूजा नहिं कोई" के संदेश के द्वारा पारस्परिक वैमनस्य और संघर्ष को मिटा कर सहिष्णुता और समरसता का सृजन करना चाहते हैं । प्रथम वर्ग के कवि जहाँ वास्तविकता के प्रति अधिक संवेदनशील है वहाँ संत कवि वास्तविकता से प्रायः आँख मूँद लेते है । हिन्दू और तुर्क की एकता का उपदेश

ऐसे समय में यह भूल जाते हैं कि तत्कालीन विदेशी शासक और प्रशासक धर्म के नाम पर कितना अत्याचार और शोषण कर रहे हैं। यदि प्रथम वर्ग के कवियों के पास अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णुता या विराट् दृष्टि होती या संत कवि यथार्थ जीवन की वास्तविकताओं के प्रति अधिक संवेदनशील होते तो सामाजिक स्थितियों पर प्रभात का दर्शन करने के लिए संभवतः इतने दिन प्रतीक्षा न करनी पड़ती।

## परिवार का स्वरूप-विकास:

९५- अपने निर्माण और सृजन के प्रति निर्माता और स्रष्टा का सहज स्नेह होता है। यह प्रवृत्ति सभी जीवधारियों में देखी जाती है। जीवधारियों की सभी ऐषणाओं में काम जिजीविषा और अपनी परम्परा को आगे बढ़ाने की इच्छा कदाचित् सर्वाधिक बलवती होती है। पशुओं की ये ऐषणाएं जहां प्रकृत और अ स्वरूप में व्यक्त होती है वहां मनुष्य प्रकृत्या एक सामाजिक प्राणी होने के नाते अपनी ऐषणाओं की सम्पूर्ति के हेतु व्यवस्था और संगठन करता है। इसीलिए उसकी ऐषणाएं निसर्गगत होते हुए भी संस्कृत - परिष्कृत दृष्टि से परिचालित होती है, संगठित और जटिल होते हुए भी सुनियन्त्रित होती है और उनकी सम्पूर्ति के लिए वह अपनी प्रकृति-प्रदत्त विवेकशक्ति का प्रयोग करता है। इतर प्राणियों की भांति मनुष्य में भी काम जिजीविषा और अपनी परंपरा को बनाये रखने की इच्छा स्वभावज है। सामाजिक सुरक्षा और शासन-पालन की सुविधा के अतिरिक्त सन्तति-स्नेह परिवार के विकास का मूल कारण है। सामान्यतः परिवार एक ऐसा सामाजिक वर्ग है जिसके सदस्यों में परस्पर रक्तज संबंधी अथवा किसी सामाजिक प्रथा (दत्तक आदि) से स्थापित संबंध होता है जिनके धार्मिक हितों तथा धार्मिक विश्वासों में एकता होती है और जो सामान्यतः एक घर या एक स्थान पर रहते हैं।[1] परिवार प्रायः एक

---

१- शिवदत्त ज्ञानी- ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक संबंध, पृ० ४०६।

सार्वभौम सामाजिक व्यवस्था है। भारतीय वर्ण व्यवस्था ने सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर जिन समस्याओं के समाधान दिये वह संसार के सामाजिक संगठनों में सर्वोत्तम है या नहीं यह विचारणीय हो सकता है किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि सामाजिक समस्याओं का यह अपने ढंग का अनोखा समाधान था। वर्ण-व्यवस्था समाज में व्यक्ति का स्थान निर्धारित करती है, उसे कर्मक्षेत्र में उतारती है। भारतीय परिवार समाज के विशाल भवन में प्रवेश करने के लिए व्यक्ति को प्रवेश पत्र ही नहीं वरन् अपेक्षित सर्वांगीण प्रशिक्षण भी देता है। विनय, सहिष्णुता, सौहार्द, शिष्टता, कर्मठता आदि जिन गुणों की, कर्मक्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यकता है, वे सभी पारिवारिक परिधि में उपलब्ध होते है। भारतीय परिवार मनुष्य जीवन के चारों पुरुषार्थों को अपने में समेटे है। धर्म-सम्बन्धी कृत्य परिवार में ही संपन्न होते है और व्यक्ति को आरंभिक धार्मिक प्रशिक्षण भी परिवार में ही मिलता है। धर्म वस्तुतः मानव के व्यक्तित्व के आस्था पक्ष का परिणाम है और भारतीय परिवार जिस रूप में संगठित हुआ है, आस्था और विश्वास को व्यक्तित्व का आवश्यक अंग बना देता है। परिवार के आर्थिक हित आरंभ में, आर्थिक व्यवस्था इतनी जटिल न रहने पर, कदाचित् एक न रहे हों पर विकसित समाज में परिवार के सभी सदस्यों के आर्थिक हित परस्पर संलग्न होते हैं। काम तो वस्तुतः परिवार का जन्मदाता ही है। भारतीय परिवार में यौन संबंधों की अनुमति परिवार की सीमाओं में ही दी है। मोक्ष अपने सही अर्थ में इन सबसे मुक्ति पाना नहीं है अपितु इनके माध्यम से मुक्ति पाना है और परिवार के निष्छल सात्विक और शुचि वातावरण से उत्तम माध्यम अन्यत्र कहां मिल सकता है? इस प्रकार भारतीय परिवार व्यक्ति के जीवन को अथ से इति तक अपने में समेटे हुए है। जन्म-भूमि से लेकर मरणोत्तर तक के सभी संस्कार परिवार में ही संपन्न होते है। स्वर्गस्थ पितरों को भी श्राद्ध आदि के माध्यम से कुछ न कुछ मिलता रहता है।

<u>भारतीय परिवार:</u>

२६- भारतीय परिवार ज्ञात इतिहास के उषाकाल, ऋग्वेद काल, से पितृसत्तात्मक रहा है "इसमें पितृपक्ष के पुरुष सदस्य, उनकी पत्नियां तथा

अविवाहित कन्याएं सम्मिलित होती थी । ऋग्वैदिक काल का संयुक्त परिवार साधारणतः तीन पीढ़ियों तक सीमित होता था । परिवार में होने वाले संबंधी दादा-दादी, पोता-पोती, माता-पिता, चाचा-चाची, भतीजा-भतीजी, पति-पत्नी, भाई-बहन, सास-ससुर, पुत्र-वधू, देवर-ननद, भाभी-बेठानी हो सकते थे[1]।" एक अत्यन्त दीर्घ युगयात्रा के पश्चात् आलोच्य-काल में भी भारतीय परिवार का मूलस्वरूप यथावत् बना रहा । तत्कालीन संत कवि परिवार को महत्वहीन, अनावश्यक और पारिवारिक संबंधों को सभी दुखों का कारण मानता है । उनके विचार से यह देह क्षणभंगुर है जो बिना समझे व्यक्ति गृह और गृहिणी के मोह में फंसा रहता है । पुत्र, पति और स्त्री यह दुख के कारण-भूत हैं व्यक्ति इनकी मृगतृष्णा में पड़कर व्याकुल रहता है[2]। मरने के पश्चात् माता, पिता, पुत्र, भगिनी, आदि में से कोई साथ नहीं जाता सभी खड़े देखते रह जाते हैं और यमराज प्राण ले जाता है । गड़ा हुआ धन ज्यों का त्यों गड़ा रह जाता है, सब कुछ जहां का तहां रह जाता है । बन्धु-बान्धव रोते कलपते हैं फिर मृतक शरीर को ले जाकर अग्नि देव को समर्पित कर देते हैं और सब कुछ समाप्त हो जाता

---

१- शिवराज शास्त्री- ऋग्वैदिक में काल में पारिवारिक संबंध पृ० ९० ।

२- छिन भंगुर यह देह न जानी । उलटी सपुरुषी अमर ही मानी ।
घर-घरनी के संग मों राच्यो । छिन छिन में नट कपि ज्यों नाच्यो ।।

-धूलदास- ब्र०मा०सा०, पृ० १७१ ।

† † †

सुत -पित-पति-तिय-मोह महादुख मूल है ।
जग-मृग-तृष्ना देखि रहूतौ क्यों भूल है ?

-नागरीदास-ब्र०मा०सा०, पृ० १९० ।

है[1]। किन्तु यह स्मरणीय है कि ये कवि परिवार पर उस दृष्टि से आक्रमण करते हैं जिसके लिए परिवार का सृजन नहीं किया गया था। मृत्यु के उपरान्त यदि पति-पत्नी, पिता-पुत्र या बन्धु-बान्धवादि सहायक नहीं होते तो यह कहां सिद्ध होता है कि इससे उनका लौकिक प्रयोजन समाप्त हो गया। परिवार तो अतीव्य काल में भी सुरक्षा और सामाजिक प्रशिक्षण की दृष्टि से उतना ही, अपितु उससे अधिक, आवश्यक रहा, जितना वह अपेक्षाकृत अधिक उन्नत, सांस्कृतिक काल के लिए था। क्रूर, विजातीय खिलजी शासकों के प्रशासन काल में व्याप्त मनमानेपन के समय सार्वभौम सुराज्य के युग में तो परिवार और भी आवश्यक हो जाता है। अत्याचार और सुराज्य व्यक्ति को भ्रष्ट और अनैतिक होने से बचाने के लिए, असहायों और अपंगुओं के साहाय्य, और भरण-पोषण, अवलाओं की रक्षा के लिए परिवार आवश्यक है। मन्दोदरी अपने परिवार पर गर्व करके ही कह सकती थी कि कुम्भकर्ण-सा देवर, मेघनाथ-सा पुत्र और रावण-जैसा पति पाकर मुझे किससे डरने की आवश्यकता है[2]।

## परिवार में पुरुष एवं स्त्री की भूमिका:

१७- भारत की पारिवारिक व्यवस्था में पुरुष को घर के बाहर

---

१ - माता पिता सुत बंधी भगिनी। अपने मन में सब कोई भंगनी॥
मरन काल कोइ संग न आवा। सब जग मुलुक दीनों हावा॥
मातु पिता घरनी घर ठाढ़ी। देखत प्रान तीन जिय काढ़ी॥
गाढ़े धन गहिरे जो गाढ़े। छूटे पास वहां से भाढ़े॥
नैन भवावन बाहर डेरा। रोवहिं सब मिलि आगन मेरा॥
खाट उठाय कांधि कर लीना। बाहर जाए अगिन जो दीना॥
-दरिया-गुं० पृ० ११५।

२- देवर कुंभ करन सौं, हरि-भरि सो सुत पाय।
रावन सो प्रभु, कौन को मन्दोदरी डराय॥
-के०गुं० पृ० २२६।

का और स्त्री को घर का काम मिला है। सृष्टि में पुरुष पुरुष-तत्व का प्रतीक है उसमें बल, शक्ति, साहस, ओज, कर्मठता, सहनशक्ति और संघर्षशक्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसके विपरीत नारी जो प्रकृतितत्व की प्रतिनिधि है अधिक सुन्दर मृदु, मधुर, करुण, क्षमाशील, व्यवस्थाप्रिय और अपनी सीमाओं में पूर्ण होती है। पुरुष में व्यापकता और विराटता होते हुए भी पूर्णता और संतोषवृत्ति का अपेक्षाकृत अभाव होता है। इसलिए पुरुष निर्माण के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है। वह अग्निगर्भ होता है, नित नये परिवर्तन और नये विधान चाहता है। इसीलिए घर की चहारदीवारी उसका कार्यक्षेत्र नहीं हो सकी। इसके विपरीत स्त्री को अपने सीमित संसार को पूर्ण बनाने का स्वर्ण अवसर परिवार में मिल सका। आलोच्यकाल की स्त्रियां सभी प्रकार के घरेलू कार्य करती है। सुन्दरी तिलक में यदि एक गोपी नीर भरने के लिए तड़के यमुना के किनारे जाती है तो दूसरी स्त्री गोरस बेच कर लौटने पर लाल के अनुराग में रंगी रहती है, तीसरी गाय दुहाने के लिए प्रस्तुत रहती है[1]। चिन्तामणि की नायिका भी ग्रीष्म में बावली, कूप, सरोवर आदि सूख जाने के कारण बहुत दूर जाती है और वापस आते-आते तक उसके पसीना बहने लगा है शरीर थर थर कांपने लगता है[2]। बिहारी की एक नायिका अपने स्रष्टा की ही भांति पटु और विदग्ध है। रात में प्रिय-मिलन की उत्कंठा-वशात् वह दौड़-दौड़ कर घर की "टहल" करती है तो दूसरी ताबा पुती हुई धोती पहने है, उसकी मुख की ज्योति प्रखर है, रसोई में है

---

१- हौं अलि आज गई तरके वहां मोहि दू कलिंदी नीर के कारन।
† † † -सु० ति० पृ० ६२

२- गोरस बेचि फिरी बनिता अरु गाइन लाल किये अनुरागी।
† † † -सु० ति० पृ० ७७

३- गाय दुहावन कौं कहि संभु धरी धरीकान सकीन के साथ में।
-सु० ति० पृ० ११७।

२- चिन्तामणि- क० की० पृ० १६७।

जब वह आती है तो उसके शरीर की आभा से रसोईघर दीप्त हो उठती है[1]। पुरुष का कार्य क्षेत्र बाहर होने के कारण, और परिवार के आर्थिक पक्ष का विधायक होने के फलस्वरूप परिवार पर ज्येष्ठतम् पुरुष सदस्य का अधिकार क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। वह परिवार का रक्षण, भरण-पोषण और शिक्षण -प्रबन्ध करता है। उसे घर के अन्य सदस्यों के विवाह -संबंध निश्चित करने का अधिकार होता है। वह परिवार की चल-अचल सम्पत्ति का दान क्रय-विक्रय तथा परित्याग कर सकता है। यही नहीं, उसे परिवार के अन्य सदस्यों को दण्ड देने का भी अधिकार प्राप्त है। पुत्र को और परिवार के अन्य कनीय सदस्यों को पिता या परिवार के स्वामी की आज्ञा माननी चाहिए। भारतीय आदर्शों के अनुसार पिता की आज्ञा अपने आप में प्रमाणस्वरूप है[2]। पुत्र को माता-पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए। उसे ऐसा करने से अक्षय सुख की प्राप्ति होगी। भगवान् राम स्वयं ब्रह्म-स्वरूप होकर भी माता-पिता को प्रणाम करते हैं। उनके सामने विनम्र रहते हैं और उनकी आज्ञा का पालन करते हैं[3]। पिता के वृद्ध

---

१- ज्यों-ज्यों आवत निसि, त्यों-त्यों खरी उताल।
झमकि-झमकि टहलैं करै, लगी रहटै बाल ।।-बि०पृ०पि०बिहारी, पृ० १८६।

२- बि०पृ०पि०बिहारी, पृ० १७७।

३- पिता बचन सु प्रमान। देव मुकलयो निज दासन ।।
बहुरे कुसल सुजान। बानि अंकुश घर बासन ।।-मा०रा०वि०पृ० १६४।

३-क- मातु पिता गुरु आज्ञा पाले। सदा सुखी बस काहू न साले ।।
कीन्हे प्रनाम मातु सिर नाई। सब से बिनय कीन रघुराई ।।
-द०गृ०पृ० १४९।

३-ख- अन्न देई औरु देइ राखि देइ प्रान जात।
राव बाप मोल ले करै सु पोष्यि दीह गात।
दास होइ पुत्र होई सिष्य होइ कोई माय।
साखना न मानई तो कोटि जन्म नर्क जाय ।।
-के०गृ०पृ० २७४।

होने पर और अर्थोपार्जन की शक्ति क्षीण हो जाने पर उसके पारिवारिक अधिकारों का ह्रास होने लगता है[1] । परिवार के छोटे सदस्य उसकी शक्ति-हीनता के कारण प्रायः उससे उदासीन होते जाते है । भारतीय संस्कृति में माता का स्थान पिता से कहीं ऊंचा रहा है यहां "कुपुत्रो जायेत् क्वचिदपि कुमाता न भवति" की परम्परा रही है । वह शिशु को नौ मास तक अपने गर्भ में रखती है, जन्म के पश्चात् स्तन्य पिला कर हृष्ट-पुष्ट और बलशाली बनाती है[2]। उसके अभाव में लाड़-प्यार करने सुबह उठाकर कलेऊ देने वाला कोई नहीं रहता । बाल्यावस्था में माता-पिता के दिये हुए सुख बड़े हो जाने पर स्वप्न हो जाते है[3]।

अन्य सदस्यः

२८- परिवार के अन्य सदस्यों और संबंधियों में सहजोबाई ने भाई, दाई, बापू, भाई, दादी, बहनी, नानी, बुआ, चाचा, भतीजा, पोता, साला, भाभी, भावे आदि के नाम लिये हैं । पारिवारिक संगठन आरंभ से उन्हीं विवाद संबंधों को महत्व दिया जाता था जो पति के परिवार के सदस्य

---

१- कलपै बहुत शीस धुनि माथा । सहजो दुखी कुटुक के साथा ।।
पूत बहू सखि नाक चढ़ावै । बहुत पुकारे निकट न आवै ।।-सहजो०पु०प०पु०५३।
† † †
बिन कारण पचिया दिन राती । प्यार करै नहिं कुटुक संघाती ।।
सुन पोते दुर्गंध घिनावे । टहल करै तब नाक चढ़ावे ।।-सहजो०स०पु०पु०५५ ।

२- जग विहि जन नव मास उदर में राखा जतनहु लगाया है ।
पुन प्याय दूध बहुपास पोखके पुष्ट करी सुत काया है ।
सठ ताहि न मानत जानत जीवन प्रान कहूं को जाया है ।।पद्मा०गृ०पु०२९६।

३- मात पिता को लाड़ लड़ैहै को उठि भोर कलेऊ देहै ।
मात पिता दोन्हें सुख जैसे ते बीते सब सपने जैसे ।।
लाल-छन्दप्रकाश-पृ० ६२ ।

और बधू बीच होते थे । जैसे ससुर-पतोहू ननद -भौजाई आदि । परन्तु पत्नी के पिता के परिवार के कुछ सदस्यों के साथ होने वाले संबंधों को, भी महत्व दिया जाता था । जैसा कि ऋग्वेद में "श्वायावर" और "श्यास" के उल्लेख से प्रतीत होता है[1]। सूदन के सुजान-चरित में भी बाबा, मामू, भान्जा,ससुर, साले, पुत्र और बहू के नाम आये हैं[2] । भारतीय परिवार की सुख की कल्पना थी । कृषिकर्मप्रधान प्रधान देश होने के कारण सुखी परिवार की कल्पना में भी प्रायः तत्सम्बन्धी वस्तुओं को ही सम्मिलित किया गया है । बाघ के अनुसार जमीन हो, चार हल हो, घर हो, घर में गृहिणी हो, दूध देती हुई गाय हो, अरहर की दाल, बड़हल का भात हो, रसदार नीबू, गर्म घी हो, दही और सांड़ हो और विशाल नेत्रों वाली गृहिणी परोसने वाली हो तो इससे बड़ा सुख अन्य कोई नहीं हो सकता ।

संतानः

२९- चूंकि परिवार का मूलाधार माता-पिता का शिशु के प्रति स्नेह और रक्षा की भावना है इसलिए परिवार में संतानोत्पत्ति का महत्व असाधारण है । किसी भी परिवार के इतिहास में संतानोत्पत्ति विशेष रूप से पुत्रोत्पत्ति के समान महत्वपूर्ण अन्य घटना नहीं है । बल्कि पुत्र और पालन व प्रशिक्षण

---

१- शिवराज शास्त्री- ऋ वैदिक काल में पारिवारिक संबंध- पृ० ९० ।

२- कहिं निगर कुड़िए कहिं भाया बाया ।।
कहिं मामू कहिं भानजा कहिं ससुरा साला ।।
कहीं भाई कहिं पुत्र है बहुआ किनु बाला ।।-सूदन सु०च०पृ० १४९ ।

३- पुहपां बेड़े पर हो चार, घर हो गिहथिन, गऊ दुधार ।
रहर की दाल बड़हल का भात, गागल निबुआ औ घिउ तात ।।
सांड दही औ घर मे होय, बाकि नैन परोसै जोय ।
कहे घाघ तब सबही झूठा उहाँ छोड़ इहाँ बैकुंठा ।।
-घाघ- भड्डरी - पृ० ९८ ।

ही शायद परिवार के साध्य हैं और वे संतान के संदर्भ में ही सार्थक होते हैं। वही नारी धन्य समझी जाती है जो पुत्रवती हो [१]। पुत्र-जन्म के समय अनेक प्रकार के उत्सव मनाये जाते हैं। जिस घड़ी में पुत्र का जन्म हुआ वह वह घड़ी धन्य है। उस घड़ी आठों दिशाओं में दुंदुभी नाद होने लगता है सर्वत्र हर्ष की लहर व्याप्त हो जाती है[२]। वस्तुतः पुत्र के बिना कुल-परिवार की परंपरा नहीं चल पाती। पुत्र के बिना सारे सुख निरर्थक हो जाते हैं वह घर का उजाला होता है[३]। सम्राटों की अपनी समस्त शक्ति और समृद्धि के बावजूद बिना पुत्र के राजभवन में अंधेरा रहता है[४]। बालक की क्रीड़ाओं आदि में विशेष अनुराग उत्पन्न होता है। बालक विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाएं करता है लकड़ी के घोड़े पर चढ़ कर इधर उधर घूमता है और परिवारवालों का मन हरता है[५]।

---

१- जाके अंग संग लाल है सुफल वहै वग नारि।

-बानकवि-

२- जन्मयो पुत्र उठी यह बानी। धन्य घरी सबही वह मानी॥
दुंदुभी बजे लोक सुख दानी। आठो दिशा प्रसन्न भवानी॥

- गोरे - छत्र प्रकाश, पृ० २३।

३- अति सुख भोग दीन विधि राजा, एक वंश बिन सबै अकाजा॥

का०छ० ब० पृ० ९।

४- अनधन, हेम धो लक्ष्मी, सैन अनेक अपार।
एक दीप संतति बिना, राजभवन अंधियार॥

-छ०वि०पृ० १५।

५- सुंदर बेतन बाप वह बालन बड़ की बाल।
ज्यों लकरी के अश्व चढ़ कूदत डोलै बाल॥

-सु०मं० पृ० ७७२।

पति-पत्नी:

३०- पति-पत्नी पारिवारिक व्यवस्था के आधार फलक हैं। मूलतः और प्रायशः परिवार में एक ही पति-पत्नी होते थे। यद्यपि भारतीय परिवार संयुक्त होने के कारण अनेक दम्पतियों के संयोग से निर्मित था। पति और पत्नी का संबंध भारतीय संस्कृति में अन्य जातीय संस्कृतियों की अपेक्षा कुछ भिन्न रूप में देखा गया है। इस संबंध के मूल में "प्रेम" तो है ही किन्तु भारतीय व्यवस्था में वह एक काम चलाऊ सामाजिक साझेदारी नहीं रह गयी अपितु उसे अविच्छेद्य धार्मिक संस्कार की गरिमा प्राप्त हो गयी। पति और पत्नी का सम्बन्ध इस जीवन और जन्म का ही नहीं जन्म-जन्मांतर का माना जाने लगा। वह एक ऐसा रिश्ता हो गया है जिसे सामान्य परिस्थितियों में तोड़ा नहीं जा सकता। आलोच्यकाल में इस सम्बन्ध में हमारी मूल धारणा में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ था। पत्नी का पातिव्रत, और पत्नी के प्रति पति की सहिष्णुता और उसका स्नेह परिवार रूपी भवन को दृढ़ता पूर्वक जोड़े रहते हैं। पत्नी पति के अभाव में और पति पत्नी के अभाव में उसीप्रकार दीन रहते हैं जिस प्रकार चन्द्र के बिना चन्द्रिका और यामिनी के बिना चन्द्र[1]। वही पत्नी धन्य है जिसे अपने पति का प्रेम प्राप्त है। पति के प्रेम के बिना वस्त्राभूषण आदि सभी फीके हैं। पतिव्रता अपनी समस्त कलाओं में अहंकरण विहीन रहने पर भी अलग ही प्रकाशित होती रहती है[2]। रीतिकाल जीवन के अन्य विभिन्न क्षेत्रों के एक-देशीय चित्र देखा है। उसी प्रकार पारिवारिक परिवेश में भी पति-पत्नी के

---

१- पतिनी पति बिन दीन अति पति पतिनी बिन मंद।
चंद बिना ज्यों चांदनी ज्यों यामिनी बिन चंद॥
-के०गं० पृ० २९५।

२- तिय सोई प्रेम पिय नीका। भूषन बसन भक्ति बिनु फीका॥
पतिव्रता के मते न मोती। सब सखियन में झलके ओती॥
-दरिया० गं० पृ० १९९।

मधुर संबंधों पर ही अधिक दृष्टिपात किया गया है। पद्माकर की नायिका का पति उससे अत्यधिक स्नेह करता है किन्तु उसे कष्ट इस बात का है कि उसका अतिशय स्नेह पत्नी के मायके जाने में बाधक होता है। मां बेटी के अभाव में खाना-पीना छोड़े है। भाभी अचेत है। उसका भाई उसे बुलाने आया है किन्तु प्रियतम उसके बिना रह नहीं सकते उसे जाने नहीं देते[1]। मतिराम की नायिका के गौने की "चूनरी" प्रियतम पर टोना सा किये हुए है। जब से उसने घर में पैर रक्खा है प्रियतम् ने अपने संगी-साथियों के साथ क्रीड़ा आदि छोड़कर घर में ही आसन जमा लिया है। प्रिया से मिलने की ललक सांझ से ही उन्हें सताने लगती है[2]। इस प्रकार रीतिकाल का कवि पति-पत्नी के जीवन से संबंधित उन्हीं घटनाओं और प्रसंगों में अधिक रमता है जो उसे सरस प्रतीत होती है, जिनमें एक प्रकार की मधुरिमा और विश्रांति है। विवाह का उल्लासपूर्ण वातावरण, उससे भी अधिक गौने की कौतुक और जिज्ञासा पूर्ण भाव दशा और उससे भी अधिक कहीं पति-पत्नी का काम-क्रीड़ा और मनुहारें, रूठना और मनाना कवि की दृष्टि में महत्वपूर्ण तथ्य होते हैं। इनमें उसके रसिक मन को विश्राम मिलता है किन्तु

---

१- यों बिन माइ न जाइ कछू पद्माकर त्यों भई भाभी अचेत है।
बीरन आए लिवाइबे को तिनकी मृदु बानिहु मानि न लेत है॥
प्रीतम को समुझावत क्यों नहिं ये सखी तू बुध पै राजति जैं है।
और तौ मोहि सबै सुख री दुखरी यहै मायके जान न देत है॥
-प०ग्रं०पृ० १०८।

२- पांव धरे कुलही बिहि ठौर, रहे "मतिराम" सहां दुरा दीनें।
छोड़ि सखान के साथ को खेलिबो बैठ रहे घरही रस भीनें।
सांझहि तें सबके मन-ही-मन आसन यौं रस के बस कीनें,
लीनी सखीनी के संगनि नाह बु गौने की चूनरी टोने-से-कीनें॥
-मति०ग्रं० पृ० २२३।

पति-पत्नी के सम्बन्ध यहीं तक सीमित नहीं है । वे गृहस्थी की गाड़ी के दो पहिए हैं, घर में ही नहीं, घर के बाहर भी उनमें से एक जो करता है उससे दूसरे के साथ अविच्छिन्न संबंध है । जीवन कर्मक्षेत्र है और उसमें विभिन्न प्रकार के उत्थान - पतन होते रहते हैं । उसमें सरसता ही नहीं नीरसता, और कहीं-कहीं विरसता भी है, सुख और सफलता ही नहीं, क्लेश, पीड़ा और असफलता भी है । जीवन रूपी वस्त्र में उत्सव और आमोदनों के ताने-बाने ही नहीं लगे, मातमपुर्सी के धागे भी हैं । रीति-कालीन कवि कर्मक्षेत्र के संघर्ष में पति-पत्नी के सहकार और सहयोग की चर्चा करना भूल जाता है । कदाचित् उसके रसिक मन से परिचालित होने वाली दृष्टि जीवन की कठोरता को देखने का साहस नहीं रखती ।

सास-बहू:

३१- पति के घर में पत्नी को पति के अतिरिक्त सास-ससुर, जेठ-जिठानी, ननद-देवर-देवरानी आदि के संपर्क में भी आना पड़ता है । सास उसके लिए अपनी मां की स्थानापन्न होती है । उसे सास के स्नेह के रूप में मां की ममता प्राप्त होती है[१] । सास प्रायः घर की मालकिन होती है । अपने पुत्र की मां और गृहपति की पत्नी के रूप में उसके अधिकार बड़े और कर्तव्य बहुत व्यापक होते हैं । घर में प्रविष्ट होने वाली नव वधू को वह घर से संबंधित विषयों की जानकारी देती है । नवोढ़ा को गृहकार्य में प्रशिक्षित करती है, अपना सहज वात्सल्य और स्नेह देती है । यह प्रशिक्षण की प्रक्रिया थोड़े दिनों बाद ही समाप्त नहीं हो जाती अपितु परिवार में सास बहू का संबंध ऐसा है जिसमें सास का स्थान सदैव ऊपर रहता है और वह बहू के शिक्षक के रूप में कार्य करती है[२] । सोमनाथ की

---

१- को है हमारे, हमै क्यों कहै - बहू, माँ सिसके परी सासु की गोद में ।
बेनी०प्र० सा०प्रभाकर, पृ० ३३८ ।

२- सास देत सीख बहू कीरी को गनत बात ।
सु०गं०- पृ० ९७ ।

नायिका सजधज कर अपनी सास के पास बैठी थी कि उसे अपने पति के संभावित आगमन का समाचार मिलता है। लज्जा और हर्षातिरेकवश वधू भाग कर भीतर चली जाती है[1]। पद्माकर की नवोढ़ा नायिका का मुख मुरझा गया था। इतने से ही सास और बिठानी को व्याकुलता हो जाती है। वे उसके उपचार के साधन जुटाने लगती हैं[2]। वधू को सास का स्नेह ही नहीं मिलता उसके कठोर अनुशासन में भी रहना पड़ता है। वह उसको अनेक प्रकार के गृह-कार्य बताती रहती है और मुस्तैदी के साथ उन्हें पूरा करवाने में प्रयत्नशील रहती है। अक्बर की सुकुमार सजीली नायिका सास के त्रास से दुखी है। उसे "पापिन सास" नित्य प्रति भारी गागर भर लाने के लिए भेज देती है उसके कोमल शरीर का ध्यान भी नहीं रखती[3]। यही नहीं प्रिय के साथ उन्मुक्त मिलन में भी वह बाधक बनती है इसीलिए पद्माकर की नायिका की सहेली उसे सलाह देती है कि वह या तो पति के संग खुल कर खेले, लाज संकोचादि छोड़ दे या किसी प्रकार के विलास की कामना न रखे क्योंकि मिश्र की प्रीति और सास का भय दोनों एक साथ नहीं सध सकते इनमें से एक ही चुना जा सकता है[4]। रीति काव्य "मीत की प्रीत", सास की त्रास, बिठानी के भय और ननंद की गुप्तचरी से भरा पड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे रीति काव्य की सभी नायिकाएं मित्रों की खोज में रहती थी और इनकी सासें, ननदें और बिठानियां बराबर चौकसी करती रहती थी। तभी तो बेनी प्रवीन की

---

१- सोमनाथ- रो०पु०- पृ० १४३।

२- पद्म ग्रं० पृ० ११६।

३- भारी भरा गगरी निरझरौ तन मेरो, सजनी सुकुमार नवीनो।
मोहि पानी को पेलि पठावतु, पापिन सासु महादुख दीनो॥
अकबर-ग्रंथ०-म०पृ० २८।

४- खल खेलि खुलिके भट्ट के सचि बैठु विलास।
ह्वै ह्वै सचै न मीत सौं प्रीति सास की त्रास॥
पद्म०ग्रं- पृ० ५६।

नायिका को यह शिकायत है कि निगोड़ी सास और ननद दिन रात घर में चौकसी करती रहती है और जिठानी के भी तेवर चढ़े रहते हैं[1] ।

देवरानी-जिठानी:

३२- सास और बहू के संबंधों के पश्चात् परिवार में जिठानी देवरानी के सम्बन्ध आते हैं । वस्तुतः हिन्दू परिवार विविध संबंधों का संग्रहालय है जिसमें एक व्यक्ति पिता पुत्र चाचा भाई, भतीजा, जेठ, देवर सभी कुछ हो सकता है । कोई स्त्री बड़े परिवार में किसी की सास, किसी की जिठानी, किसी की देवरानी, किसी की बहू और किसी की माता-चाची आदि हो सकती है और इस संबंध-सोपान-व्यवस्था के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात यह है कि एक स्त्री देवरानी के रूप में पारिवारिक व्यवस्था में जितने सुधार चाहती है जिठानी और सास के रूप में उतनी ही पुरातन पंथी और प्रतिक्रियावादी होती है । सास और बहू की वय और पद की स्थिति में अधिक अन्तर होने के कारण उनके बीच भाव-नाओं और विचारों का उतना उन्मुक्त आदान-प्रदान नहीं हो पाता जितना जिठानी और देवरानी में संभव है । देवरानी-जिठानी की वय और परिस्थितियों में कम अन्तर होने के कारण उनके पारस्परिक संबंध बहुत मधुर होते हैं । पद्माकर की नायिका को तो उसकी जिठानी शयनागृह तक सजा-संवारकर ले जाती है सेज पर लिटा कर बहाना बना कर बाहर निकल जाती है इस प्रकार वह प्रियतम से मिलन की व्यवस्था करती है[2]। नवल मुरझायी बहू को देख कर सास ही नहीं जिठानी भी चिंतित है[3]। नवोढ़ा पर सास का ही नहीं, जिठानी का भी

---

१- निसि बासर सासु निगोड़ी ननद, न गहै सौ नेकु डीठत है ।
नित बैठी उमेठी सी भौंहें करै दुख देन को दासी समीठत है ।।
-वे०प्रवीन-नव०र०त०-पृ० १८ ।

२- सासि सिंगारनि, सेज पै पारि धई पिय ही पिय कौट जिठानी ।
-प०ग्रं०पृ० १६९ ।

३- बारी बहू मुरझानी बिलोकि जिठानी की उपचार किये की ।
त्यौं पद्माकर ऊंची उसास तबै मुख सास को छूबे रहूबो फबो की ।
-प०ग्रं०पृ० ११६ ।

निर्वहण होता है। सुन्दरी तिलक की नायिका की समस्या यही नहीं है कि सास छाया सी लगी रहती है बल्कि बिठानी की भौंवें भी तनी रहती हैं[1]। उसे अपने पहिरने ओढ़ने में सास के साथ ही बिठानी की "रिस" का भी ध्यान रखना पड़ता है[2]। बोधा की नायिका सास के त्रास और बिठानी की तीखी बातों से पीड़ित है[3]।

ननद-भाभी:

३२- ननद और भाभी के संबंध भी परिवार में विशेष स्थान रखते हैं। वस्तुतः भारतीय परिवार में यह एक अनोखा रिश्ता है। ननद और भाभी के संबंध अपनी मधुरता और कटुता दोनों के लिए समान रूप से विख्यात हैं। एक ओर पतिदेव की लाड़ली बहन होने और समवयस्का होने के नाते वह अपनी भाभी की अन्तरंग होती है तो दूसरी ओर भाभी से पहले घर की सदस्या होने नाते परिवार के वरिष्ठ सदस्यों माता, पिता, भाई आदि पर विशेष प्रभाव रखने के कारण अपनी भाभी के त्रास और भय का हेतु बनती है। प्रतापसाहि की नायिका की समस्या यह है कि ननद और बिठानी दोनों ही बातें पहर उससे असंतुष्ट रहती है और अनेक प्रकार की बातें बना-बना कर उसके प्रियतम के कान भरती रहती हैं, उनका त्रास यह है कि मौन धारण किये रहने पर भी उन्हें मुक्ति नहीं मिलती। अपने-अपने घर के लिए तो सारी व्यवस्थाएं कर रखती है पर इस बिचारी के केलि-मंदिर दीपक

---

१- सुं० ति० छन्द ७६७।

२- तौ सौं न बाद तहां पहिरै फिर, जौ सौं रिसाहल सासु बिठानी।
-पं०मं० पृ० १५४।

३- खरी सासु परी न छमा करिहै, निसि बासर त्रासन ही मरबी।
सदा भौंहे चढ़ाय रहै ननदी यौं, बैठानी का तीखी सुनै बरबी॥
-बोधा० री०मं०- पृ० १९६।

बीच अवैध संबंधों के निर्माण तक खींच ले गये हैं। ऐसे संबंधों की सृष्टि में बिहारी सिद्ध हस्त हैं। अपनी बात को अधिक विश्वसनीय बनाने के लिये इन्होंने देवर की "कुचत" के साथ भाभी के सहज पारिवारिक संकोच को भी जोड़ दिया है। उनकी नायिका पारिवारिक संबंधों केसंकोच के कारण देवर के अवांछित और असहज प्रयासों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए सकुचाती है और इसी सोच में दिन - दिन दुबली होती जाती है[1]। इतना ही नहीं कहीं कहीं तो देवर की प्रीत भाभी पर भी अपना जादू है। खेत खेल में देवर ने जो फूल मारे उनके स्पर्श से भाभी के अंग-अंग हर्षातिरेक से फूल उठे हैं। सखियां उन्हें देह के दरदेरे समझ कर औषधि की व्यवस्था करती हैं[2]।

भाई-बहन:

३५- परिवार में भाई बहन का संबंध अपनी अविच्छेद्यता और पवित्रता के लिए विशेष महत्वपूर्ण है। जब तक बहन घर में रहती है, शैशव में भाई उसका क्रीड़ा सहचर होता है दोनों एक साथ पाते पोसे जाते हैं और बड़े होते हैं किन्तु सामाजिक व्यवस्था के कारण बहन विवाह के बाद ससुराल चली जाती है। भाई घर में रह कर पिता का उत्तराधिकार संभालता है। भाई बहन का संबंध रीति कालीन कवि की रसिक प्रवृत्ति के लिए बहुत उपयुक्त भावभूमि नहीं प्रदान करता अतः तत्सम्बन्धी उल्लेख अत्यन्त विरल है। यदा-कदा ऐसे उल्लेख आये हैं जहां भाई बहन को लिवाने उसकी ससुराल जाता है लोक गीतों में भी भाई बहन के इसी संबंध की भावाभिव्यक्ति अपेक्षाकृत

---

१- कहति न देवर की कुमत, कुलतिय कलह डराति।
पंवर-गत मंजारलहि, सुक ज्यौं सूकति जाति॥ बि०र०दो० ८५।

२- देवर-फूलन - हने दु, दु दु उठे हरषि अंग फूलि।
हंसी करत औषधि सखिनु देह-दरेरन भूलि॥
बिहारी रत्नाकर, दो०२४६।

अधिक हुई है। बहन चूंकि नैहर छोड़ कर ससुराल चली जाती है और घर की सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं रह जाता इसलिए भी भाई उसके प्रति सहिष्णु और उदार रहता है। भाभी के रूप में भाई की पत्नी से यदि बहन के संबंध अच्छे हुए तो भाई बहन के संबंधों में प्रायः स्थायीरूप से समरसता बनी रहती है। भाभी कह सुन कर अपनी ननद को बुलाने के लिए पतिदेव को भेजती है[1]।

३६- रीतिकालीन काव्य का सर्वेक्षण करने पर भारतीय परिवार के विविध संबंधों, उन संबंधों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली सहिष्णुता, स्नेह शुचिता और सद्भावनाओं के चित्र मिलते हैं। तत्कालीन भारतीय परिवार की रचना संयुक्त आधार पर थी और पितृप्रधान होने के कारण रीतिकालीन काव्य में प्रायः उन्हीं संबंधों का उल्लेख आया है जो पितृप्रधान संयुक्त परिवार के अन्तर्गत आते हैं। पितृ प्रधान परिवार में वंशपरम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए पुत्र रूप संतान का बहुत महत्व होता है इसलिए तत्कालीन काव्य में कन्या की अपेक्षा पुत्र का जन्म अधिक हर्ष और सौभाग्य का विषय समझा गया है। परिवार का आधार पति और पत्नी होते हैं। रीतिकालीनकाव्य में विशेष रूप से केशव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर, बेनी प्रवीण और सुंदर आदि के काव्यों में पति-पत्नी के मधुर और परस्पर पूरक संबंध के विशुद्ध उल्लेख आये हैं। परिवार के अन्य सदस्यों और संबंधियों में सास, ननद, देवर, भाभी, भाई, बहन के अतिरिक्त दादी, बापू, नानी, बुआ, बाबा, भतीजा, साला, भांजा, पोता, आदि का भी उल्लेख है। रीतिकाल का प्रतिनिधि काव्य चूंकि रसिक कवियों का सृजन है इसलिए मधुर संबंधों के अपेक्षाकृत अधिक विवरण प्राप्त होते हैं जो संबंध अनेकप्रणीय है जैसे पति पत्नी का विशेष रूप से, उनके भी मधुर पक्ष का चित्रण ही अधिक हुआ है। पति -पत्नी वस्तुतः जीवन के कर्मक्षेत्र में सहयात्री होते हैं और उन्हें मिलकर जीवन के खट्टे मीठे

---

१- बीरन - आये सिपाहिये को - - - - - - - - -।।(पूर्वोद्धृत)

प०पं०-पृ० १११।

अनुभव करते होते हैं किन्तु रसिक कवि का मन जीवन के संघर्ष में उतना नहीं रमता जितना नायक-नायिका की काम-कला और क्रीड़ा में। संतकवि पारिवारिक संबंधों को मोहबन्ध अतः अनावश्यक मानते हैं।

भारतीय परिवार का वैशिष्ट्य और योगः

१७- भारतीय परिवार लज्जा संकोच और सहिष्णुता का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करता है। पति संकोच के कारण चुप्पी साध अपनी पत्नी से मिल नहीं सकता। बहू सास ननद और जिठानी के डर और संकोच के कारण विषयगामिनी और गृहकार्य कौशल विहीन नहीं हो सकती। पुत्र पिता का लिहाज रखते हुए सत्कार्य पर लगा रहता है। देवर को भाभी के स्नेह के कारण माँ के वात्सल्य और पत्नी के प्रेम का अभाव नहीं अनुभव होता। मतिराम के "सखा" रात को केलि कर सन्तुष्ट नहीं हुए किन्तु पारिवारिक वातावरण के संकोच में वह पत्नी के पास रह भी नहीं सकते अतः रीतिकालीन विदग्ध नायक ने एक नई युक्ति निकाली है। वह बिना प्यास के ही प्यासे होने का नाटक करते हैं और पानी माँगते हैं। परिवार के अन्य सदस्य उनका अभिप्राय समझ कर नायिका को ही पानी देने को भेजते हैं किन्तु नटखट नायिका द्वार की देहली पर ही पानी रख कर चली जाती है और नायक अपना-सा मुंह लेकर रह जाता है[1]। उससे भी बढ़ कर संकोच नायिका की ओर से है। विदेश से आये हुए प्रियतम आंगन में अन्य कुटुम्बियों के साथ बैठे हैं। भवन के भीतर बैठी सुकुमार नायिका घूंघट के पट की ओट से प्रियतम का मुख निहार

---

१- केलि के राति अघाने नहीं, दिनही में सखा पुनि प्यास लगाई।
प्यास लगी कोउ पानी दै जाओ, भीतर बैठिहैं बात सुनाई।
बैठी पठाइ गई दुलही हंसि, है रि लै "मतिराम" बुलाई।
कान्ह के बोल में कान दीन्हों, सो गेह की देहरी पै धरि आई॥

-म०ग्रं पृ० २७८।

रही है[1] । ननद "निसदिन" निंदा करती है और सास बात बात में नाराज होती है पर वधू प्रथम सुत को गोद में लेने से लजाती है[2]।

३८- हिन्दू परिवार, वर्ण व्यवस्था की ही भाँति भारतीय समाज की महत्वपूर्ण इकाई रहा है । विदेशी संस्कृतियों के आक्रमण के फलस्वरूप समाज को विशृंखलित होने से बचाने में पारिवारिक व्यवस्था का दाय अत्यन्त महत्वपूर्ण है । परिवार में जिन सद्गुणों का प्रशिक्षण मिलता है वे ही आगे चल कर समाज के व्यापक क्षेत्र में सफल और सुसंस्कृत होने में व्यक्ति को सहायता पहुंचाते हैं । यद्यपि यह किसी सीमा तक सत्य है कि परिवार की सीमाओं में सुख और शान्ति की, सन्तोष और पूर्णता का उपलब्धि होने के कारण भारत के नागरिक ने कभी कभी गृहस्थ और राष्ट्रीय नागरिक के कर्तव्यों में संघर्ष होने पर गृहस्थ के कर्तव्यों को प्राथमिकता दी है किन्तु यह भी सत्य है कि सांस्कृतिक परम्परा को सद्गुण रखने, समाज में सदाचरण और नैतिकता का वातावरण बनाये रखने में, परिवार से अधिक और किसी संस्था ने योग नहीं दिया । रीतिकालीन कवि विशेष मनोवृत्ति का व्यक्ति होता था । उसमें व्यापक दृष्टि के अभाव में भारतीय परिवार को सर्वांगीण रूप में नहीं देखा । परिवार की आन्तरिक समस्याएं, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में उसका दाय, जीवन के कर्मक्षेत्र में उतरने के लिए व्यक्ति को परिवार

---

१- बाए विदेस तैं प्रान पिया "मतिराम" अनंद बढ़ाय अलेखै ।
सोगन सौं मिलि अंगन बैठि, घरी-होन्घरी सिगरो घर पेखै ।
भीतर मौन के द्वार खरी, सुकुमारि तिया तन-कंप विसेखै ।
घूघट को पट ओट दिएं, पट-ओट किए पिय को मुख देखै ।।
-मा०ग्रं०पृ० ३१८ ।

२- निसि दिन निंदसि नंद है, छिन छिन सासु रिसानि ।
प्रथम भये सुत को बहू संकहि लेति लजानि ।।
-मति० ग्रं०, पृ० ४५९ ।

में मिलने वाला प्रशिक्षण, उसकी सीमित भाव परिधि में नहीं समा सका । पारिवारिक बंधन के रस पूर्ण चित्र रीति काल के काव्य सृष्टा और द्रष्टा को अपनी ओर आकृष्ट करते रहे किन्तु हिन्दू परिवार की कोई विराट् प्रतिभा ये कवि नहीं बना सके ।

—•—

अध्याय ३

# राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन

## अध्याय १

## राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन

### राजनीतिक:

१- अकबर तक आते-आते मुगल साम्राज्य अपनी स्थिरता और दृढ़ता के शिखर पर पहुंच गया था यद्यपि औरंगजेब के शासन काल में वह और भी विस्तीर्ण होने को था । जहांगीर का शासन-काल रीति-काल की पृष्ठभूमि में पड़ता है । रीति कवियों में केशवदास, सेनापति, बिहारी और चिन्तामणि जहांगीर के समकालीन थे । यह स्मरणीय है कि इस समय एक लम्बे संघर्ष[1] के पश्चात् राजनीतिक क्षितिज में अपेक्षाकृत शांति का वातावरण था । पराजय और अत्याचार के कटु अनुभव कुछ तो समय बीतने के फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक कारणों से और कुछ सीमा तक अकबर की सहिष्णु नीति के कारण विस्मृत हो चले थे और हिन्दू जाति अपनी वर्तमान परिस्थिति से संतुष्ट-सी हो चली थी । जहांगीर के समय और उसके बाद तक भी देश की राजधानी आगरा में रही[2] । केशवदास ने "जहांगीर-जस-चन्द्रिका" में जहांगीर का यशोगान किया है । जहांगीर को युग-युग तक राज करने का आशीर्वाद केशव जैसे हिन्दुत्व, और विशेष रूप से ब्राह्मण संस्कृति के पोषक, कवि की ओर से विचित्र-सा लगता है[3] । किंतु राजनीतिक पराजय की निराशापूर्ण प्रतिक्रिया में यह कदाचित् स्वाभाविक समझा जायेगा । जहांगीर के दरबार में कामरू, कन्नौज, कच्छ, करनाट, केकय, कुरू, कश्मीर, कुमायूं, काम्बोज, केरल, सूरसेन, बाल्हीक, तैलंग, फिरंग, मालव, मेवाड़, मुल्तान, मगध, बलोच, बंगाल, बिहार, बरार, विन्ध्य, नेपाल, आदि स्थानों के राजाओं की उपस्थिति का उल्लेख

---

१-उदति सभाग अनुरागिनि सो बहु भाग साहिबी को आगरो विलोक्यो
आनि आगरो । -के० ग्रं०, पृ० ६२२

२- के० ग्रं० पृ० १३४ ।

है[1] । इनके अतिरिक्त गौड़ प्रदेश, गुजरात, गान्धार, अरब, ईराक, सांभल, सिंध, सान्धार, खुरासान के राजा भी जहांगीर की सभा में उपस्थित हैं[2] । यहां यह बात देखने लायक है कि छोटी-छोटी देशी रियासतों के प्रति निष्ठा और भक्ति होने के कारण देश की व्यापक धारणा नहीं रह गई थी इसलिए गुजरात, बंगाल, मगध और मेवाड़ जैसे भारतीय प्रदेशों को देश ही नहीं कहा गया अपितु उन्हें अरब, ईराक और फिरंग आदि के साथ गिनाया गया है ।

२- केशव दास ने जहांगीर की राजनीति( जिससे उनका तात्पर्य कदाचित् शासन - प्रबन्ध से है) की भूरिशः प्रशंसा की है । सम्राट् दसों दिशाओं में दूत, भेज कर रात को उनसे सूचनाएं लेता है । डाकुओं और चोरों आदि से रक्षा करता है, प्रजा को अन्याय और अत्याचार से मुक्त रखता

---

१- कांमरू कन्नौज कच्छ कर्नाट केरल कुरु कासमीर कोस कुमाउं कुंतेस के ।
कामबोज कुकन कुनिंद अरू कुंतीभोज किरकीची कुलकोल केरल सुदेस के ।
कुंडिन कुमार सोम सरमक सूरसेन वाह्लीक साक्त सक्त निच्चधेस के ।
तैलिंग तिलक विद्यानगर फिरंग सक्र साहिबू की सभा राजै राजा देस के ।।
मालव मेवार मुलतान मारू मल्लिबार माथुर मगध मच्छ मेवात मंडेस के ।
बलच बलोच बंग बंगाल बरार विंध्य बालुका बिहार धार बर्बुर कुलेस के ।
पंचाल पामर पुलिंग पुंड्र लाट हून हाटक नेपाल कालकेम कालकेस के ।
साहिन के साहि जहांगीरबू की सभा केसौराय रावत है राजा देस देस के ।।
-के०ग्रं० पृ० ६३० ।

२- गौर गुजरात गया गोड़्वाने गोपाचल
गंधर गक्खर गूढ़ गायक गनेस के ।
अरबअैराक बाबू बासेर बलख बंग
बासापुरी बादि गांव बगैस सुदेस के ।।
संभल सिंधल सिंधु सोरठ सोबीर सूर
संधार सुरेस सुरासान आन देस के ।
साहिन के साहि जहांगीर साहिबू की सभा
केसौराय रावत है राजा देस देस के ।।
-के०ग्रंपृ० ६२९-३० ।

है[1]। दगाबाज़ों और अत्याचारियों के लिए केशव ने बड़ा दण्ड-विधान बताया है। वचन-दण्ड से लेकर "तनु भंग" तक के छ दण्ड और मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था उनकी दृष्टि में उचित है[2]। दण्ड-व्यवस्था की कठोरता के संबंध में संभवतः बहुत कम लोग केशवदास की मान्यता को अस्वीकार करेंगे। जनतांत्रिक राज्यों में भी यह सभी प्रकार के दण्ड दिये जाते हैं किन्तु तत्कालीन एकतांत्रिक व्यवस्था में सभी अधिकार सम्राट् या राजा के पास रहते थे इसलिए मुकदमा चलाने, उस पर निर्णय करने और निर्णय को कार्यान्वित करने के समस्त अधिकारों और कर्त्तव्यों के उपेक्षा की संभावनाएं बढ़ जाती हैं। संपत्ति और शक्ति का स्रोत व्यापक जनसत्ता या कोई सूक्ष्म सत्ता न होने के कारण सम्राट् या राजा में ही सारी शक्तियां निहित होती हैं। परिणाम यह होता है कि राजा या सम्राट् की सेवा सभी प्रकार से फलप्रदायिनी होती है[3]। और यह फल भी उन्हें

---

१- चार दूत पठवै यह सिक्षा । जाए दूतनि पूछै निक्षा ।।
+ + +
साक्षीन तें रक्षा करै । चोर मार बटपारिन हरै ।।
अन्याई ठगनिकर निवारि । सबतें राखहिं प्रजाविचारि ।।
के०गृ०पृ० ५९६ ।

२- मक्षता दगाबाज बहु भांति । बेरे-बेरी सेवक जाति ।।
भिक्षुक रिनिया चातीदार । अपराधी अधिकारी ख्वार ।।
ये सुख सोदर सिष्य अपार । प्रजा चोर मरु रत परदार ।।
ये सिख देत मरे बौ साव । हत्या तिनकी नाहिन राव ।।
के०गृ० पृ० ५९९ ।
भिगदंड वचन दंड संघेप । राजलोक आगमनि निषेध ।।
चौथे काढ़ सेव अधिकार। पांचे दीवे देस निकार ।।
छठे रोकि राखै अवलोकि। सातौ घेरि देय नहिं मोकि ।।
आठौ ताड़ नाम तनु-भंग । बधै बीच को करै अनंग ।।
ऐसौ दंड बध के सु विवेक । बानहु धन के दंड अनेक ।।
के०गृ०पृ० ५९९ ।

३- सोभत दंडक की रुचि बनी । भांतिन भांति सुन्दर फनी ।
सेव बड़े नृप की तनु लसै । औरन भूरि भाग वहं बसै ।
के०गृ० पृ० २८५ ।

मिलता है जो नृप के अपने अधिकार होते हैं। नारी शरीर में यौवन रूपी नृपति ने स्तन, मन, नयन और नितंबों को अपना समझ कर अत्यन्त विस्तार और प्रौढ़त्व प्रदान किया है[1], जिस प्रकार कोई राजा अपने सहायकों और संबंधियों को विभिन्न प्रकार से पुरस्कृत करता है। "हिम्मत बहादुर विरुदावली" में पद्माकर ने हिम्मतबहादुर के कृपा के फलस्वरूप ही "घर की साहिबी" प्राप्त होने की बात कही है। उन्हीं की कमाई पर सभी प्रकार के सुख प्राप्त करने का अवसर मिला। उनकी कृपाण एवं कृपा से नृपतियों का सा जीवन प्राप्त हुआ, हाथी, घोड़े, रथ, पालकी और परगने आदि मिले[2]। बोधराज ने भी बारह हजार मनसब देने की बात कही है[3]। किन्तु एक ओर राजा की कृपा जहाँ अनेकानेक फलों को देने वाली है वहीं उसकी अकृपा सभी प्रकार की विपत्तियों और यातनाओं का कारण बन सकती है। विशेषरूप से दुर्जन को तो राजा पातक और रोग सभी सताते हैं[4]। दोहे

---

१- अपने अंग के जानि के जोबन - नृपति प्रवीन।
स्तन, मन, नैन, नितंब को बड़ो इजाफा कीन॥
वि०र०दो० २।

२- हिम्मतबहादुर ने हौं सब साहिबी घर की दई।
राई सु सब सुख की विशिष्ट इनकी बदौलत तें भई।
इनकी कमाई बनम तें खाई खाई और को।
इनकी कृपा'रू कृपा तें पहुचि नृपन के तीर कों।
हाथी तुरंग रथ पालकी परगनें इन बक्शे सबै।
पद्म ग्रं० पृ० १८।

३- जीवत पकरि याहि सब लीजै।
मनसब दस्स सहस्स करीजै॥
बोध०इ०रा०पृ० १५८।

४- कहे बड़े पुनि बुद्धजी, बड़े सयाने लोग।
तीन बसावत नितकहीं पातक, राजा, रोग॥
वि०र०दो० ४२९।

राजकीय नियंत्रण में प्रजा का कष्ट उसी प्रकार बढ़ जाता है जैसे अमावस्या के दिन चन्द्रमा और सूर्य मिल कर संसार को अधिक तमसाच्छन्न कर देता है[1]। राजा के हाथ में समस्त शक्ति और दायित्व केन्द्रित हो जाने के कारण प्रशासक राजा को प्रसन्न करने के लिए अथवा कभी-कभी उसके अज्ञान का लाभ उठा कर प्रजाजनों को सताते हैं, विभिन्न प्रकार की यातनाएं और कष्ट देते हैं। बिहारी को संभवतः इसी स्थिति से प्रेरित होकर "स्वारथ सुकृतु न" वाला दोहा कहना पड़ा। जिसकी व्याख्या करते हुए बिहारी रत्नाकर के टीकाकार ने बिना राजा जयशाह की ओर इसका संकेत माना है[2]। वस्तुतः एक ही व्यक्ति में सभी शक्तियों का केन्द्रित होना अपने आप में बुरा है किन्तु ज्ञान हीन और प्रजा के हितों की उपेक्षा करने वाले एवं मंत्रियों आदि पर अधिक रहने वाले राजा के संदर्भ में तो यह स्थिति और भी बुरी हो जाती है[3]।

२- पराजय की मनोवृत्ति अत्यन्त व्यापक होते हुए भी यत्र-तत्र उसके अपवाद मिल जाते हैं। सेनापति भरतों के म्लेच्छ राजा के सेवक कहलाना पसन्द नहीं करते इसलिए वे राजा राम का यशोगान कहीं उपादेय और उच्च मानते हैं[4]। रीतिकालीन कवियों में भूषण में राजनीतिक दृष्टि और

---

१- दुख दुराज प्रजानु कौं क्यौं न बढ़ै दुख दंदु।
अधिक अंधेरी जग करत मिलि मावस रवि-चन्दु॥
बि०र०दो०३५७।

२- स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु वृथा, देखि बिहंग, बिचारि।
बाज, पराऐं, पानि पर तूं पच्छीनु न मारि॥
बि०र०दो० २००।

३- मंत्रिनि के बस जो नृपति, सो न लहतु सुख साज।
म०गृ० पृ० ४८८।

४- चिंता अनुचित तजि, धीरज उचित सेना-
पति हूं सुचित राजा राम बस गाइये।
बारि बरदानि तजि पाइ कमलेच्छन के,
पाइक मलेच्छन के काहे कौं कहाइये॥
से०क०र०पृ० १०७।

जागृति सबसे अधिक है। हिन्दुओं की हार के कारणों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने जो कुछ कहा है[1] वह अपने आप में बिल्कुल ठीक भले ही न हो किन्तु हिन्दुओं का फूट के फलस्वरूप उनकी पराजय का सिद्धान्त राजनीतिक इतिहासकार भी अब तक दोहराता रहा है। भूषण औरंगजेब के समय थे और औरंगजेब के परम शत्रु छत्रपति शिवाजी उनके चरित-नायक थे इसलिए भूषण के काव्य में औरंगजेब की कापुरुषता और उसके अत्याचारों का वर्णन और शिवाजी एवं छत्रसाल के अमेय पौरुष का यशोगान एक साथ प्राप्त होता है। औरंगजेब ने अपने पिता बादशाह शाहजहाँ को गिरफ्तार कर लिया है, उसका बड़ा भाई दारा भी उसकी कैद में है, (और अन्ततः दारा को कत्ल करवा दिया) भाई मुरादबख्श के साथ भी दगाबाजी की है[2]। इसके विपरीत शिवाजी गरीबों के रक्षक और राम

---

१- बापस की फूट ही तें सारे हिंदुवान टूट,
टूट्यो कुल रावन अनीति अति करतें।

-भू० ग्रं० पृ० १५४।

२- किले के ठौर बाप बादशाह साहिबहिं,
ताको कैद कियो मानो आगि लाई है।
बड़ो भाई दारा वाको पकरि के कैद कियो,
मेहरु नहिं वाको बायो सगो भाई है।
बंधु तै मुराद कत्ल बादि चूक करिबे को,
बीच तै कुरान खुदा की कसम खाई है।
भूषन सुकवि कहै सुनो नवरंग देव,
ऐसे काम कीन्हे केरि बादशाही पाई है॥

भू० ग्रं० पृ० ११३।

के साक्षात् अवतार हैं[1] । तत्कालीन चरित कवियों की दृष्टि में हिन्दू-जाति आधुनिक राष्ट्र की कल्पना की स्थानापन्न थी और अपने चरित नायक को वे हिन्दू जाति का प्रतीक, रक्षक और यदा कदा पर्याय, मान कर चलते थे । शिवाजी ने हिन्दुओं के हिन्दुत्व की रक्षा की, स्मृति, पुराण और वेद आदि की परम्परा को बनाये रखा, राजपूतों की मर्यादा कायम रखी, राजाओं के राजधानियों की रक्षा की, पृथ्वी में धर्म को बनाये रक्खा और मराठों की सीमा की रक्षा की । ऐसे शिवाजी के शौर्य से दिल्ली का शासक भयभीत और त्रस्त हो गया है[2]। भूषण ने अपने चरितनायक शिवाजी के शौर्य और पराक्रम का जितना वर्णन किया है वह अत्युक्तिपूर्ण भले ही लगे किन्तु मनूची जैसे तत्कालीन यात्रियों के आंखों देखे वर्णन के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि उस प्रशस्ति का अधिकांश निराधार नहीं । मराठे और बुन्देले औरंगजेब के शासनकाल में दिल्ली की गद्दी के प्रमुख और प्रबल विद्रोही थे । भूषण एवं गोरेलाल ने शिवाजी और छत्रसाल द्वारा सम्राट् के विरुद्ध किये जाने वाले संघर्ष को

---

१- आजु गरीबनेवाज यहै घर तो सो तुही सिवराज विराजै ।।
भू०ग्रं० पृ० १३ ।
दिल्लि दलन दक्खिन दिसि बंधन, ऐड़ धरन सिवराज विराजै ।।
भू०ग्रं०पृ० ४२ ।
बरबा सिवाजी राम ही को अवतार है ।।
भू०ग्रं०पृ० ५० ।

२- राखी हिंदुवानी, हिन्दुवान के तिलक राख्यो,
स्मृति पुराण राख्यो वेद-विधि सुनी मैं ।
राखी रजपूती, राजधानी राखी राखन की,
धरा में धरम राख्यो राख्यो गुण गुनी मैं ।।
भूषन सुकवि कीरति बदद मरहट्ठन की,
देस देस कीरति बखानि तब सुनी मैं ।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबिके दिवाज राखी दुबी मैं ।
भू०ग्रं०पृ० १७१ ।

(राम नरेश त्रिपाठी द्वारा संपादित)

हिन्दू जाति के प्रतीक के संघर्ष के रूप में चित्रित किया है। इसलिए स्वभावतः उसमें कहीं कहीं दुर्धर्ष और अपराजेय शक्ति को वाणी मिली है। शिवाजी की शक्ति से आतंकित बेगमें बादशाह से, शिवाजी से, वैर न करने की प्रार्थना करती है। शिवाजी के प्रताप और आतंक के कारण पुर्तगाल आदि उन्हें कर देते हैं[1]।

४- औरंगज़ेब के शासन काल में सम्राट् और प्रशासन की सांप्रदायिक दृष्टि के कारण हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य की भावना और प्रबल हो गयी। औरंगज़ेब ने बहुत बड़े पैमाने पर मंदिर और देवालय गिरवाये, तीर्थयात्रा पर कर लगाये[2]। औरंगज़ेब ने इस्लाम धर्म के रक्षक के रूप में शासन की बागडोर ली थी इसलिए गद्दी पर बैठते ही उसने हिन्दुत्व विरोधी कार्य आरम्भ कर दिये[3]। अपनी कूटनीतिक दृष्टि और व्यक्तिगत पराक्रम के फलस्वरूप औरंगज़ेब ने मुगलसाम्राज्य को विस्तार दिया किन्तु और अपने

---

१- सबन में साहू की सुंदरी सिवाये ऐसे,
सरजा से वैर ठानि करी बड़ाबड़ी है।
पेस की भेजत सिवाजति पुरतगाल,
सुनिके सहम जाति कारनाट बढ़ी है॥
भू॰गं॰ पृ॰ ७५।

२- जबतें साह तख्त पर बैठे तबतें हिंदुन सों डर ऐठे।
मंदिर कर तीरथन लगाए वेद पुरान सिंदर डहाए।
घर घर बांध बंधिया लीन्हें अपने मन भाये सब कीन्हें।
सब रजपूत सीस नित नावैं ऐड़ करैं नित पैदल धावैं॥
साल॰ छ॰पु॰पृ॰ ७८।

३- पातसाह लागे करन हिन्दु धर्म की नासु।
सुधि करि संभराय की लई चुन्हेला सासु॥
गोरे॰ छ॰पु॰ पृ॰ ८४।

जीवन की सादगी, संयम और अनुशासन से उसने सहायकों और प्रशासकों में एक प्रकार का आतंक भी बना दिया किन्तु उसके यही गुण पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य के प्रतिकूल परिणाम वाले सिद्ध हुए। साम्राज्य के विस्तार में लग जाने से प्रशासन उपेक्षित हो गया, विशेषरूप से उसके बीस वर्ष के दक्षिण प्रवास के समय मध्यदेश की स्थिति अत्यन्त बिगड़ गई। अपना हर काम स्वयं करने के कारण धीरे-धीरे वह अपने सहायकों का विश्वास एवं सहानुभूति खो बैठा। अनुशासन की कठोरता और आतंक के कारण उसके सहायक लगन के बजाय विवशता में यंत्रवत् कार्य करने लगे। सम्राट् के भूलों के और परामर्श-हेतु भी संकेत करने का किसी को साहस न रह गया। उसके उत्तराधिकारी प्रायः बुद्धिहीन, अशक्त, विलासी, मद्यप और कायर रहे। नादिरशाह के आक्रमण के समय देश की राजनीतिक जर्जरता का जो चित्र घनानन्द ने प्रस्तुत किया है वह तत्कालीन राजनीतिक स्थिति को सार रूप में सच्चे और अच्छे ढंग से व्यक्त करता है। मोहम्मद शाह नादिरशाह का सामना नहीं कर सका बाबर और हुमायूं जैसे बहादुरों का चलाया हुआ राजवंश इस गर्हित अवस्था को प्राप्त हुआ[1]।

आर्थिक जीवनः

५- सामान्यतः कल्पनाजीवी साहित्यकार और उसका सौन्दर्यपारखी समीक्षक दोनों यह मान कर चलते हैं कि कल्पना-लोक के सृष्टा स्वयंभू साहित्यकार को, विशेषकर कवि को, जीवन के और यथार्थपरक आर्थिकपक्ष

---

१- नीम पातसाह भूल्यो, सूझ्यो मनसूब चूक्यो,
बहुत दिन निबाह चूक्यो कारिज करेगे किये।
देख्या मदपान करि छकि गये अमीर तेवे,
रव तम की धार काढ़ी लूटे को खिलौकिये॥
दिल्ली भई खिल्ली कटैया कृपा देखि डरी,
भूल्यो मुहम्मद शाह पीछे सब कह टोकिये।
बाबर हुमायूं को चलायो सब बंस,
ताको यह कैसो लोक परवा करम ठोकिए।
घ०ग्रं० पृ० ६१ (भूमिका में)

से कोई प्रयोजन नहीं होता । वह पैसे की दुनिया को हेय और तिरस्करणीय समझ कर एक ऐसे लोक का सृजन करता है जहां आर्थिक वैषम्य की विडम्बना अन्ततः नहीं रह जाती किन्तु साहित्य का इतिहास उसके प्रतिकूल साक्षी प्रस्तुत करता है । आधुनिक समालोचक और काव्याचार्य यह प्रायः मान चुके है कि साहित्य समाज से विच्छिन्न नहीं रह सकता क्योंकि साहित्य जीवन से परे होकर जी नहीं सकता और मनुष्य का जीवन समाज से परे संभव नहीं । यह अवश्य है कि भविष्य-द्रष्टा साहित्य-स्रष्टा का सृजन कभी-कभी समाज को गति और दिशा भी देता है, और कभी उससे विनियमित भी होता है । काव्य की विषयवस्तु ही नहीं उसकी विभिन्न विधाएं और उसके विभिन्न रूप भी युग जीवन से अनुशासित होते हैं । मालोच्यकाल का साहित्य समकालीन आर्थिक व्यवस्था से विशेष रूप से प्रभावित रहा है और उसके स्पष्ट प्रतिबिंब भी साहित्य में है । वस्तुतः इस युग के कवियों का एक बड़ा वर्ग उस समाज के अधिक निकट था जिसमें राजशक्ति और धनशक्ति दोनों प्रभूत परिमाण में केन्द्रित थीं और उनसे उत्पन्न होने वाली अच्छाइयां बुराइयां भी उपस्थित थीं । कवियों का एक बहुत बड़ा वर्ग दरबारी था । उनके आश्रय दाता तो इन्द्र-पद के अनुरूप अपने जीवन को वैभव और प्रदर्शन से युक्त रखते ही थे, उनका आश्रित कवि भी वैभव और विलासपूर्ण जीवन की ओर आकृष्ट था । पद्माकर ने एक स्थान पर अपने रहन-सहन और जीवन से संबद्ध जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमें अत्युक्ति भले ही हो किन्तु वह निराधार नहीं है । झूमते हुए हाथी, मस्त घोड़े, हीरे मोतियों से जड़े हुए गहने आदि का वैभव देख कर देवता बेचारे इन्द्र-लोक छोड़ कर प्रतापसाहि के आकर्षण में धरती पर आना चाहते है और उनका कवि अर्थात् पद्माकर स्वयं इतनी विभूतियों से युक्त है कि इन्द्र अपना इन्द्रत्व छोड़ कर अवीन्द्र कहलाना चाहता है और इंद्राणी कविरानी की पदवी पाकर अपने को गौरवान्वित करना

चाहती हैं[1]। वैभव के प्रति इस आकर्षण ने आलोच्यकाल के, विशेषकर तत्कालीन शृंगारी कवियों में एक प्रकार की "शहरी" मनोवृत्ति उत्पन्न कर दी थी जिसके कारण वे नगर-संस्कृति और सभ्यता में ही रमना अधिक उपयुक्त समझने लगे थे। विषयवस्तु और अभिव्यक्ति दोनों की दृष्टि से वे परिष्करण को इस सीमा तक खींच ले जाते हैं कि वह कृत्रिम होने लगता है। बिहारी ने जब गुलाब के गंधी को गंवई गांव में जाने और वहां व्यापार करने से मना किया था तो उसके पीछे भी यह शहरी मनोवृत्ति और उच्च वर्ग के जीवन के प्रति मोह काम कर रहा था[2]।

६- आलोच्यकाल के काव्य में आर्थिक जीवन की इस सामान्य छाप के अतिरिक्त तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था के विशिष्ट प्रमाण भी मिलते हैं। शृंगारी कवि अपने उपमान भी यदाकदा जीवन के आर्थिक पक्ष से चुन लेता है। बिहारी की नायिका की टेढ़ी अलक मुख पर गिर कर उसके मुख की कान्ति को उसी प्रकार बढ़ा देती है जैसे "बंक बकारी" देने से दाम रूपया हो जाता है[3]। रूपये में दो अधेली, चार पावली, आठ छन्नी, सोलह आने, बत्तीस अठन्ने, चौंसठ पैसे, एक सौ अट्ठाइस अधेले, दो सौ छप्पन्न छदाम, और पांच सौ बारह दमड़ी होती[4]। जमीन नापने के लिए बिस्वा और बीघे की माप प्रचलित है बीस बिस्वा का -

---

१- इंदपद छोड़ इन्द्र चाहत कविन्द्र पद-
चाहै इन्द्रपुरी कविपुरी कहलाइबो।। पद्मगं०पु० ३०४।

२- कर लै, सूंघि, सराहि हूं रहे सबै गहि मौनु।
गंधी अंध गुलाब को गंवई गाहकु कौनु।। बि०र०दो० ६९४।

३- कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगी इती उदोतु।
बंक बकारी देत ज्यौं दामु रूपैया होतु।। बि०र०दो० ४४९।

४- क० कौ० पृ० ५०९।

एक बीघा होता है[1]। तौलने के लिए बाटों का प्रयोग होता था और "मन" की तौल होने का उल्लेख सेनापति एवं बोधराज के काव्य में मिलते हैं[2]।

७- बीविकोपार्जन के लिए कृषि विभिन्न व्यवसाय और उद्योग-धन्धों तथा वाणिज्य कर्म का आधार लिया जाता है। भारत आरम्भ से ही कृषि प्रधान देश रहा है और आलोच्यकाल में भी देश की अधिकांश जनता अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर करती है। वैज्ञानिक साधनों का विकास न होने के कारण आलोच्यकाल में, उससे पहले भी और अब भी भारत का किसान पानी के लिए वर्षा पर निर्भर रहा है। खेती के लिए वह "नखत" को उतना ही आवश्यक मानते हैं जितना ब्याह के लिए दूल्हा[3]। ऐतिहासिक साक्ष्य से यह विदित होता है कि ईख की खेती उस समय पर्याप्त मात्रा में होती थी। बिहारी जैसा नागरिक मनोवृत्ति का कवि भी कभी-कभी किसी गोरटी का गदराया तन देखने के लिए ग्रामीण अंचल में पहुंच जाता है। इससे ग्राम्य-जीवन का महत्व परिलक्षित होता है। उसकी नायिका के बोल मिश्री की तरह नहीं ईख की तरह मीठे हैं[4]। उसकी रसीली नायिका के शेष के समय अथवा रसहीन रूप में भी रसिकों को रस मिलता है जिस प्रकार सठि अर्थात् ईख की कठिन गांठ में भी मिठास की अधिकता होती है[5]। बिहारी

---

१- बोधराव- ह०रा०पृ० १३१।

२- सेनापति- क०र० पृ० ८।
बोधराव- ह० रासो- पृ० ६९।

३- वर से ब्याह, नखत से रेवती।
बाण- भ० पृ० ६४।

४- मिलु छबीले लाल, वह नहिं औ लगि बतराति।
ऊख, मधुर, पियूष की तौ लगि भूखि न जाति॥
बि०र०दो० ५०४।

५- अनरस हू रस पाइयतु, रसिक, रसीली-पास।
जैसे सठि की कठिन गांठ्यौ मीठी मिठास॥
बि०र०दो० ११७।

ने ईख के साथ अरहर का भी उल्लेख किया है[1] । कृषि का भारतीय जीवन में आर्थिक और संस्कृति दोनों दृष्टियों से असाधारण स्थान होने के बावजूद भी रीतियुगीन काव्य में उसके उल्लेख अपेक्षाकृत अल्प हैं । यह तो स्पष्ट ही है कि उपज की दृष्टि से खेती की तत्कालीन स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी । उसका कारण संभवतः यह नहीं था कि धरती की उर्वरता कम हो गई हो किन्तु उस समय वैसे प्रशासनिक व्यवस्था थी उसमें किसान को अधिक लगन से काम करने के लिए उत्प्रेरक तत्वों का एकान्त अभाव था । रीतिकालीन काव्य में खेती के प्रति किसान की लगन और उसके परिश्रम, जमीन के संबंध में उसमें स्वत्व की भावना के अभाव का एक कारण संभवतः यह भी रहा हो ।

८- रीति काव्य में विभिन्न पेशों के उल्लेख भी आये हैं । इनमें बैद्य का उल्लेख अन्य पेशों की अपेक्षा अधिक मिलता है । सेनापति, बिहारी, बोधा और सीपति चारों के काव्य में यत्र-तत्र बैद्य का उल्लेख आया है[2]। सुन्दरदास ने दर्जी, बढ़ई, सोनार, जौहरी, लोहार और कुम्हार के व्यवसायों का उल्लेख किया है । दर्जी का पद्माकर ने भी स्मरण किया है । बिहारी धोबी (कपड़ा धोने वाले) भोड़ (ईंट चूना ढोने वाले लोग) और कुम्हार

---

१- सनु सूक्यौ बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि ।
हरी हरी अरहरि अबौ, धरि धरहरि जिय, नारि ।।
बि०र०दो० १३५ ।

२- सेनापति- क०र० पृ० २६ ।
बिहारी- र० दोहा ४७९ ।
बोधा- बि०वा०, पृ० १०७ ।
सीपति- क० कौ० पृ० ५५९ ।

(मिट्टी के बर्तनों का काम करने वाले) के नाम लिये है। सुनार के कार्य का अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत विवरण सेनापति के कवित्त रत्नाकर में उपलब्ध होता है[1]। बिहारी ने भी बढ़ई का उल्लेख किया है[2]। दरिया साहब ने कसाई और चर्मकार के नाम लिये हैं[3]। बाजीगरी और नट के पेशे के द्वारा भी जीविकोपार्जन का विवरण प्राप्त होता है[4]। अकबरसाहि ने शृंगार मंजरी में सुनारिन, पाञ्चेयी, प्रतिवेशिनी, शिल्पिनी आदि के रूप में दूतियों का उल्लेख करते हुए स्त्रियों के भी कुछ व्यवसायों का परिचय दिया है[5]। बिहारी ग्रन्थावली में नाइन, नटिन, चुरिहारिन, बरइन, रामजनी, रंगरेजिन, कुम्हारिन, अहिरिन, बैरिनी, गन्धिन, मालिन और नटी का उल्लेख आया है। यह स्पष्ट नहीं कि इनमें कौन सी स्त्री अपने पति के व्यवसाय के कारण उस संज्ञा से अभिहित की गई है और कौन स्वयं यह पेशा करती है[6]।

९- वाणिज्य अथवा व्यापार भी विकसित समाज में जीविकोपार्जन का एक महत्वपूर्ण साधन है। पूंजीप्रधान अर्थ-व्यवस्था में तो यह संपत्ति के अर्जन और उसके फलस्वरूप शोषण और आर्थिक वैषम्य का कारण बन जाता है। बाणोत्तरकालीन अर्थव्यवस्था सामन्तवादी थी। पूंजीवादी समाज में अर्थ शक्ति और राजशक्ति अप्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे से संबद्ध होती है। प्रायः पर्दे के पीछे से अर्थशक्ति राजसत्ता का संचालन करती है किन्तु सामंतवादी

---

१- सेनापति- क० र० पृ० २५।

२- बिहारी- विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १७८।

३- कसाई करम रुधिर भरि छिपक। चरमकार भाजु रिधि दिपक॥
दरिया० पृ० ३८१।

४- क० ग्रं० पृ० ३३७(नट)
२९३(बाजीगर)।

५- अकबर- शृं०, पृ० १२५-१२८।

६- बि० ग्रं०, पृ० २९-३२।

समाज में अर्थ-शक्ति भी राजसत्ता में ही केन्द्रित हो जाती है । मालोच्यकाल में व्यापार की स्थिति सामान्यतः सामन्तवर्ग की क्रयशक्ति पर निर्भर थी । सामन्तवर्ग की पसंदगी और नापसंदगी बहुत कुछ अपनी उनकी सनक पर आश्रित थी । प्रदर्शन और विलास उनकी क्रयशक्ति के मुख्-प्रेरक तत्व थे, उपयोगिता के लिए वहां संभवतः कोई स्थान न था । इसलिए प्रायः तत्कालीन साहित्य में अनुपयोगी या अपेक्षाकृत कम उपयोग वाली किन्तु विलास और प्रदर्शन की दृष्टि से महत्वपूर्ण वस्तुओं की तालिका अधिक मिलती है । इतिहास ग्रंथ देश की तत्कालीन आर्थिक विपन्नता के साक्षी है और जनसाधारण में क्रय शक्ति का प्रायः अभाव सा है । इसलिए ही संभवतः मालोच्यकाल के साहित्य में दैनन्दिन उपयोग की वस्तुओं से संबंधित व्यापार के उदाहरण अधिक नहीं मिलते । भारत का व्यापार परंपरा से ही वैश्यों के हाथ में रहा है ।मालोच्यकाल में भी ऐसा ही है[१]। क्रय-विक्रय में मध्यस्थ होने वाले दलालों का भी उल्लेख तत्कालीन काव्य में प्राप्त होता है[२]। व्यापार को आवागमन के लिए अन्य साधनों के अतिरिक्त नाव या बहाव का उपयोग अधिक होता था । बिहारी सतसई में दो स्थानों पर नाव का आधार लेकर कवि ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है[३]। भूषण ने तो व्यापार के लिए बहाव का प्रयोग का स्पष्ट उल्लेख किया है[४] । तत्कालीन उद्योगों में वस्त्र उद्योग का महत्वपूर्ण स्थान है । तत्कालीन काव्य में विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का अनेकधा उल्लेख आया है । इनमें सूदन

---

१- चले बनिजां संग व्यापार भारी————

बोधराव- छ०रा०पृ० ७७ ।

२- केसवदास- पृ० १२५ ।

३- बि०र०दोहा- ४६१ और ४९१ ।

४- बेपारी बहाव के, न रावा भारो राव के,
बिहारी हसै कीवे महाराव शिवराव के ।।

भू ग्रं० पृ० ८१ ।

ने दुशाला, पट्टू, बाला, ऊनी, बाला, मखमल, छींट, किमखाब, पश्मी, बरदोब, मुकेशी, दानाफेशी, मखरू, ताफता, बादी बादि बनेक वस्त्रों का उल्लेख किया है जो बाजार में बिकते थे[१] । राजविलास में बाजार के वर्णन के प्रसंग में वस्त्रविक्रेताओं की दूकानों पर बरदाफ, मखमल, मखम्बर, गाढ़ा, सिक्लात बादि बनेक प्रकार के वस्त्र रखे है । तनसुख, सूफ, पटोर, दरियाई, और मनसुख बादि अमीरों के योग्य वस्त्र बिक रहे है[२]। केशवदास ने गुजरात के वस्त्रों की प्रशंसा की है[३] । कपड़े का काम भी होता था तभी तो बिहारी ने चूहे के कपड़े से दमामा न बनने का रूपक बना कर छोटे लोगों से बड़ों का काम सम्पन्न न होने की बात कही है[४]। सबलो बाई ने साबुन का उल्लेख किया है जो कपड़े बादि धोने के काम में लाया जाता था[५]। चूंकि तत्कालीन राज्यव्यवस्था युद्ध और सैनिक शक्ति पर बाधारित थी इस लिए सैन्यायुधों का निर्माण और उत्पादन स्वभावतः बधिक होता था । इनका उपयोग पर्याप्त उन्नत बवस्था में था पद्माकर ने गुरदा, छुरी, तमंचा, तीर बादि के नाम लिए हैं[६]। हम्मीर रासों में इन हथियारों के उल्लेख बहुत विस्तार पूर्वक बाए हैं । गोला और बारूद जैसे बाग्नेय-विस्फोटों का प्रयोग होता था । तोप और बन्दूकों का उपयोग होता

---

१- सू०सु०च० पृ० ७४ ।

२- मान०रा०वि०पृ० ३६ ।

३- केशोराय पालवान राजत है राजीव से ।
बाहन मत्तन बाहे बाहे गुजरात के ।। के०ग्रं० पृ० ६३३ ।

४- बि०र० दोहा १३१ ।

५- सबलो- स०ग्रं० पृ० २५ ।

६- गुरदा बगुरदा छुरी बमबर दम तमंचे कटि लसे ।
बर बिबिध तीरन सों भरे तह है तुनीर महा लसे ।।
पद्०ग्रं० पृ०१६ ।

था[1]। खेल, खड्ग, तेग, कटारी और छूरी के प्रयोग का भी उल्लेख आया है[2]।

१०- तत्कालीन ऐतिहासिक साक्ष्य के अनुसार भारत का विदेशी, व्यापार भी उस समय प्रायः उन्हीं वस्तुओं से अधिक संबद्ध था जो इलीट वर्ग या सामंतवर्ग के उपयोग की थी। मुख्यतः चांदी, सोना, तांबा, और अच्छे किस्म के ऊनी कपड़े यूरोप, और फ्रान्स से विशेष कर मंगाये जाते थे। फारस की खाड़ी और खुरासान से घोड़ों का आयात अधिक होता था[3]। पद्माकर ने ईरान के घोड़ों को देखकर शहजादों के प्रसन्न होने की बात कही है। इसके अतिरिक्त तूरान तुरंग गति में हिरनों से भी आगे हैं। "रूम" और खुरासान के घोड़े भी विशेष रूप से प्रशंसित होते हैं[4]। किन्तु कुल मिलाकर विदेशी व्यापार की स्थिति संभवतः बहुत अच्छी नहीं रही होगी।

११- रीतिकालीन समाज की सामाजिक रचना का तत्कालीन काव्य के माध्यम से, ऐतिहासिक साक्ष्य की सहायता लेकर जो चित्र बनता है वह कुछ इस प्रकार का है। सामाजिक रचना के शिखर पर राजकुल और सामंत परिवार स्थित है जो देश की जनसंख्या का अत्यन्त अल्पांश है और जिसके पास देश

---

१- जोध० ह०रा० पृ० १५१ और ७०।

२- वही, पृ० १५२।

३- केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ् इंडिया - जिल्द ४, पृ० ११६।

४- महा अस्व ईरान के मौं कहाके। लखे को जिन्हे साहिबादे लहाके॥
तहां तेज तूरान के हैं तुरंगा। जिन्हैं दौरि में नाहिं पावैं कुरंगा॥
महा सान हस्फान के हैं सुभाके। मनो पौन के मौन को लेत हाके॥
† † †
करै रूम के अस्व डम्भगिम ऐसी। करी ही कभी सिंधु कूदंत वैसी॥
खुरासान के सान के है खिलाने। तुरकी तमीके कमके सुहाने॥
पद्म ग्रं पृ० २८०।

की समस्त राजशक्ति और अधिकांश धनशक्ति केन्द्रित है। इस वर्ग का ध्यान देश की विविधमुखी आर्थिक उन्नति की ओर नहीं है उनके अपने जीवन में भी उपयोगिता से कहीं अधिक विलास और प्रदर्शन की ओर दृष्टि है। ऐसी स्थिति में वाणिज्य और उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए अपेक्षित उत्प्रेरकों का अभाव है। राष्ट्रीय आय की राशि शोषित और निरिक्त होती है उसका एक बहुत बड़ा भाग जब इस प्रकार ऐश-आराम के साधन जुटाने में कुछ लोग प्रयोग करते हैं तो शेष बहुसंख्यक जनता के लिए कम ही बचता है। इसलिए आलोच्य-कालीन काव्य में जनसामान्य की आर्थिक विपन्नता, के प्रभूत चित्र न होने पर भी यह निष्कर्ष, निकालना निराधार न होगा कि अधिकांश आदमी गरीब था। उसकी गाढ़ी कमाई का एक बड़ा हिस्सा एक ऐसे वर्ग के हाथ में चला जाता है जो राष्ट्रीय आय को अनुत्पादक कार्यों में लगाता है, फल-स्वरूप देश के आर्थिक विकास में एक प्रकार का गतिरोध आ गया है। आर्थिक जीवन के अध्येताओं का स्वभाव सा हो गया है कि वे आर्थिक दृष्टि से समाज को उच्च, मध्य और निम्न वर्गों में विभाजित कर देते हैं पर आलोच्यकाल में संभवतः मध्यवर्ग ही नहीं। दिल्ली के संबंध में तो बार्नियर ने असंदिग्ध शब्दों में यह घोषणा की है कि वहां मध्यवर्ग का कोई अस्तित्व नहीं है। निम्न-वर्ग की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं है उसे संभवतः अपने जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं मिल पाता। नौकर पेशा वर्ग और कलाकारों आदि की स्थिति अनिश्चित सी है। उनका भविष्य सम्राट् और सामन्तों की प्रसन्नता अप्रसन्नता पर निर्भर है। उत्पादक वर्ग में कृषि कर्म में लगे हुए लोगों की संख्या सर्वाधिक थी किन्तु अन्य उत्पादक वर्गों की भांति कृषकों की स्थिति भी सामान्यतः अच्छी नहीं थी। शृंगार-प्रसाधनों और जीवन की अन्य अनुपयोगी वस्तुओं के अत्यन्त विस्तृत उल्लेख और कृषि जैसी सार्वभौम महत्व की वस्तु की रीतिकालीन काव्य में अपेक्षाकृत अभाव होने का कारण तत्कालीन कवियों की प्रवृत्ति के साथ साथ कृषि की स्थिति की सार्वभौम गिरावट भी है।

---

# अध्याय ४

## रहन - सहन

अध्याय ४

## रहन - सहन

आधार सामग्री-

१- रहन-सहन के विभिन्न पार्श्वों का अध्ययन करते समय हम यह देखते है कि जीवन के अन्य पक्षों की अपेक्षा इस संबंध में रीति काव्य विशेष रूप से सहायक होता है। खानपान का सर्वेक्षण करते समय रीति कवियों में केशव (१६१२-१६७४), बिहारी(१६६०-१७१०), मतिराम (१६७४-१७५८), तोष(१७९१), पद्माकर (१८१०-१८९०) के काव्यों से विशेष सहायता प्राप्त होती है। सूफी कवियों में उस्मान (१६७०) का काव्य इस दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। कासिम (१६९२) और बोधा (१८०४-१८६०) के काव्यों में भी आधार भूत सामग्री उपलब्ध होती है। चरित काव्य के प्रणेताओं में सूदन(१८२०) और बोधराज (१८७५) का काव्य सहायक सिद्ध होता है। संत कवियों में एकमात्र सुंदरदास(१६५३-१७४६) पर निर्भर रहना पड़ा है। खानपान के अधिक उल्लेख घाघ भड्डरी (१७५३) की लोकोक्तियों में मिलते हैं। परिमाण की दृष्टि से, खानपान के संबंध में, रीतिकवि अपेक्षाकृत कम विवरण प्रस्तुत करते है और इनके जो विवरण उपलब्ध भी है वे प्रधानता उच्चवर्ग से संबद्ध हैं। अपेक्षाकृत अधिक विवरण घाघ की कहावतों और उस्मान के काव्य में है।

२- वेशभूषा के संबंध में रीतिकवियों में आधारभूत सामग्री परिमाण की अधिकता के क्रम से केशव(१७३०-१८०२), केशव एवं मतिराम के काव्यों में उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त बिहारी, भिखारीदास (१७५५) तोष, पद्माकर, गुमान(१८७९) के काव्यों में उपयोग की सामग्री प्राप्त हुई है। नीतिकाव्यों में दीनदयाल (१८८८) और संत कवियों में सुंदरदास (१६५३-१७४६) के काव्यों से सहायता मिलती है। चरित काव्यकारों में मान(१७१७) और सूदन की रचनाएं सहायक हुई है। यह उल्लेख है कि वेशभूषा के वर्ण वैभव की दृष्टि से केशव का काव्य सर्वाधिक समृद्ध है।

३- नायक एवं भक्त - संख्या के प्रकरण में केशव, सेनापति, बिहारी, मतिराम, देव, घनानंद, पद्माकर और गुमान कवि की रचनाएं सहायक होती हैं। इनमें भी केशव, सेनापति, देव और गुमान का काव्य अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध है। वेशभूषा के प्रकरण की भांति यहां भी देव के काव्य में वर्ण साम्य और वर्ण वैषम्य का वैभव है। इनके अतिरिक्त उल्लेखनीय सहायता चरितकवि सूदन और सूफी कवि उस्मान के काव्यों से मिलती है।

४- शृंगार-प्रसाधन के क्रम में हमें रीतिकवियों में केशव, बिहारी, मतिराम, देव, घनानंद (१७४६-१७९६) तोष, सोमनाथ(१७९४), पद्माकर, प्रतापसाहि (१८८९-१९००) की रचनाएं विशेष रूप से समृद्ध दिखायी देती है। चरितकाव्य लेखकों में उल्लेखनीय सहायता केशव मानकवि से प्राप्त होती है। नीतिकवियों में दीनदयालगिरि और कृष्ण भक्त कवियों में नागरीदास (१७९०-१८१९) के काव्यों में भी तत्सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होते हैं। सूफी कवियों में कासिम का काव्य सहायक हुआ है।

५- आभूषणों के विवरण प्रचुरता के क्रम से बिहारी, भिखारीदास (१७४५) मतिराम एवं केशवदास के काव्य से सहायता मिली है। इनके अतिरिक्त सेनापति(१६४६) देव रसलीन (१७४६) आलम (१७४०-१७६०) पद्माकर और गुमान की रचनाएं विशेषरूप से सहायक सिद्ध हुई हैं। इनमें भी आभूषणों के नामोल्लेख की अधिकता और उनके सौन्दर्यबोध की दृष्टि से बिहारी अन्य कवियों से अधिक सजग समझे जायेंगे। सूफी कवियों में समयक्रम से उस्मान कासिम नूरमुहम्मद (१८०१) की रचनाएं सहायक हैं। चरितकवियों में मानकवि, सूदन और बोधराज (१८७५) के काव्यों में आभूषण संबंधी उल्लेख प्राप्त होते हैं।

६- मनोरंजन के संदर्भ रीति कवियों में केशव, बिहारी में अधिक मिलते हैं। सेनापति, मतिराम, तोष, पद्माकर और आलम(१७४०-१७६०) के काव्य से भी आधार सामग्री उपलब्ध होती है। चरितकवियों में मान, गोरेलाल(१७६४) सूदन एवं बोधराज के काव्यों में मनोरंजन सम्बन्धी उल्लेख पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इनके चरितनायक राजा हैं अतः राजाओं से संबंधित मनोरंजनों का उल्लेख

इनके काव्यों में अपेक्षाकृत अधिक है। सूफी कवियों में कासिम और उस्मान के काव्यों से भी उल्लेखनीय सहायता मिलती है। संत कवियों में सुंदरदास तथा सहजो बाई (१८००) की रचनाएं विशेषरूप से सहायक है।

७- रहन-सहन सम्बन्धी विभिन्न प्रकरणों के देखने पर यह विदित होता है कि जीवन की जो अपेक्षाकृत अधिक अनिवार्य आवश्यकताएं उनके उल्लेख रीतिकवियों में कम किन्तु अन्य कवियों में अधिक मिलते हैं और रमणीयता में वृद्धि अथवा विलास के लिए अपेक्षित वस्तुओं के उल्लेख रीतिकवियों में अधिक और अन्य कवियों में प्रायः कम मिलते हैं। इस प्रकार प्रचुरता की दृष्टि से रीतिकाव्य में पहले आभूषण, शृंगार प्रसाधन तब वेशभूषा और तत्पश्चात् खानपान का स्थान आता है। खानपान से अधिक संदर्भ तो भवन के सम्बन्ध में ही रीति काव्य में उपलब्ध हो जायेंगे। रीतिकालीन काव्य के आधार पर तत्कालीन समाज के रहन - सहन का अध्ययन करते समय इस दृष्टि से भी अधिक सजग रहने की आवश्यकता है कि तत्कालीन अधिकांश कवियों का, विशेषकर रीतिकवियों का, संपर्क उच्चवर्ग से था, और किसी भी वर्ग पर या वातावरण में रहने का प्रभाव कवि जीवन-दृष्टि पर चाहे विलम्ब से पड़े, बाह्य रहन-सहन पर अपेक्षाकृत जल्दी पड़ जाता है।

## खानपान

### आहार का महत्व:

८- आहार की गणना उस चतुर्वर्ग में की गयी है जो मनुष्य और पशु में समान होता है। आहार पेट भरने और उसके द्वारा जीवनी शक्ति को बनाए रखने के लिए मनुष्य और अन्य जीवधारियों के लिए समान रूप से आवश्यक अवश्य है किन्तु अपनी अन्य आवश्यकताओं की भांति मनुष्य ने इसमें संस्करण-परिष्करण के प्रयास किये है। इस प्रकार किसी काल की सभ्यता एवं रहन-सहन के स्तर पर तत्कालीन खान-पान और पाकविधि से यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। कृषिकार्य, भोज्य एवं पेय पदार्थ तथा पाकविधि का उत्तरोत्तर विकास सभ्यता की प्रगति के सूचक है। भारतीय मनीषा प्राणों को अन्नमय मानती

है । यह माना गया है कि, जैसे निर्माणकारी तत्व होंगे वैसी ही निर्मित होगी, अर्थात् जैसा अन्न होगा वैसे ही प्राण निर्मित होंगे । इसी-लिए भारत की सांस्कृतिक नैतिकता में बेटी ही नहीं रोटी के भी मानदंड निश्चित हैं, उतने ही कठोर संयम और अनुशासन की व्यवस्था आहार के लिए भी की गयी है । गीता ने विहार को ही नहीं आहार को भी युक्त बनाने का आदेश दिया है । क्या खाना चाहिए ? कब खाना चाहिए ? और कहाँ से प्राप्त अन्न का भोजन करना चाहिए? आदि प्रश्नों के निश्चित उत्तर दिये गये हैं । खाद्य-अखाद्य का विशद् विवरण प्रस्तुत किया गया है । विकास की प्राथमिक अवस्थाओं में दृष्टि आवश्यकतापूर्ति पर अपेक्षाकृत अधिक होती है । कच्चे फल एवं कंद-मूल का भोजन जीवनी शक्ति को बनाये रखने के लिए किया जाता रहा, किन्तु कालान्तर में दृष्टिकोण बदलता है, ध्यान आवश्यकता से हट कर विलास एवं स्वाद-सौंदर्य की ओर जाता है और भोजन में अनेकानेक रुचिकर व्यंजनों के विधान किये जाते हैं । इस दृष्टि से आलोच्यकाल के काव्य में चित्रित समाज जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति खान-पान में भी रुचि और स्वाद की दृष्टि लेकर चलता है । इसमें भी यत्र-तत्र अतिशयता की प्रवृत्ति मिलने लगती है ।

९- भारतीय आदर्श एवं परम्परा के अनुसार शाकाहार ही सात्विक एवं उत्तम भोजन माना गया है । रीतिकालीन काव्य-स्रोतों से ज्ञात होता है कि इस समय भी भोजन का आदर्श शाकाहार ही था यद्यपि मांसाहार का प्रचलन भी पर्याप्त रूप से था । अन्य क्षेत्रों की भाँति खान-पान में भी उच्च एवं साधारण वर्ग के मध्य गहरी खाई स्पष्ट देखी जा सकती है । उच्चवर्ग जहाँ सोने-चाँदी के मनोहर पात्रों में सुस्वादु एवं मूल्यवान् पकवानों का भोग करता था वहीं साधारण वर्ग का व्यक्ति मिट्टी के थोड़े बर्तनों में, पेट भरने के लिए, साधारण अन्न की रोटी और साग खाकर ही अपने को धन्य समझता था । राजन्य वर्ग के प्रतिदिन के एवं विशिष्ट भोजों पर परोसे गये विभिन्न व्यंजन स्वाद की संपन्नता एवं पकवानों की विविधता के द्योतक हैं ।

## खाद्यान्न एवं पकवान:

१०- रीतिकाल में अन्न की बहुलता थी । वनस्पतिवर्ग तथा द्रव्यवर्ग में पकवानों के निर्मित प्रयोग में लाए जाने वाले विविध खाद्यानों का उल्लेख सूदन ने किया है । गेहूं, चावल, चना, उड़द, मूंग, तिल मटर, मसूर, सरसों, सवां, कोदों, मक्का एवं मकरा आदि अन्नों के अतिरिक्त सोंठ पसाई, कागुनी, कुरावटी, कुलथी, सिंघारा, सकरा आदि भी भोजन में व्यवहृत होते हैं[1] । हिन्दुओं के सादे, स्वास्थ्यकर एवं सुरुचिपूर्ण सत्वगुण-प्रधान भोजन का स्थान अब धनी एवं उच्च वर्गों में चटपटे मसाले वाले बहुमूल्य एवं विशिष्ट रजोगुण प्रधान भोजन ने ले लिया था । हिन्दू सामन्तों की बड़ी दावतों एवं विशाल भोजों में पाकशास्त्री द्वारा रचित कला के अनुसार बनाये गये रुचिकर एवं सुस्वादु व्यंजनों की अधिकता रहती थी । ईरानी एवं पारसी पाककला की विधियां सम्पन्न हिन्दू एवं मुस्लिम वर्ग में समान रूप से लोकप्रिय हो गयी थीं । भोजन को बहुमूल्य, उत्तम एवं सुस्वादु बनाने के लिए विविध मसालों का विधिवत् प्रयोग किया जाता था । भोजन के संदर्भ में सूदन ने कालीजीरी, बायफल, बघाइन, बीरा, दालचीनी, पीपर, बाय-विरंग, आवंला, बेसलोचन, इलायची, लौंग, झिलगोज, सौंफ आदि मसालों के उपयोग का वर्णन किया है[2] । मसालों तथा अन्य अनेक आवश्यक पदार्थों के मेल से अनेकानेक मीठे एवं नमकी पकवानों का निर्माण किया जाता है । इन पकवानों की बहुलता एवं विविधता का अनुमान सूदन की सूची के द्वारा सहज ही किया जा सकता है । इनमें लड्डू , मुक्ती, मोदक, खाजकंद, सिमई, मगद, सेव, सुरमा, गुलाब पपड़ी, अमिरती, बतेवी, गुझिया, गुलकन्द, घेवर, मास-पुआ, कचौरी, खुरमा, झिलमी, खजरी, रबनालुड, रेवड़ी, इलायचीदाना आदि के साथ ही दही बड़ा का नाम भी है[3] । पकवानों की एक लम्बी सूची

---

१- सूदन- सु० च० पृ० १७८ ।

२- चिरौंजी, छुहारी, बादाम, बायफल, बघाइन बीरा——"

सू० सु० च० पृ० १७५ से १७७ ।

३- सूदन- सु० च० पृ० १७८ ।

मान कवि ने भी रामविलास के अष्टम विलास में दी है[1]।

११- काव्य में यत्र-तत्र इन भोज्य पदार्थों के खाने-खिलाने के भी चित्र मिलते हैं। केशव ने रामचन्द्र के द्वारा अट्ठरस व्यंजन किये जाने का उल्लेख किया है जिसमें चार प्रकार की खीर तथा तीन प्रकार स्वादिष्ट मट्ठा भी है[2]। हंस-बलाहिर के विवाह में दूध, दही एवं रस परोसा गया है, इस प्रकार के पौष्टिक-भोजन को ग्रहण कर वृद्ध भी तरुण हो उठे तो क्या आश्चर्य है[3]। तेल का भी व्यवहार होता है। संभवतः दूध, दही, चावल, घृत तथा तेल तथा आदि निर्धनों के विशिष्ट भोज्य पदार्थ थे, जिन्हें वे अपना ऋण निभाने के लिए त्याग देते थे[4]। विवाह भोज तथा अन्य उत्सव-आयोजन पर दावत और निमंत्रण का प्रबन्ध किया जाता है। चित्रावली के विवाह के समय आयोजित व्यौनार का बड़ा विस्तृत विवरण उस्मान ने प्रस्तुत किया है। इससे तत्कालीन उच्च वर्ग के भोज-प्रबन्ध की विशदता का अनुमान लगाया जा सकता है। बरात को बनवास में बैठा दिया गया है। रसोई की व्यवस्था

---

१- खेर मुरिंबचूर, खंड बनका रू पताखा।
गिंदौरा दहीबरा, दीयठा लावा लाखा॥
पैरा सुरमा प्रगट खेलना गुंका खलल।
खाकंद खंडार, सरस खीरै सुनिये रस॥
गुलगुला शरकवारा सबल देखिबमी दादर मलत॥
सु बलेवी खेमी मकवरी खीर बमुती।
फेनी फुनि रेवरी स्वाद मन खंड मंठेवी।
मरफी मरफी घीलवार बनवार बखी॥ मान०रा०वि०पृ० ९१।

२- पुनि त्यौं चौविध भानु बन्यौ।
तक तीन प्रकारिन शीघ्र सन्यौ॥ के०की० २।१५१।

३- दूध दही चावर रस बाई।
तरुन होय जो बूढो खाई॥

४- व०म०क०पृ० २६।

भवन के भीतर ही है चंदन कुंकुम आदि से आंगन को लीपकर चौके के उपयुक्त बनाया गया है। सोने के थाल में खाने की वस्तुएं सजायी गयी हैं। बारी लोग दोने और पत्तल भी लाये है। कुंकुम-कर्पूर से सुवासित शीतल जल की व्यवस्था है। पत्तल डाल देने के बाद थाल सजा दिये गये और अनेक जन विविध पकवान परोसने लगे। दूध से पुसे गेहूं का प्रयोग किया गया है। चावल सुगंधि से भरपूर हैं जिससे आकृष्ट होकर भौंरे भी आ गये हैं। अनेक प्रकार के व्यंजन बनाने के लिए मूंग और चने का प्रयोग किया है, इनसे बने व्यंजनों की संख्या अगणित है। डुडुका, छीमी और खड़वरा के साथ अमिरितबरी फुलौरे और बरे भी है। इनके अतिरिक्त सपसी की मिठास है, अनेक प्रकार के अचार हैं, समोसे के नमकीन स्वाद के समानान्तर खीर की मधुरता है। भोजन में स्वाद के संयोग और वैचम्य की बहुत कुछ वैसी ही सृष्टि की जाती थी जैसे वस्त्रों में वर्ण संयोग और वर्ण वैचम्य की। मीठे के साथ मीठा और मीठे के साथ नमकीन दोनों का अपना स्वाद होता है। यहां आम के खट्टेपन के साथ कटहल की मिठाई है, नींबू के साथ दाख की मधुरता है, बादाम के साथ खजूर है। इनके अतिरिक्त मिश्रित स्वाद की वस्तुएं हैं। मिठाइयों में खट्टू, खाजा, फेनी और बतेवी है ये सभी वस्तुएं इतनी स्वच्छी स्वनी हैं कि खाजा तो सांस की हवा से ही उड़ जाता है, फेनी बहुत महीन और जलेबियां रसभरी हैं[1]। हंस जवाहिर के विवाह में बत्तीस वर्णों की थिरकी, चौसठ प्रकार के नान एक से एक बढ़ कर संवारे हुए और सुवासित शक्राना के सहस्त्रों थाल परोसे गये[2]। दूध, दही, रस आदि के साथ अत्यन्त स्वादिष्ट चावल भी लाये गये। लोग भोग करने लगे और चावल की मनोहर सुगन्ध से ही सब तृप्त हो गये[3]। विशिष्ट

---

१-उस्मान चि० पृ० १९९-२०० ।

२- कासिम हं० ब० पृ० १७७ ।

३- दूध दही पानी रस दाखा । पुनि चाउर बस सुना न चाखा ।
लगे लोग भोग सब लाही । बासहिं से गये पुरुष अघाही ।।
का० हं० ब० पृ० ८८ ।

भोज्य पदार्थों में सुंदरदास ने रायता, खपसी तथा रबड़ी की गणना की है[1]। हिन्दुओं के मध्यम वर्ग के परिवार में दाल, बाबल, रोटी, तरकारी, पापड़, मठ्ठा आदि सादे एवं पौष्टिक पदार्थों से युक्त भोजन किया जाता है। गृहिणी साधारण भोजन को उचित रीति से बनाती है और उसमें विशेष स्वाद आ जाता है। उसकी दाल भली भाँति गली होती है, बाबल से सुगन्ध की लपटें निकलती हैं, पूरियां नरम होती है, पापड़ों को देखकर ही मुंह में पानी आ जाता है, तरकारी स्वादयुक्त है तथा मठा क्षुधा को शमन करने में समर्थ है[2]। इस प्रकार के स्वादिष्ट भोजन पाते को तृप्त कर वह उसका मन हर लेती है। कढ़ी, बेसनी का भी परिवार में प्रचलन है[3]। अत्यन्त निर्धन परिवार में कोदो, मडुआ, सवां, जैसे अति साधारण अन्न का व्यवहार होता रहा होगा क्योंकि इन्हें हेय दृष्टि से देखा गया है[4]।

फल और मेवे:

१२- रीति काव्य में आये उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय फलों का प्रयोग पर्याप्त रूप से होता था परन्तु मूल्यवान् होने के कारण इनका प्रचार धनी एवं उच्चवर्ग में ही सुलभ था। फलों का व्यवहार प्रति-दिन के भोजन के उपरान्त या दावत आदि के समाप्त होने के बाद किया जाता है। उस्मान ने विवाह आदि के भोज की समाप्ति पर जनवासे के

---

१- सुंदरदास ग्रं, पृ० ३५९, ७३४ एवं ७३७।

२- दारि गली है भली विधि सौं बहु चाउर है गो सुगंध भरी बू।
देखि बराबरि रीझि रहौगे सु पापरि पूरी करी न उरी बू।
है तरकारी सवाद भरी बनि गोरस सेवक भूख हरी बू।
सुं०ति०पृ० ३२८।

३- सुं० ति०पृ० ३२८-३२९।

४- कोदौ सवां अन्न नहीं। बुलाहा धुनिया बन नहीं।।
बा०फ, पृ० ७०।

अतिथियों द्वारा आम, नीबू तथा अंगूर आदि फल ग्रहण किये जाने का वर्णन किया है[1]। पद्माकर ने ग्रीष्म की ज्वाला को शान्त करने के लिए, गर्मी के दिनों में रईसों के द्वारा अंगूर के सेवन का उल्लेख किया है[2]। बोधराज के हम्मीररासो से ज्ञात होता है कि आम, नीबू एवं केला के अतिरिक्त अनार, सेव, बादाम, नारंगी, खिरनी, नारियल, आदि फलों का प्रयोग बहुतायत से होता है। कटहल, बड़हल, कदंब एवं मौलसरी का प्रयोग भी फलों में लोकप्रिय है[3]। सूखे फलों एवं पौष्टिक मेवों की खपत भी धनी वर्ग में के बीच प्रचुर मात्रा में होती थी। रीतिकाव्य में नाना प्रकार के मेवों एवं सूखे फलों के द्वारा अन्य वर्ग में अतिथि-सत्कार किये जाने के प्रसंग आये हैं। इनमें दाख, छुहारे, किशमिश, कमलगट्टा, मखाने, मुनक्का आदि है। अन्य पौष्टिक पदार्थों में कमलमूल, गोंद, क्षीरू, गोखरू, गूगल तथा मिश्री आदि का प्रयोग विविध प्रकार से मिलता है। मेवों और फलों की आपूर्ति बुखारा एवं समरकन्द से होता था। बर्नियर ने बाड़े की ऋतु में रूई की तह में लिपटे हुए अंगूर तथा नाशपाती के बिक्री का उल्लेख किया है[4]। गर्मी की ऋतु में आम और तरबूजे बहुतायत से बिकते थे और सभी शक्ति एवं व्यक्ति इनका प्रयोग करता था।

## खानपान में विवेक:

१२- खान-पान में सन्तुलन का ध्यान रखा जाता है। पाच मे साठ कठौता मठा पीने वाले और सोलह मकुनी की रोटियां खाने वाले दरिद्र के मरने पर शोक न करने की सलाह दी है[5]। रीतिकाल के व्यक्ति

---

१- उस्मान--चित्रावली, पृ० १९९।

२- पद्मा० पृ० १५९।

३- बो० हम्मीररासो, पृ० ७१।

४- बर्नियर की भारत यात्रा, पृ० ४२।

५- साठ कठौता मठा पीवे सोलह मकुनी खाय।
उसके मरे न रोइये घर का दारिद जाय॥

चाक-७, पृ० २६।

विभिन्न खाद्य पदार्थों के संयोग एवं उसके उपयोग के प्रभाव से भी पराजित हैं। खिचड़ी यदि बिना घी के खायी जाय तो न तो वह पौष्टिक रहती है और न सुस्वादु ही[1]। उड़द को पचाने के लिए हींग और सोंठ, केला के लिए घी, गोरस के लिए सरसों, आम के लिए मीठू का आचार उत्तम समझा जाता है[2]। पुदीना और पूरी को एक साथ खाना स्वास्थ्य के लिए हानिकर कहा गया है। घाघ के अनुसार ऐसा करने वाला व्यक्ति बिना मौत ही मरता है[3]। किस विशेष ऋतु में भोजन-विशेष का क्या दुष्प्रभाव हो सकता है इससे भी तत्कालीन समाज अनभिज्ञ नहीं था। इस दृष्टि से चैत में गुड़, बैसाख में तेल, अषाढ़ में बेल, सावन में साग, भादों में दही, क्वार में दूध, कार्तिक में मठा, अगहन में जीरा, माघ में मिश्री तथा फागुन में चने खाने का निषेध किया गया है[4]।

रसोई:

१४- मध्यकाल में भी हिन्दू गृही की रसोई की परम्परा

---

१- बिन माघे घिव खिचड़ी खाय, बिन गौने ससुरारी जाय।
बिना ऋतु के पहिरे चीरा, कहे घाघ वह तीनो कीरा ।। घा०भ०,पृ०६३।

२- उर्द के पचावे को हींग बरू सोंठ बैसे केरा को पचावे को घिव निरधार।
गोरस पचावे को सरसों प्रबल दण्ड आम के पचावे को मीठू को अचार है।।
दीपति-क०की०पृ० २८९।

३- वाको मारा चाहिए बिन मारे बिन घाव।
वाको यही बताइए पुदीना पूरी खाय ।। घा०भ०, पृ० ६७।

४- चैते गुड़ बैसाखे तेल, जेठ का पंथ अषाढ़ का बेल।
सावन साग न भादो दही, कार दूध न कातिक मही।
अगहन जीरा पूसे धना, माघे मिश्री फागुन चना ।।घा०भ०पृ० ६८।

का निर्वाह किया जा रहा था । रसोई बनाने की विधि वैज्ञानिक थी । हिन्दू परिवार में भोजन बनाते समय स्वच्छता, एवं शुचिता का विशेष ध्यान रखा जाता था । बिहारी की नायिका "टटकी" धोई धोती पहन कर ही रसोई में प्रवेश करती है[१] । उच्च वर्ग के लोग एवं राजे महराजे भी फर्श पर गंगाजल छिड़क कर अथवा गोबर से लिपे फर्श पर आसन डालकर बैठ कर भोजन करते थे[२] । चित्रावली के विवाह में पहले चौका लगाकर आंगन को चंदन एवं कुमकुम से लीपा गया तभी सोने के थालों में भोजन परोसा गया[३] । भोजन के उपरान्त हाथ को अच्छी तरह से धोना आवश्यक था इसके बाद ही मुख को स्वच्छ एवं सुवासित करने के लिए पान अथवा बीरा दिया जाता था । छैलबटाहिर[४] तथा चित्रावली[५] दोनों के विवाह में बरातियों ने भोजन के पश्चात् हाथ धोकर पान खाया । विशिष्ट मेहमानों एवं अतिथियों का भोजन के पूर्व पांव भी धुलवाया जाता था । चित्रावली के विवाह में झारी और बटुआ लेकर पांव धुलाया गया तदुपरान्त सब लोग अपनी २ जाति के साथ पंक्तिबद्ध होकर बैठे[६] । भोजन के बाद की स्वच्छता

---

१- टटकी धोई धोवती, चटकीली मुखजोति ।
लसति रसोई के बगर, जगरमगर दुति होति ।। बि० र० दो० ४७७ ।

२- मुगल राजमहलों का जीवन, पृ० ४३ ।

३- उस्मान- चि० पृ० १९९ ।

४- कासिम-छै० ब० पृ० ८९ ।

५- जेंवत उठे करिका कर लिन्हें, हाथ धोवाइ पाठ पनि दीन्हें ।
उ० चि० पृ० २०० ।

६- झारी गडुआ लोग संभारी, लै वह पच्छिम पांव पखारी ।
बैसि गये सब पांतिन्ह पांती, साथ साथ सब अपने जाती ।।
उ० चि० पृ० १९९ ।

के लिए बारी आदि रहते थे जो पत्तलें समेट कर आँगन या फर्श को पुनः साफ करते थे[1]।

१७- रीतिकाव्य में स्त्री और पुरुष के द्वारा सम्मिलित रूप से भोजन करने के उल्लेख नहीं, प्राप्त होते। स्त्री-पति एवं घर के अन्य लोगों को खिलाने के बाद ही खाती थीं। भोजन करते समय वह अपने पति को बड़े स्नेह से पंखा झलती थीं। इस जवाहिर की नायिका गुलाब जल से भरी झारी लेकर अपने प्रिय के हाथ-पैर धुलाने में सहायता करती है और जब पति भोजन करता है तो अपने आँचल से हवा करती है[2]। भोजन से प्रिय को तृप्त करके पुनः हाथ धुलाती है और आराम करने के लिए पलंग सजा देती है। सुगंधित पान देने के बाद क्षण भर पंखा झलकर पुनः पति के पैर दबाने लगती है[3]। रुक्मिनी भी भोजनोपरान्त आचमन कराके पान के बीड़े देती है[4]।

१८- भोजन को स्वच्छता एवं सुविधानुसार बनाने और परोसने के लिए विभिन्न प्रकार के बर्तनों का भी उपयोग किया जाता था। बर्तन विभिन्न धातुओं के बने होते थे। उच्च वर्ग में ये सोने, चाँदी आदि मूल्यवान् धातुओं के होते थे तो निर्धनों के यहाँ मिट्टी के कूरा, करवा, हण्डिया,

---

१- उस्मान- चि० पु० २००।

२- लीन उठाय आप कर झारी पिउ के हाथ धुलावे बारी।
पुनि आँचर से वायु डुलावे पै पीतम नहीं कौर उठावै॥
का० के ब० पु० ९५।

३- पीतम भोग अघाय जो खावा, तब धन पिय के हाथ धोवावा।
बुरवा टार पलंग तर डारा, बीरा धन तब पान पिटारा॥
छिन एक नारि डुलाइ वायु पुनि लागी कर चाँपन पाऊँ॥ का० के ब० पु० ९५ ॥ का० के ब० पु० ९७

४- भोजन कर पुनि आचवन कीन्हा रुक्मिनी तब कर बीरा दीन्हा॥
रत्नकुँवरि, प्रेमरत्न, पृ० ३२।

में यह समान रूप से लोकप्रिय था । लोग पान अथवा "बीरी" तैयार करने की कला में दक्ष थे । पान को सुगंधित, सुस्वादु एवं रुचिकर बनाने के लिए अत्यावश्यक पदार्थों के साथ ही कुंकुम, मेदोब, मृगमद एवं कर्पूर आदि पदार्थों का मेल किया जाता था । इस प्रकार के बीरे बनाकर वनिताएं वर्तनों में तैयार रक्खा करती थीं[1]। पान के अत्यधिक प्रचार के कारण इसकी दुकानें लगा करती थीं । माधवानल ने नगर में प्रवेश करके सुन्दर बीरा रखते हुए बरई की दुकान में आश्रय लिया था[2] । पान का उपयोग कई दृष्टियों में होता था । सर्वप्रथम इसका महत्व अतिथि-सत्कार की दृष्टि से था । हर अवसर पर, आने और जाने के समय स्नेह एवं आदर के साथ पान प्रस्तुत करना साधारण शिष्टाचार एवं अतिथि सत्कार के अन्तर्गत आता था[3]। भोजन के उपरान्त मुख को स्वच्छ करने के लिए भी पान दिया जाना आवश्यक माना जाता था । चित्रावली एवं ईश-चवाहिर के विवाह में इसका उल्लेख कई बार हुआ है ।

१८- पान-प्रणय-क्रीड़ा एवं विलास-चेष्टाओं के क्षेत्र में भी विशेष स्थान रखता था । संयोगावस्था में नायक-नायिका एक दूसरे को पान का बीड़ा खिलाते हैं परन्तु स्पर्श सुख के कारण उनके गात्र शिथिल हो जाते हैं । हाथ का बीरा हाथ में रह जाता है और मुंह का मुंह में[4]। बिहारी की

---

१- बल बस फल फूल भूरि, मंजर पटवास पूरि ।
स्वच्छ पत्राकर्दम छिव, देखन मनिता जी ।
कुंकुम मेदोबवादि मृगमद कर्पूर आदि,
बीरा बनितन बनाय भाजन भरि राखे ।। के०की० २।१२५ ।

२- घर दुकान बरई सुवन बीरा रचत करोर ।
करि प्रणाम सन्मान कर बरई आगमी पाई ।। वी०वि०मा०पु० ५८ ।

३- गोव- वात्सायन आदि, पृ० २३७-३८ ।
(ए०बी०माथुर के शोधप्रबन्ध से उद्धृत) ।

४- केशव क०प्रि०, पृ० १२९ ।

नायिका का स्वांग और भी निराला है। प्रियतम प्रणयाभिलाषी होकर नायिका के हाथ से पान का बीड़ा लेने का आग्रह करता है, मतवाली नायिका मुस्कराकर प्रियतम के मुंह में पान का बीरा रख देती है[1]। पान की पीक नायिका के गले में धंसती हुई ऐसी मालूम होती है मानों गले मे गुलबन्द की लाल रेखा हो[2]। संयोगावस्था में नायक नायिका के नेत्र एवं मस्तक आदि पर लगी पीक का उल्लेख अनेक बार हुआ है।

रीतिकाव्य में उस समय तम्बाकू के प्रचलन का पता भी चलता है। नायक तंबाकू पीने के साथ-साथ नायिका का मन भी अपनी ओर खींच लेता है[3]। तम्बाकू खाने पीने का चलन इस सीमा तक पहुंच गया प्रतीत होता है कि उसकी निंदा में कटु बातें कहने की आवश्यकता प्रतीत हुई। साधु जनों का यह आदर्श है कि भांग, अफीम और पान आदि न खायें। वस्तुतः पान के साथ तो नैतिकता अनैतिकता का प्रश्न नहीं जुड़ा रहा परन्तु भांग, अफीम, मदिरा को भारतीय समाज सदैव अवांछनीय और अनैतिक समझता आया है और केवल साधु जन ही नहीं जनसमाज भी इन्हें इसी रूप में देखता आया है।

## मांसाहार एवं मद्यपानः

१९- मांसाहार भी होता था परन्तु इसका चलन क्षत्रिय वर्ग अथवा शूद्र वर्ग में ही अधिकांश रूप से था। बर्नियर ने बाज़ार में विभिन्न प्रकार के मांसों के बिकने का उल्लेख किया है[4]। सामान्यतः कोई प्रतिष्ठित हिंदू को मांसाहार खाने के लिए तैयार नहीं कर सकता था परन्तु मुग़ल परिवार में इसका सामान्यरूप से उपयोग होता था। अधिकांश वैश्य एवं कुछ ब्राह्मण उपजातियां पूर्णरूपेण शाकाहारी थीं। साधारणतया मांसाहार समाज में

---

१- बिहारी र० दी० ३२७।

२- वही, दो० २ ४४०।

३- शालिग्राम, सा०प्र०पु० ४४१-४२।

४- बर्नियर, पृ० १४५।

अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था ।

१०- मद्यपान के सम्बन्ध में हमारी दृष्टि कुछ भिन्न रही है । यह ठीक है कि देश के इतिहास में कोई भी ऐसा काल नहीं रहा जब मद्यपान के प्रयोग का एकान्त अभाव रहा हो किन्तु यह भी सत्य है कि मदिरा और मांस गर्हित पेय और भोज्य समझे जाते है । नैतिक दृष्टिकोण से अविच्छिन्न रूप में उनके संबंध में सोचना कभी संभव न रहा अतः खानपान सामान्यतः और खानपान की निषिद्ध वस्तुएं विशेषतः धार्मिक परिप्रेक्ष्य देखी जाती रही है । मद्यपान और मांस भक्षण को नैतिक अपराध समझा जाता रहा है और यहां तक कि पश्चिम के प्रभाव से विचारधारा में कुछ परिवर्तन आने के बाद भी आधुनिक युग के सांस्कृतिक नेता महात्मागांधी की दृष्टि में मदिरापान वेश्यागमन के समान ही पातक है । आलोच्यकाल में कदाचित् इसी कारण से हिन्दुओं के बीच मदिरापान और मांसभक्षण का बड़े पैमाने पर चलन होने के प्रमाण नहीं मिलते । जहांगीर के समय में भारत आने वाले अंग्रेज यात्री एडवर्ड टेरी ने भी हिन्दुओं के बीच मदिरापान के एकान्त रूप से वर्जित होने की साक्षी दी है ।[1] काव्य में यत्र-तत्र मदिरापान के उदाहरण अवश्य मिलते हैं । नायक नायिका मद्यपान से उन्मत्त हो आलिंगनपाश में आबद्ध है[2] । कहीं नायिका अकेली ही बालपणी के मद में मतवाली हो रही है[3]। किन्तु काव्य के इस साक्ष्य पर विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस काव्य का प्रेरणा स्रोत वह समाज था जहां स्त्री या पुरुष के लिए मद्यपान दैनन्दिन और स्वाभाविक कार्य था । जहांगीर का मदिरापान तो विख्यात है ही, औरंगजेब के अतिरिक्त अन्य सभी मुग़ल सम्राट् जिनमें बाबर भी हैं, कामिनी और कामिनी के अतिरिक्त मस्त रहे हैं और उनके इर्द-गिर्द रहने वाले सामन्त और सामन्त-परिवार में मदिरा का सार्वभौम चलन स्वा-

---

१- तोष —बु०नि०पृ० १५० ।

२- पद्० ग्रं० पृ० ८७ ।

आधिक है। राजदरबार से संबंद कवि के काव्य में मदिरापान के उल्लेख देखकर यह निष्कर्ष निकालना उचित और संभव नहीं होगा कि तत्कालीन समाज में मदिरा का बहुत व्यापक चलन था। बल्कि ऐतिहासिक साक्ष्य तो प्रायः इसके विपरीत ही है। जनसामान्य आर्थिक और नैतिक कारणों से कादम्ब-कामिनी और मांस से दूर रहता रहा होगा इसे मानने के आधार पर्याप्त ठोस और सबल हैं।

निष्कर्ष:

२१- रीतिकालीन काव्य के आधार पर तत्कालीन समाज के खानपान का एक सर्वेक्षण करने के पश्चात् यह दिखायी पड़ता है कि जीवन के अन्य पक्षों की भांति यहां भी कवि की दृष्टि साधारण जन के जीवन में नहीं रमती थी। ऐतिहासिक साक्ष्य से यह विदित होता है कि तत्कालीन भारत साधनों का दृष्टि से और सर्वतः आर्थिक दृष्टि से भी अतीतकालीन भारत की अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध नहीं था वरन् इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि अलोच्यकाल में अन्य कालों की अपेक्षा दुर्भिक्ष और अकाल अधिक हुए। तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था और शोषण के कारण स्वभावतः जनसामान्य के पास जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की न्यूनतम पूर्ति के साधन भी कठिनाई से बचते थे। रीतिकालीन काव्य के आधार पर यदि तत्कालीन खानपान के संबंध में कुछ निष्कर्ष निकाले जायं तो ऐसा प्रतीत होगा कि समाज में साधनों की प्रचुरता तो थी ही उनसे विविध सुस्वादु व्यंजनों का निर्माण भी होता था। ऐतिहासिक साक्ष्य से मिलाने पर यह चित्र वास्तविक नहीं ठहरता[1]। यह ठीक है कि राजकुल और सामन्त वर्ग के खानपान में विविधता और स्वाद की दृष्टिकोण ही प्रधान था। समाज की राजनीतिक और आर्थिक रचना ऐसी थी कि अपनी विलास सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के सभी साधन इस वर्ग के पास उपस्थित थे और काव्य में भोज्य पदार्थों की

---

१- अध्याय १ में दी गयी ऐतिहासिक पीठिका के संदर्भ में।

विविधता और स्वाभाविकता के जो उल्लेख है, उस वर्ग का बहुत कुछ वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हैं और उस दृष्टि से वे चित्र जिस वातावरण में खिंचे हैं, उस वर्ग के प्रति पर्याप्त ईमानदारी के साथ अंकित किये गये है। यह बात तत्कालीन सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों के काव्य में आये हुए चित्रों की भांति खान-पान के संबंध में भी समान रूप से सत्य है।

## वेशभूषा

### परिधान-धारण का प्रेरणा स्रोतः

२९- मनुष्य के परिधान - धारण के मूल में दो ही मनोवृत्तियां कार्य कर रही हैं। एक तो इतर जीवधारियों की भांति वह नग्न न रहकर अपने को आवृत और संयत रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। दूसरा, इसी का परिणाम है--वह है उसका सौंदर्य बोध। समाज की विकासावस्था में पहली मनोवृत्ति ही प्रधान रहती है। मनुष्य कपड़े पहनता है क्योंकि वह अन्य जीवधारियों की भांति नंगा नहीं रह सकता। उसे शीतातप से बचने के लिए भी वस्त्रों की आवश्यकता है किन्तु यह अवस्था कर्माभिमुख और विकासोन्मुख समाज में ही रहती है। कर्म की उत्साहमयी आभा के तिरोहित होने पर, जीवन के सत्व तत्व की विकासदायिनी छाया के प्रसार पर और समाज की अधिक विकसित अवस्था में, और विशेषकर इन दोनों के संयोग में परिधान-धारण का प्रयोजन आवरणमात्र नहीं रह जाता, हमारा सौन्दर्य बोध उसका दिशा निर्देश करने लगता है। वस्तुतः हर सत्व तत्व प्रधान समाज में अनिवार्य आवश्यकताओं और प्राणिगत बुभुक्षाओं की तृप्ति के लिए आयास-साध्य सामग्री जुटायी जाने लगती है। आलोच्यकाल में भी ऐसा हुआ है। रीति-काव्य की रचना उच्च एवं सामन्त वर्ग के लिए हुई थी। जिस सामंतीय रुचि के लिए यह रचनाएं की गयीं थीं उनमें वस्त्र जैसे जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में ही नहीं धारण किया जाता था। रीतिकाल में वस्त्र उपयोग उन्नत अवस्था में था अतः वस्त्रों की विविधता एवं बहुलता दिखायी पड़ती है। काव्य में संस्थागत वस्त्रों का अनेक बार उल्लेख हुआ है। सूदन

ने "सुजान चरित" में अनेक वस्त्रों की चर्चा की है, यथा रूमाल, दुशाला, पटटू, शाला, चूनी, बाला, मलमल, छींट, रंगीन वस्त्र, पश्मी केसव, बरदोब, मुकेशी, दाना-केशी, मुसरू ताफता, बाधतबंद, मानकचन्दी चौखाने, किमखाब, खादी बादि, वस्त्रों के अनेक प्रकार थे जो तत्कालीन बाज़ारों में प्रचुर परिमाण में बिक्री दिखायी पड़ते थे[1]। इसी प्रकार मान कवि ने रावविलास में तत्कालीन हाट का वर्णन किया है जिसमें वस्त्रविक्रेता दूकानों पर विभिन्न प्रकार के सुंदर रंगबिरंगे वस्त्रों को लेकर बेचने बैठे है। स्थान-स्थान पर बबाब बरबाफ, मलमल, मलम्बर, गाढ़ा नारिय-कुंबर, सिक्लात बादि सबही वस्त्रों को सुन्दरता से सजा कर बैठे है। कहीं तनोसुख, सूफ, पटोर, दरियाई, क्षीरोदक, बेनी पीतांबर, मनोसुख, बादि बड़े बड़े अमीरों के योग्य वस्त्र मिल रहे है तो कहीं बबाब अपने दुशालों के साथ मलमल, चीतार, दुशार, इकतार बादि रंगीन धारियां दिखा रहे हैं[2]। बिना सिले हुए वस्त्रों

---

१- रूमाल, दुशाला पटटू शाला चूनी बाला शोभ बनी।
मलमल बन्नातें बरू सक्लातें भांतिन भातें छींट घनी।
बहुरंग पटंबर पश्मी कंबर पबत सुबर कीन गने।
बरदोब मुकेशी दाना केशी मसरू केशी सेत बनें।
बादला दरियाई नीरंग साई बरक्त काई झिलमिल है।
ताफता कलंदर बाफत बंदा फुबर सुंदर गिलमिल है।
बीसकर सिलंदी दुरियरंदी मानिकंदी चौखाने।
किमखाब सुसालू खादी खासू बीबे बासू बग बने।।सूदन--सु०च०पृ० १७४।

२- सिले बहुमोलिक बस्त्र बबाब, मढ़े बरबाफ मुलमल खाब।
मलम्बर नारिय कुंबर मिधु, सुभै सिक्लात दुसाल सबन्धु।।
तनोसुख सूफ पटोर दरियाव, क्षीरोदक बेनी पीतांबर स्याव।
मनोसुख पांमरी सहिबी पाट, हीरागर सेलिब हीर सुगाढ़।।
मलमल बादि चीतार दुसार, इबै एकतार सु बीत अपार।
सु धारिय बीरस रंग रंगीस, दिखावहिं बाप दलाल बसीस।।
मा०रावविलास पृ० २५।

की अनेक दूकानें तो हैं ही, सिले सिलाये वस्त्रों की भी कमी नहीं। तत्कालीन समाज में उपयोग में आनेवाले वस्त्रों की चर्चा भी सूक्ष्म ने अपने ग्रंथ सुजान चरित में की है। इन वस्त्रों में नीमावामा, सवादा, कुर्ती, दगला, दुलही, नीमास्तीन, कादरी, चोला, झगला, तंबा, बांधिया, तनिया, पवला, बगरी, बीरा, ताबगोस, कंदासिर, दुपट्टा, कंचुकी, दुलाई, चादर, झकाई, कटिबंद, कुलही, ओढ़नी, धोती, सारी आदि का विशेष रूप से उल्लेख है[1]। रीतियुग में वस्त्र पर्याप्त उन्नत अवस्था में थे, फलस्वरूप मनुष्य के दैनिक जीवन में ही नहीं उसके विचारों में और उक्तियों में भी वस्त्रों का प्रभाव परिलक्षित होता है। गुरु के अमूल्य वचन सुनकर संसारी व्यक्ति को शूल-सा लगता है, जिस प्रकार मैनवलित वस्त्र में (मोमजामें) गुरु का उपदेश-रूपी बल नहीं ठहर पाता[2]। वस्त्र का रूप धारण कर लेने पर कपास मलमल, सितारा, सिरीबाफ, बाफता, अधोतर, परकाला गबी आदि नामों से विभूषित होता है[3]।

२- बहुमूल्य, सुन्दर एवं चमक-दमक से युक्त भड़कीले वस्त्रों के प्रति लोगों की विशेष रुचि थी। अलंकार- युग में दिखावा, ठाठ-बाट के

---

१- नीमा बामा तिलक सवादा कुर्ती दगला।
दुलही नीमास्तीन कादरी चोला झगला।
तंबा सूथन सरी बांधिया तनिया पवला।
बगरी बीरा ताबगोस बंदासिर बगला।
दुपटा सु दुलाई चादरै झकाइ कटिबंद बर।
कंचुकी कुलहिया ओढ़नी धोती सबर।।सू०सु०च०, पृ० १७४।

२- के०की० २।४१।

३- भूमि विकास कपास भयो नाना विधि दरसै
आसा मलमल सहज सितारा सिरबाफ करसै।
सिरी बाफ बाफता अधोतर भेरव कहिये।
परकाला अरु गबी गनत कहूं और न लहिए।।

सु०गं० पृ० ७५।

लिए पीले वस्त्रों के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक था। गंगावस, अगरई, झीसकर, कासमीर चीर आदि वस्त्र महीन एवं सुकुमार होते थे। सीराम गंगावस वस्त्र के पाग से सुशोभित है[1]। डोरिया पंकडोरिया आदि अत्यन्त महीन वस्त्र होते थे जिनमें से नायिका के अंगों की सहज शोभा भासित होती थी। भारी मूल्यवान् एवं चमकदार वस्त्रों की आभा में वृद्धि करने के लिए उनमें सोने चांदी के तार का काम तथा सुनहरी जरी का उपयोग होता था[2]। बाफता, जामा और मलमल आदि वस्त्र निश्चय ही चौखई जैसे साधारण वस्त्रों से श्रेष्ठ एवं मूल्यवान् थे[3]। गोपालचन्द्र मिश्र ने भी मुतव्वर, मलमल और झेकेशी आदि वस्त्रों का उल्लेख किया है जो उच्चवर्ग में लोकप्रिय हैं[4]। इन वस्त्रों को और भी सुन्दर बनाने के लिये बीच बीच में फूल बनाये जाते थे[5]। रीतिकाव्य के नायक-नायिकाएं एवं अभिसारिकाएं समयानुरूप विभिन्न प्रकार और रंग के वस्त्र धारण करती हैं। कभी नायिकाएं श्वेत वस्त्र धारण कर चांदनी को लजवती हैं तो कभी श्याम वस्त्रों में निशीथिनी का कृष्णाभा प्राप्त करती हैं।

---

१- गंगावस की पाग सिर सोहत श्री रघुनाथ के।

के०कौ० ११९१।

२- क- सिल्क ब्यूरिबसती मिक्स्ड विथ सिलवर एण्ड गोल्ड इन्टू वेल्वेट्स, सैटिन्स एण्ड टैफेटास बाय प्रोड्यूस्ड।। (टेरी)

ख- चीर चीर सासू सेवा समझा बहारदार
बरक्षी काम बहां होत नाना भांति है।

गोपालमिश्र क०कौ०पृ० २६५।

३- सु०गं०, २।७२७।

४- गोपाल मिश्र क०कौ० २६४।

५- सु० गं०, पृ० ८०४।

इनके अतिरिक्त कुसुमी, गुलाबी, पीला, लाल, नीला, केसरिया, बसंती, हरा और आसमानी वस्त्र भी स्त्रियां विशेष रूप से रंग कर धारण करती है[1]। कभी-कभी शरीर के वस्त्रों को चोवा, चंदन आदि से भी सुगंधित बनाया जाता है[2]।

२४- रीतिकालीन काव्य में स्त्रियों के जिन वस्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है उनमें निम्नलिखित वस्त्र प्रमुख है।—

घाघराः मुगल काल में घाघरा स्त्रियों का बड़ा वस्त्र था जो कमर में पहना जाता था। यह कमर में चिपका रहता था और नीचे की ओर घेरदार और चुन्नट से मुक्त होता था। पहले कलीदार घाघरे बनते थे बाद में आयताकार टुकड़ा काम में लाने लगा जो डोरी की सहायता से कमर पर बंधा रहता था। बाबर और मुगल फौज के लेखों में भी घाघरे का उल्लेख है[3]।मुस्लिम

---

१- चीरा की लहर महरकुसुमई रंग।
घनआ०-पृ०पृ० २१८।
घन कवि कुपट्टा दुदामी को गुलाबी फेंटा।
घन-आ०पृ०पृ० २१८।
सारी सितासित चीरी रतीसिंदु में बगरावै वहै छवि प्यारी
भि०गृ० २।१३८।
लसत गूजरी लूबरी बिलसत लाल रवार।
म०गृ०पृ० २९९।
बिलसत नील दुकूल मैं लसत सबल अरबिंदु।।
म०गृ०पृ० ४९१।
केसर रंग रंगी सुभ अंगिया बंगन संग।
म०गृ०पृ०५०१ व भि०गृ० २।१३९।
सोने के पलंग पर बसन बसंती साजै।
गुलाल - आ०पृ० पृ० ३४८।
सोने सौं सरीर आसमानी रंग चीर साजै।
सोमनाथ- आ० पृ०पृ० २७७।

२- अकबर कृ० मं० पृ० १४९।

३- अल्तेकर - पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, पृ० ३५६।

शासन की स्थापना के कुछ शताब्दियों बाद ही लहंगा अथवा घाघरा वस्त्र-साधारण में प्रचलित हो गया । घाघरे भांति भांति के रंग के होते थे । प्रायः इनमें फूल अथवा बेल बूटे भी बने होते थे । नीचे की ओर बड़ी और मोटे आदि का काम भी किया होता था सम्पन्न घर की स्त्रियों के लहंगों में बढ़ाऊ काम किया रहता था जो चटकीली चूनरी के साथ सुन्दर लगते थे । घाघरे का प्रयोग सर्वसाधारण में भी था । सौन्दर्य एवं प्रेम के उद्दीपन में इसका योग कम न था । कभी नायिका की छवि घेरदार घाघरे के फुलाव के कारण छकी पड़ती है तो कहीं घूमते घाघरे से उसकी हताश एड़ी मन को खींच लेती है । प्रायः अलंकारों से भूषित सुकोमल पांव घाघरे से एक झलक दिखा जाते हैं । घाघरे के साथ नायिकाएं कभी बरबती सारी पहने होती हैं, कभी किनारीदार लहंगे पर बूटेदार सारी[1]। "मुखरू बनना" के विशेष लहंगे का उल्लेख भी काव्य में मिलता है[2]। नायिका के कांतिमय, यौवनपूर्ण शरीर की आभा झीने घाघरे एवं महीन सारी से विचित्र प्रभाव उत्पन्न करती है[3]। घनेघेर के घाघरे रूप और चाल में अपूर्व सौन्दर्य वृद्धि करते हैं । घाघरे का महत्व उसकी मनोहारी "घूमन" एवं भार के कारण चाल में मोहिनी उत्पन्न करने में है । हिंडोले पर तो घाघरे और साड़ी की घुमड़न विशेष आकर्षक होती है[4]।

---

१- केश० शं०र० पृ० २५ । के० क० पृ० ११७ ।
प०गृ० पृ० १२६ । तो० बु० मि० पृ० १०४ ।

२- बेनी निरखन पर घहरे लहरे लहंगा मुखरू बनवा के ।
तो०बु०कि०पृ० १८

३- घांघरी झीन सों, सारी महीन सों, पीन नितंबनि भार उठे लचि ।।
भि०गृ० २।१०६

४- घाघरे की घुमड़ि, उमड़ि चारु चूनरी की
सावन में श्रीपति सुहावन हिंडोरे की ।।
श्रीपति रो०गृ० पृ० १४१ ।

साड़ी:

२५- इसका प्रयोग प्रायः किसी अधोवस्त्र, यथा लहंगा, घाघरा आदि के साथ होता था। मध्यकालीन चित्रों में यह सामान्यतः घाघरे के ऊपर से होती हुई, पृष्ठभाग को आवृत करती हुई सिर पर जाती है। संभवतः इसका प्रयोग बहुत कुछ ओढ़नी या दुपट्टे की तरह ही होता था। स्वस्थ शरीरयष्टि के सुडौल नवयम और गौरवर्ण की रक्ताभा स्पष्ट लक्षित हो सके, इसके लिए प्रायः महीन साड़ियों का व्यवहार होता था। देव की नायिका की देह द्युति महीन सारी में से दीपक की भांति दीप्ति दे रही है[1]। नायिका अपनी रुचि के अनुसार भांति-भांति की साड़ियां पहनती है और इसका हर रूप अत्यन्त मनोहारी होता है। कभी वह गौर वर्ण पर लाल साड़ी पहनती है तो कभी स्वर्णखचित किनारों वाली श्वेत सारी पहन लेती है। कभी-कभी वह कंचन वर्ण की किनारीदार साड़ी पहनती है जिसमें इकहरी मोतियों झूमती रहती है, कभी वह अंगारकरी की सारी में सजती है और कभी लाल की सारी में[2]। इसी प्रकार तरबूज की किनारीदार साड़ी में भी इसकी छवि मुखरित होती है[3]। बिहारी की नायिका की महीन श्वेत सारी में से झलकते सरसौंना की शोभा यदि गंगा पर पड़ते सूर्य के प्रतिबिंब की भांति है तो कहीं गोरे बदन पर बरी का कीर छवि छलका रहा है।

---

१- उज्ज्वल उज्यारी ही झलमलति झीन सारी।
झांई सी दीपित देह दीपति विशाल सी॥

२- सोहति किनारी लाल बादला की सारी।
के०मा०वि०पृ० १२३।
व गोरे मुख सेत सारी कंचन किनारीदार।
के०क०पृ० १५२।
पीत रंग सारी गोरे अंग मिल गई देह।
के०हृ०पृ० १८।
देव०ग्र०र०पृ० २५। के०क०पृ० १५४। के०र०वि०पृ० ११७।

३- सोहत किनारी बारी तरबूज की सारी।
के०र०वि०, पृ० १२४ व सेनापति क०र०पृ०४७।

और कभी यह केवल श्वेत पंचतोरिया पहन कर ही बत के दीपक की तरह जगर मगर होती है[1]।

२६- रंग-संयोग और वर्ण-विरोध --दो रूपों में वस्त्रों के रंगों का संयोजन किया जाता है। रीतियुग की कविता में दोनों के प्रभूत उदाहरण उपलब्ध है। कहीं पर कवि ने विरोधी रंग के वस्त्रों में नायिका की छवि में आकर्षण भर दिया है। मतिराम की नायिका का शरीर गौर वर्ण का है और उस पर नीला वस्त्र सुशोभित है। इनकी नायिका भी कभी श्वेत सारी में और कभी बरतारी की सारी में दिखाई पड़ती है और कभी "सारी बुही" की किनारी मुखचन्द्र पर इस प्रकार लगती है मानों पूर्ण चन्द्र के किनारे परिवेश की रेखा हो। सोमनाथ की नायिका अपने सोने के रंग के

---

१- लसतु सेत सारी ढप्यौ, तरल तरौना कान।
पर्‌यौ मनौ सुरसरि-सलिल रवि -प्रतिबिंबु विहान ॥
† † † वि०र०दो० १०६ ।
बरी-कीर गौरे बदन बढ़ी बरी छवि, देखु ॥ वि०र०दो०१०४ ।
† † †
लसत सेत पंचतोरिया पहिरत जति छवि होति ।
बत बादर के दीप लौं जगमगाति तन-जोति ॥ वि०र०दो० १४०
† † †
२- बिलसत नील दुकूल में लसत बदन अरबिंदु --म०गं० पृ० ४९१ ।
† † †
सेत सारी सोहत उजारी मुखचंद की -सी --म०गं०पृ० १०८ ।
† † †
सारी बरतारी की झलक झलकति जैसी ।--म०गं० पृ० २१४ ।
† † †
सारी बुही"मतिराम" लसै मुख संग किनारी की सी छवि छावै ।
पूरन चंद बिमूल मयूख मनौ परिवेष की रेख बिरावै ॥
म०गं० पृ० १४९ ।

शरीर पर विरोधी रंग की बासंती साड़ी धारण करती हैं जो उसके गौर वर्ण को और भी निखारती है[1]। इसी प्रकार घनानन्द की नायिका अपने गौरे शरीर को निहार कर श्याम वर्ण की सारी को चुनती है जो उसके शरीर पर फबती है। घनानन्द की गौरी राधा भी वर्ण के अनुरूप रंग की सारी पहनती है[2]।

२७- संपूर्ण शरीर पर एक ही रंग के वस्त्र धारण करने का भी प्रभाव भी अद्भुत होता है। रीति-काव्य की नायिका इससे भी अनभिज्ञ नहीं है। बिहारीदास की नायिका अपने कनक वर्ण शरीर पर केसरिया पट धारण करती है और स्वर्णाभूषण से सज कर निराली ही दिखायी देती है। इसी प्रकार गुमान की नायिका जब बसंती वस्त्र में सोने के पलंग पर पड़ी रहती है तो उसे देख स्तब्ध होना पड़ता है[3]। कई रंग के मिश्रित सारी में भी(श्वेत, श्याम, पीत) वही छवि आती है जो एक रंग के वस्त्र में[4]। तोष की नायिका बूटेदार सारी पहन कर सबका मन लूट लेती है[5]।

---

१- सोमनाथ - सा० प्र० पृ० २७७।

२- ऐसी फबी घन आनंद सोभनि सौं पहिरी चुनि सामरी सारी ।।

घ०ग्रं०पृ० ७८।

सारी सुरंग सुहसुही निपट पहिरैं राधा गोरी।

घ०ग्रं०पृ० २०१।

३- केसरिया पट कनक तन कनका भरन सिंगार।

बि०ग्रं० २।१२९।

४- गुमान- सा० प्र० पृ० ३४८ एवं बि० ग्रं० ब २।१४८।

५- लूटि मन लिये जात बूटेदार सारी की।

तोष सु०नि०पृ० १०४।

कंचुकी:

२८- रीतिकालीन काव्य के वस्त्रों में सबसे अधिक उल्लेख कंचुकी का ही मिलता है। रीतियुग का सृष्टा साहित्य-कार रूप और सौंदर्य का पुजारी था, उसकी रूपान्वेषिणी दृष्टि "वरनारी" पर ही पड़ती थी और वह भी उसके प्रकर्षमयोत्पादक अंगों पर। इस दृष्टि से रमणी के वक्षस्थल उसके विशेष आकर्षण के विषय थे। फलस्वरूप कंचुकी का वर्णन प्रचुर मात्रा में हुआ है। इसके लिए अंगी, अंगिया, चोली आदि नाम भी आया है। रीति साहित्य में आये कंचुकी अथवा चोली के संदर्भों से उसकी बनावट, आकार आदि का स्पष्ट बोध नहीं होता। सामान्यतः यह वक्ष को आवृत करती हुई कंधों पर फंसी रहती है और पीठ पर तनी से बंधी होती है। वस्त्र प्रायः शरीर को आवृत कर उसका सौन्दर्यवर्धन करते हैं किन्तु यह मनोज्ञ अन्तर्विरोध है कि अंगिया विशेष प्रभावकारी तभी होती है आवृत अंग के साथ एकाकार होकर उसके सौन्दर्य को मुखरित करे। रीतिकाव्य की चतुर नायिकाएं इसका ध्यान रख कर शरीर में चुस्त अंगिया पहनती है। पद्माकर की नायिका उन्नत उरोजों पर तंग अंगिया पहने है जिसकी तनी का बंधन खुला हुआ है[1]। कभी-कभी नायिका के हर्षोन्मेष आवेश अथवा प्रसन्नता से उद्दीप्त होने मात्र से यह तनी टूट जाती है[2] और रसलोभी भी कवि के लिए यह मनोज्ञ उत्सव होता है।

२९- नायिकाओं की सौन्दर्य-दृष्टि वर्णनीय एवं वर्णनीय के द्वारा वांछित प्रभाव लाने के प्रति अत्यन्त सचेष्ट दिखाई पड़ती है। शरीर की गोराई का विरोधी रंग काला अथवा नीला है अतः सामान्यतः इसी रंग की चोली

---

१- कहै पद्माकर त्यों उन्नत उरोजन पै,
तंग अंगिया है तनी तनिन तनाइके।
प०ग्रं० १२६।

२- पति आयो परदेस ते हिय हुलसी बरि बाम।
टूक टूक कंचुक भयो कर कनियो काम॥
प०ग्रं० पृ० १४९।

पहनी जाती है । बिहारी की नायिका यौवनद्युति की अभिवृद्धि के लिए कुसुमी कंचुकी पहनती है उसके सोन-चुही से जगमग अंग में कुसुमी कंचुकी दुरंगी ज्योति उत्पन्न करती है[1]। केशव की नायिका गौरवर्ण पर खुली हुई उज्ज्वल-वर्ण की कंचुकी पहन कर रूप में निखार लाती है[2]। केसर के रंग में रंगी हुई अंगिया पहने नायिका को देख कर मतिराम का नायक भ्रम में पड़ जाता है कि वह अंगिया भी पहने है अथवा नहीं क्योंकि शरीर से वस्त्र पूर्णरूपेण मेल खा रहा है[3]।

ओढ़नी:

३०- रीति काव्य में वस्त्रों के संदर्भ में ओढ़नी, दुपट्टा तथा महीन चादर का उल्लेख आता है । ओढ़नी का प्रयोग ऊपर के वस्त्र के रूप में होता था । आधे आदि पर से होती हुई यह पीछे की ओर से सिर पर जाती थी, रीतिकाव्य में इसकी चर्चा प्रायः दो रूपों में आती है, एक से उड़ती ओढ़नी और हिन्डोले आदि पर लहराती ओढ़नी । दूसरे, नायिकात्व वर्ग की नायिकाएं लज्जा की रक्षा के लिए ओढ़नी के घूंघट का व्यवहार करती थीं । ओढ़नी के घूंघट की ओट में रीति-काव्य की विभिन्न नायिकाएं अपने प्रेम व्यापार साधन, हाव-भाव, कटाक्ष आदि के द्वारा इच्छित प्रभाव भी उत्पन्न करती थीं । डोरिया की चादर ओढ़े केशवप्रवीन की नायिका के घुंघरि कभी कभी खिल जाते हैं जो नायक के लिए अत्यन्त कौतुकपूर्ण मदनोत्सव का

---

१- सोन-चुही-सी जगमगति अंग-अंग दोबन जोति ।
दुरंग-कुसुंभी - कंचुकी दुरंग देह-दुति होति ।।
बि०र०दो० १९० ।

२- गोरे अंगन उज्याकरी खुली कंचुकी बनाइ के ।
के०मा० वि० पृ० १२३ ।

३- म०ग्रं० पृ० ५०३ ।

का दृश्य उपस्थित करते हैं[1]। रीतिकाल का कवि ऐसे अवसरोंपर अपनी काव्य-प्रतिभा के घटक का सारा रस उड़ेल देने को व्यग्र हो उठता है, उसकी सभी चित्रवृत्तियाँ अपने तनाव छोड़ कर कामिनी के कमनीय अंगों पर विश्राम करने लगती हैं। अोढ़नियाँ गोटेदार, किनारीदार एवं बेलबूटे दार भी होती थीं किन्तु इनका झीना एवं महीन होना सर्वत्र वर्णित है। नायिका का चन्द्रमुख जालीदार चूनरी से झलक रहा है जिसे चाँद समझ चकोर टकटकी लगाये है[2]। बिहारी की नायिका का इन्दुवत मुख नीले कांचुल में इस प्रकार लसता है मानों कालिंदी में चन्द्र किलमिला रहा हो[3]। वस्तुतः झीने घूघट की ओट में प्रेम-व्यापार साधन अपेक्षाकृत सुगम हो जाता है। वह मर्यादा का पालन करते हुए भी नायिका - नायक के रूप का पान करती है, इशारों से नायक को प्रभावित करती है और घूघट को जरा - सा हटा कर वह नायक की जिज्ञासा, कौतूहल एवं ललक और भी बढ़ा देती है। भारत कलाभवन में संगृहीत अनेक चित्र केशव, बिहारी, देव, मतिराम आदि की कविता को ध्यान में रख कर बनाये गये हैं। देव की "विवेकिनी" का राजस्थानी शैली में अंकित अत्यन्त प्रसिद्ध चित्र ओढ़नी के झीनेपन के कारण सहज सौन्दर्य में मादकता और आकर्षण की तीव्र अनुभूति कराता है।

१०- आवृत सौन्दर्य अधिक आकर्षक रहस्यमय एवं कौतूहल को जगाने वाला होता है। देव के कृष्ण प्रातःकाल वृषभानु के घर में झीने पट तने हुए

---

१- डोरिया की चादरि सौं झाँपिति पहुचन सौं,
ऐसी ललकाल कर कंचति विलास हैं।
वे०पु०म०र०स०पृ० १८९।

२- बाल की चूनरी चीकनी गात चकोर चढ़े मुख चन्द के चाँचे।
सु०सि०पृ० २४०।

३- छिन्दी छबालो मुख लसै नील कांचुल चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिंदी के नीर॥
बि०र०दो० ५२८।

पलंग पर राधा को देखते हैं जिसकी एक बांह गुलाब में सोते हुए उभरी है। छीने पट से अनावृत बांह की उस छवि को देखकर घनश्याम ऐसे आकुल हुए कि सम्पूर्ण कुंज-मंडल हाथ मलते हुए मंडलाते रहे[1]। रीतिकाव्य की नायिका सुन्दरी रमणी ही नहीं है उसका सौंदर्य वस्त्राभरणों के प्रयोग से अनेकगुण बढ़ जाता है, वह सरल और शालीन सौंदर्य की नहीं, भास्वर कांति की स्वामिनी है। वेशभूषा के आधार पर नायिकाभेद में वासकसज्जा का एक पृथक भेद ही स्वीकार किया गया है।

३५- विभिन्न अवसरों पर पहनने के लिए विभिन्न वस्त्र रहे होंगे, काव्य में इनका पूर्ण विवरण तो प्राप्त नहीं होता किन्तु यत्र-तत्र अवसरानुकूल अनेकविध वेशभूषा के दर्शन होते हैं। सावन की तीज के दिन स्त्रियां अनेक रंग की ओढ़नियां ओढ़े हैं[2]। होली के अवसर पर नायिका जरतारी की किनारदार साड़ी पहने[3] तो सायक ने काश्मीर चीर धारण किया है[4]। होली के उत्सव पर श्वेत वस्त्र पहनना अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि उस पर अन्य सभी रंग स्पष्ट दिखायी देते हैं, संभवतः यही विचार कर मतिराम की नायिकायें फाग पर श्वेत सारी पहनी है जिन पर गुलाल उड़ उड़ कर पड़ रहा है मानों श्वेत बरफियों पर बालसूर्य क्रीड़ा कर रहा हो[5]। अभिसार के

---

१- धीरहि -धीरहि बृजभान के, बागो अकेलहि केलि भुलान्यो।
सेज पै सोवत ही उत भावती, कीनों महा कलके पट तान्यो।
बारस से उभरी एक बांह, भरी छवि हेरि हरी अकुलान्यो।
धीरत हाथ फिरे उमड़ो-सो, मड़ो कुंज बीच फिर मड़रान्यो॥
के०री०गृ०पृ०१०६।

२- गुलाल-री०गृ०पृ० २२८।

३- सारी जरतारी की किनारी में गुलाल राजै,
तैसी छवि साजै उत काश्मीर चीर की। दी०गृ०पृ० २३।

४- सित अम्बर जुत सिथनि में उड़ि उड़ि परत गुलाल।
पुंडरीक पटलनि मनौं बिलसत बालप बाल॥
म०गृ०पृ० ४९०।

लिए सन्नद्ध नायिका वस्त्रों के प्रति विशेष सतर्क रहती है जिससे वह वन-प्रवास के बीच सावधानी से पहचानी न जा सके। रात को निकलते समय वह काले अथवा नीले वस्त्रों से युक्त होती है जिससे अन्धकार में मिल जाय और चाँदनी रात में वह श्वेत वस्त्रों से आवृत होती है कि अन्यत्र चाँदनी में उसका अस्तित्व अलग न दिखायी पड़े। घर के काम-काज वह साधारण स्वच्छ वस्त्र पहनती है। बिहारी की नायिका स्वच्छ धुली धोती पहन कर रसोई में काम करती है[1]।

११- जरी के काम से युक्त झिलमिलाती ओढ़नी तथा गोटेदार घाघरे जैसे बहुमूल्य वस्त्रों की शोभा को बनाये रखने के लिए पैरों में सुन्दर जूतियाँ भी पहनी जाती हैं। केशव की नायिका के पैरों में जूतियों में रंगबिरंगे फूंदने बंधे हैं, कभी वह "लाल उपाहने" पहने होती है तो कभी नायक रंजित पायों में चमकीली जूती पहन लेती है[2]। कीरति की नायिका मनोहर वस्त्रों के साथ पैरों में मखमल की जूतियों से शोभित होती है[3]। पवन स्त्रियाँ शिवाजी की वीरता से आतंकित होकर अपने समस्त सौन्दर्योपकरणों को त्याग कर "धाम" में घिर रही हैं, उन्हें पाँव की "पनहियाँ" का ध्यान भी नहीं है[4]।

---

१- वि०र० दो० ४७७।

२- हाथ हरी हरी राखैछरी बरबूती चढ़ी पग फूंद फुंदारी।
केo कo पु० ११७।

\+ \+ \+

जूती जोती जावक की जोती पग पाइ के।
केo भा० वि०पु० १२३।

३- पायन मखूल मखमल बरबीरे की।
कीरति० दी०गुं०पु० १४१।

४- तनियाँ न तिलक, सुबनियाँ पगनियाँ न,
पाये पुखराज छोड़ देखिया सुजन की।
भू०गुं०पु० ११०।

पुरुषों का वस्त्र :

३४- रीतिकालीन पुरुष कवि की जीवन-दृष्टि और उसकी अभिरुचि कुछ ऐसी थी कि उसे नारी रूप में ही अधिक काव्य और विश्राम मिलता था। वैभव प्रदर्शन के सशक्ततम माध्यम वस्त्र एवं अलंकार ही हैं। अपनी नायिकाओं को श्री संपन्न एवं शोभागार बनाने के लिएउसके स्थान-स्थान पर उसके वस्त्रा-लंकारों का उल्लेख मिल जाता है। किन्तु इसके विपरीत पुरुषवर्ग किन वस्त्रालंकारों का उपयोग करता इसकी चर्चा कुछ ही स्थानों पर हुई है। जहां राम और कृष्ण का उल्लेख है, पुरुष-वस्त्रों की चर्चा प्रायः वहीं आती है। इनमें भी परम्परागत वस्त्रादि के ही उल्लेख आये हैं, युग का प्रभाव तो यदाकदा ही लक्षित होता है। इसके अतिरिक्त नायक-नायिकाओं की मिलन वेला में दोनों के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करते समय कवि प्रियतम के वेशविन्यास का भी कुछ संकेत कर देता है।

३५- पुरुषों के सिले और अनसिले वस्त्रों के नामोल्लेख तो यत्रतत्र प्राप्त होते हैं किन्तु वे किस प्रकार के होते थे, शरीर के किस भाग पर पहने जाते थे आदि के विवरण जो स्त्रियों के वस्त्रों के संबंध में प्राप्त होते हैं यहां नहीं मिल पाते। काव्य में प्राप्त संदर्भों में सिर के वस्त्रों में पाग, तुर्रा, पगरी आदि हैं। केशव के श्रीरामचन्द्र गंगावत-वस्त्र के पाग से सुशोभित होते हैं[1]। पान कवि के नायक की छटा "तुर्रा" के कारण और बढ़ जाती है[2]। पुरुष वेश धारण करके, लोगों की दृष्टि से बचकर अभिसार हेतु तत्पर बेनीप्रवीणकी नायिका पैरदार जामा, पायजामा, पगरी तथा एकबेचा।

---

१- क०की० १।९१।

२- पान- सा०पु० पृ० ३१८।

से विभूषित है[1] । बोधा के विरहवारीश का नायक भी सिर पर बर्दपाग एवं बरी का तुर्रा धारण करता है[2]। व्यक्तित्व को और भी प्रभावशाली बनाने के लिए पाग को ऐंठ कर तथा पगड़ी के पेचों को उमेंठ कर बाँधा जाता है । पगरी को सुंदररीति से सँवार कर नायक नायिका को मुग्ध कर देता है[3]।

रीतिकाव्य में कवियों ने नायक को सम्पूर्ण वस्त्र-सज्जा के साथ कम ही चित्रित किया है फिर भी कुछ चित्र मिल जाते हैं । बान कवि के "लाल" अपनी सम्पूर्ण शोभा के साथ गोप और गुवालों सहित हाथ में नारंगी उछालते चले आ रहे हैं । वे गहरे कुसुमी रंग का चीरा पहने हैं जो लहरा रहा है । उनके शीश पर तुर्रा की छटा अलग ही शोभित है, उनके बगरई बाँये में "किरमिची कोरदई एवं बरछी" झलक रहे है, गुलाबी दुपट्टे का फेंटा खो हैं और कानों में कुंडल एवं माथे पर केसर का तिलक लग रहा है[4]। रीतिकाव्य के नायक भी वर्णसाम्य रखते हैं । केशव के नायक ने अपनी कमर में पीले वस्त्र की पिछौरी बाँधी है और सिर पर पीली पाग रखी है साथ ही पावों में पीली पनहिया भी पहने हैं[5]। सोच की नायिका तो इस प्रकार से सजे नायक को देख कर

---

१- फेरदार जामा पायजामा में प्रवीन बेनी
मनिहि सकामा रमामा मुख बरसात है ।
केस कस पगरी में बबरी बनाय बास
मुगुल बचे सौं एक पेचा खो बात है ।।
बे०पु०न०र०त०पृ० २६ ।

२- सिर बर्द पाग बिलसत सबेस ————
† † †
उर सुमनहार तुर्रा बरीस ————। बो०वि०बा०पृ० २२ ।

३- सुं० ति०पृ० ४६ ।

४- बान० सा०पु०पृ० २१८ ।

५- पीरी पीरी पाट की पिछौरी कटि केसोदास
पीरी पीरा पागे सम पीरीयै पनहिया ।।
के०क०पि० पृ० १४१ ।

ठगी सी रह जाती है दृष्टि पांवरी से होती हुई पाग तक जाती है और पाग से होकर पुनः पांवरी पर लौट लौट जाती है[1]।

३६- समाज में वर्णव्यवस्थानुसार वस्त्रों के विधान प्राप्त नहीं होते। एकाध स्थल पर ब्राह्मण का उल्लेख है पूजा आदि के समय विशिष्ट वेशभूषा धारण किये है। वीरसिंह देव चरित में द्वारपाल ब्राह्मणों का विवरण देता है कि वे स्वच्छ धोती धोती पहने हैं, ऊपर शुद्ध उपरैना है, हृदयपर यज्ञोपवीत शोभित है और कुंकुम का तिलक लगाये हैं[2]। अन्य वर्णों का विशेष विवरण न मिलने के कारण कहा जा सकता है इनकी वेशभूषा सामान्य ही रही होगी। समृद्ध एवं संपन्न वर्ग के व्यक्तियों पर दरबार वस्त्रों का प्रभाव स्पष्ट ज्ञात होता है।

३७- शिशुओं एवं बालकों के लिए झुलही, झगा, झंगूली, झंडुली आदि की चर्चा की गयी है। घनानन्द ने झुलही लगाये हुए कृष्ण को नन्द की गोद में बैठे चित्रित किया है[3]। यशोदा मातृसुलभ अभिलाषा में शिशु कृष्ण को देख कर विचार करती है कि यह कब लाल पीत झगा पहन कर पैरों से चलेंगे[4]। ठाकुर के कृष्ण झूले में झूले हुए झीनी झंगुली एवं झालरदार झंडूली

---

१- पांवरी तें बढ़ि पाग लौं जाति,
लौ पाग ते पांवरी लौं फिरि आवत ।।
सोज: री०रू०पृ० १६६ ।

२- पीत धौतवस्त्र पहिरे गात । ऊपर उपरैना अवदात ।
सोहत उर उपवीत सुवेश, गौर श्याम वपु तरुन सुवेश ।।
के०वी०दे०च०-पृ०२१२ ।

३- झुलही दै उलही श्याम रूप शोभा बैठे कान्ह व्रजपति की गोद ।
प०रा०पृ० ४५० ।

४- कबहीं पहिरे पीरे झगा को लहँगो लाल,
कबहीं धरनि धीर देइ पग राखिहै ।
दी०रा०, पृ० ६ ।

धारण किये है। बालक के बालकृष्ण भी करोनी कंगूली पहने हैं[1]। सामान्यतः शैशव एवं बाल्यावस्था में बालक-बालिकाओं की वेश-भूषा एक-सी रही होगी क्योंकि रीतिकालीन काव्य में इनके वस्त्रों के वर्णन उल्लेख नहीं पाये हैं। कृष्ण की बाल्यावस्था के चित्रण के बहाने ही शिशुओं के वस्त्रों का ज्ञात प्राप्त होता है।

४८- आर्थिक विषमता के कारण हीरे-जवाहर एवं सोने-चांदी से युक्त जगमगाते वस्त्र धारण किये जाते हैं वहां दूसरी ओर गाढ़ा, छींट, खेस तथा खादी जैसे मोटे, खुरदुरे एवं सस्ते वस्त्रों का प्रयोग भी होता था। मध्यम वर्ग उच्चवर्ग के समान ही वस्त्र पहनते थे, वर्ग का अन्तर इनके मूल्य में था। जन-सामान्य में प्रदर्शन नहीं था और सादे सूती वस्त्रों का प्रचलन था। मुगलकाल के चित्रों में उच्च एवं निम्न वर्ग के वस्त्रों का स्पष्ट अंतर दिखायी देता है। उच्च वर्ग के वस्त्रों में ज्ञान-वैभव और वस्त्रों की पूर्णता है तो निम्न वर्ग के वस्त्र कभी-कभी शरीर को ढंक पाने में भी असमर्थ हैं। निम्नवर्ग जूतों का प्रयोग प्रायः नहीं करता था। ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि अकबरोत्तरकालीन भारत में जन-साधारण के पास अपना शरीर ढंकने भर के लिए पर्याप्त वस्त्र नहीं थे। मोरलैण्ड ने प्रामाणिक स्रोतों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रायः संपूर्ण मुगल साम्राज्य में, और विशेषकर आगरा से लाहौर के मध्य के क्षेत्र में (और यह स्मरणीय है कि रीतियुग के अधिकांश हिन्दी कवि इसी क्षेत्र से संबद्ध रहे हैं) जनसाधारण प्रायः अर्धनग्न अवस्था में रहते थे। एक ओर विपन्नता और सम्पन्न अर्धनग्नावस्था का यह वास्तविक लोकचित्र और दूसरी ओर कवियों की नायिकाओं की महीन साड़ियों की झिलमिलाहट, रत्नजटित वस्त्रों की जगमगाहट, रीतिकालीन समाज का एक अद्भुत अंतर्विरोधी चित्र प्रस्तुत करती है।

---

१- करोनी सोहे कंगुली की आखर कंगूली लखै।
ठाकुर-ठी०ग्रं०पृ० १९७।
करोनी सी कंगूली बीच करोनों बंग झलक।
बालम० के० पृ० ।।

## आवास और भवन-कला

### आवास-निर्माण की मूल प्रेरक प्रवृत्ति एवं उद्देश्य:

४९- प्राणिमात्र में संकोच और प्रसार, आत्म को समेटने और उसके आयाम विस्तृत करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। ये दोनों सपानान्तर प्रवृत्तियां है और दोनों ही मनुष्य और प्राणिमात्र की स्वभावज हैं। इनमें से किसी एक को सहज और दूसरी को कृत्रिम बताना एकांगी दृष्टिकोण का सूचक है। आत्म को समेटने के लिए ही सांप बिल बनाता है, दीमक वल्मीक खड़ी करता है, चिड़िया घोंसले बनाती है, सिंह जैसा खूंखार जीव वनराज कंदराओं में प्रवेश करता है, मनुष्य मकान-बाड़े बनाता है उसके आयाम विस्तृत करने के लिए ही नागराज अपने बिल से बाहर प्रसरित होते हैं, दीमकस्थान छोड़ता है, पक्षी गगन की असीम व्याप्ति में पंख फैलाते है, शेर मांद से बाहर निकल वन की वन्यभूमि में विचरण करता है और मानव अमानवीय पौरुष और व्याप्ति के कार्य करता है। और नाव तो गृहिणी, जिसके जीवन क्षेत्र की व्याप्ति घर की चारदीवारी में समझी जाती रही है, चंद्रलोक की यात्रा करती है।

५०- आत्म के संकोच के पीछे कई प्रेरणाएं हो सकती है--यह स्वयं ही मूलगत है। भवन-निर्माण में सुरक्षा का भाव भी निहित रहा है। मानवजीवन की संपूर्ण कलात्मकता पहले आवश्यकता के रूप में अवतरित हुई है, वस्तुतः कला भी उसके लिए अनिवार्य ही है। मकान रक्षा के लिए बनाये जाते थे, सुरक्षा के साथ धीरे-धीरे वे सौंदर्य-सृष्टि भी करने लगे आवश्यकता आविष्कार की जननी तो है ही सौन्दर्य की पारिवारिका भी है--फलतः मकान मजबूत ही नहीं सुंदर भी बनाये जाने लगे। साजसामान भी रखे गये।

५१- रीतिकालीन हिन्दी कविता में जो चित्र मिलते है, उनके आधार पर हमें देखना यह है कि भवन-निर्माण में सुरक्षा-दृष्टि और सौन्दर्य-बोध-

वृत्ति में से कौन प्रवृत्ति की ओर कितनी । यदि संतुलन था तो कहां तक? समाज के विभिन्न वर्गों के आवासों व अन्य उपयोग के भवनों में कहां तक अंतर था, यह समाज के आर्थिक वैषम्य, आत्यंतिक और सांघिवात्य दृष्टि के भेद की ओर क्या संकेत करता है और साहित्यकार का यह संसार तत्कालीन समाज का समग्र चित्र देता है या एकांगी, उसकी सहानुभूति और संवेदनशीलता का प्रसार कहां तक है, उसके चित्र अन्य स्रोतों से ज्ञात तथ्यों से कहां तक मेल खाते हैं और कहां भिन्न है? कौन अधिक विश्वसनीय है? इस प्रकार के अध्ययन-विश्लेषण तत्कालीन निर्मिति और साक्षात्कार का क्या समग्रत्व बड़ा हो सकता है? प्रस्तुत अध्याय में हम इन्हीं संकेत सूत्रों के आधार पर आगे बढ़ेंगे ।

उच्चवर्ग के आवास:

४२- रीतिकालीन काव्य में जहां धनधान और वैभवभोग उच्च और निम्न वर्ग के बीच गहरी खाई की ओर संकेत करते हैं वहां भवन और उसकी सज्जा के प्रसंग इनमें स्थिति आकाश-पाताल के अन्तर की ओर स्पष्ट अंगुलि-निर्देश करते हैं । केशव ने रामराम के अवध-प्रवेश के समय उसे अमरावती से भी सुन्दर कहा है । अवध के चहुँ-ओर गहरी खाई है, ऊंचा सोने का कोट नगर को घेरे है जिस पर कंगूरे मणि रत्न की प्रभा से दीप्तिमान हैं । नगर की अनेक ऊंची अट्टालिकाओं पर पताकाएं फहरा रही हैं । ऊंची अटारियों पर स्त्रियां स्वागतार्थ खड़ी हैं[१]। ये ऊंची अट्टालिकाओं, गगनचुम्बी पताकाओं वाले तथा हीरे मणि मरकत की द्युति रखने वाले महल निश्चित

---

१- सिगरे दल औध पुरी तब देखी । अमरावति ते अति सुन्दर लेखी ।
चहु ओर विरावति दीरघ खाई । सुभ सेस तरंगिनि सी फिरि आई ।।
अति दीरघ कंचन कोटि विराजै । मणि लाल कंगूरन की रुचि राजै ।।
विविध पताकावलि ऊंचे केसवदास ।
भाति ऊंचे मंदिरन पर चढ़ी सुंदरी आसु ।।
के०कौ०पू० १।२५, २६, २७ ।

रूप से मुगल शासकों के चमक-दमक और वैभव-विलास युक्त शाही आवासों की ओर संकेत करते हैं। केशव ने वीरसिंह देव महल का वर्णन किया है। इनकी बैठक अत्यधिक लम्बी-चौड़ी और स्वच्छ है। भीतर की ओर पांच सुन्दर चौक हैं एक में सभा बैठती है, दूसरे में गान होता है, तीसरे में सम्पूर्ण परिवार भोजन करता है और चौथे में विचार-विमर्श होता है। पांचों चौक में चित्र खिंचे हुए हैं। चार चौक विलासपूर्ण हैं तथा मध्य चौक श्वेत रंग का है। महल में अनेक सीढ़ियाँ हैं प्रत्येक खण्ड में खिड़की और झरोखे बने हैं। झंझरियों और झरोखों पर चन्द्र सूर्य की किरणें पड़ती हैं भवन की चहारदीवारी में ही यज्ञ-शाला भी है[1]। भवन की खिड़कियां या तो झरोखेदार होती हैं या उन पर बालियां पड़ी होती हैं, इन्हीं झरोखों में से झांक कर नायिका "पावक झर" की छवि पाती है[2]। झरोखों में से झांक कर नायिका चुपचाप मनभावन को देख लेती है[3]। महलों में कई खण्ड होते थे। देव की नायिका महल के सातवें खण्ड में रहती थी जिसके चौबारे में विशाल ज्योति रहती थी तो बाहर चांदनी छिटकी होती[4]। तीसरे खण्ड की रावटी में बैठी प्रिया को नायक देख देख कर प्रसन्न होता है[5]।

---

१- के०वी०ब०पृ० २२१-२२५।

२- वि०र०दो० ५७०।

३- झांकि झरोखे रही जबकी दबकी दबकी सु मनै मन भावै।
पद्माकर- सुं०नि० पृ० १५७।

४- मंजुल सप्तखण्ड खण्ड सातवें महल महा,
मण्डल चौबारो मण्ड मंडल के पोटहीं।
भीतर दुं लालन के बालन विलास चौंसि,
बाहर दुन्हाई मनो कोतिन के पोटहीं॥देव--देवदर्शन,पृ० १२०।

५- प्यारी खंड तीसरे रसोसी रंग रावटी में,
तकि ताकी ओर छकि रहूया नंद-नंद है।
कालिदास त्रिवेदी, री०मु०पृ० ७९।

कभी रात्रि के समय तिमहले में चढ़ी नायिका की मुख छवि को नायक देखता है[१]। महलों के ऊपर कंचन के कलश बने रहते थे जिनकी ऊंचाई और पीत आभा के कारण गगन पीला लगता था। महल के सबसे ऊपर दंपति वीणावेणु के साथ विलास करते हैं[२]। भवन में दरीची, तिबारी, दुवारी तथा अटारियां बनी होती थीं[३]। नायक नायिका अटारी से परस्पर दृष्टि लगाये रहते हैं। स्नेह के वशीभूत नायिका बार बार अटारी पर चढ़ते-उतरते नहीं थकती। भवन के भीतर चौबारा, बैठक, बरोठा आदि होते थे। बरोठा बाहर की ओर पौर में होता था। बहुत दिनों पर देश आया पति बरोठे में अपने मित्रों से मिलता रह गया है अन्दर बैठी पत्नी की ये घड़िया उसके लिए वृक्षा की घड़ी हो गयी हैं[४]। अच्छे भवन में सुन्दर अटारी, चौबारे का बैठका, खेलने के ठौर तथा बाग बगीचे का होना आवश्यक माना गया था। बाग के पास खिड़कियों का होना और भी अच्छा समझा जाता था[५]। सम्पन्न व्यक्तियों के घर में बाग, ताल आदि बने होते हैं जिनमें

---

१- रैनि तिमहले तिय चढ़ी मुख छवि लख नंद-नंद। सूरह-क०कं०पृ० २६।

२- महलनि ऊपर बहं बने कंचन-कलश अनूप।
निज प्रभानि सौं करत है गगन पीत अनुरूप ॥ म०गृ०पृ० २६२।

† † † †

वीनावेनु-निनाद मृग, मोहि मंच करि चंद
सोय कि ऊपर वहां दंपति करत अनंद ॥ म०गृ०पृ० २६३।

३-दरीची तिबारी दुवारी अटारी लगी बाल डारी ॥ सू०सु०क०पृ०२३५।

४- अटकि चढ़ति उतरति अटा, नेकु न थाकति देह। वि०र०दो०१९४।

† † †

रहे बरोठे मैं मिलत मित्र प्रानपु के संपु।
आवत आवत ही भई विधि की घरी घरीपु ॥ वि०र०दो०२२३।

५- बाडी अटारी चौबारे की बैठका मंदिर सूने अनेक नवी के।
ज्यो वहा त्यौंखुरार सिहारेउ बाग बड़े डिग है खिरकी के ॥
सु०ति०पृ०११४-११५।

उत्सव के समय रोशनी की जाती है। उद्यान में सुन्दर फौवारों की कतारें होती हैं[1] । भवन में तहखाने तथा खसखाने जैसी सुविधा जनक वस्तुएं भी निर्मित थीं[2]। कुछ ही दूर पर गजशाला, रथशाला, आयुध शाला, हय शाला आदि होती थीं[3]। चित्तसरिया या चित्रशालाएं भी भवन में होती थीं ।

४३- अन्य अमीरों या मध्यम वर्ग के घर ईंट या पत्थर के बने होते थे । ये प्रायः दो मंजिले होते थे । इनमें चूने से पोताई की जाती थी[4] । कभी अन्य रंग भी प्रयुक्त होते थे । इनके अन्दर ओबरिया कपड़े तथा सन्दूक आदि रखने के लिए थीं । बरसार अथवा कोठे में नाच--रखा जाता था । केशव ने छप्पर से छाये हुए मकानों का वर्णन किया है । छप्पर पर माणिक के कलशे हैं[5]। अटारियों में हाथी दांत के खम्भे हैं उसमें झालरों की पंक्तियां हैं । निश्चित रूप से ये छप्पर के आवास अमीरों, राजा, रईसों के ही थे ।

निम्नवर्ग के आवास:

४४- निम्न वर्ग के भवनों का उल्लेख रीतिकाल में नहीं मिलता है । संभवतः ऊंची अट्टालिकाओं और विशाल भवन के कारण उनकी दृष्टि

---

१- सेनापति- क० र० पृ० ६०-६१ ।

२- वही, पृ० ५७ ।

३- गजशाला, रथशाला, गुरू आयुधशाला अनूप ।
हयशाला, बहुबरन है कोष सु कोठा गारे ।।
भाव० रा० वि०पृ० ६२-६३ ।

४- ऊंचे-ऊंचे अटा से सुधा सुधारियत है ।
से०क०र०पृ० ५७ ।

५- के०की० २।१३१ ।

नीची झोपड़ियों तक नहीं जा सकी । इतिहास के पृष्ठों एवं यात्रियों के वर्णनों में इसके झोपड़ों, मिट्टी की दीवारों तथा गोबर से लिपी हुई ज़मीन का उल्लेख किया गया है । मनूची ने घासफूस के झोपड़ों का वर्णन किया है[१] । बर्नियर भी मिट्टी की छोटी झोपड़ियों का उल्लेख करता[२]।

भवनसज्जा:

४५- मुगलकालीन उच्च-वर्ग के भवन तत्कालीन प्राच्य सभी सज्जा की वस्तुओं से सज्जित रहते थे । भवन के सभी दरवाज़ों पर सफेद और पीली मणियों के झंझरीदार चमकीले पर्दे तने हैं । सफेद हीरों के बीच में लाल रंग का हिंडोला झूला है[३] । कहीं लाल पीले श्वेत या कई रंगों के परदे हैं जिनपर कंचन के फूल बने हैं[४]। रंग बिरंगे बंदनवार में मोतियों की झालर लगी है । नीलम के चौखटे तथा स्फटिक मणि युक्त खिड़की हैं[५]। कमरों के अंदर बंदनवार और वितान है उनमें गुलगुली कालीन बिछी है और

---

१- मनूची - स्टोरिया द मोगार - पृ० २११ ।

२- बर्नियर - ट्रैवेल्स ————पृ० २५२ ।

३- सेत पीत मणीन के परदे रचे रंग विसेस ।
शुभ्र हीरन को बीच में हिंडोरा सु लाल ।।
के०की० २।१३३ ।

४- कंचन सुमन सुमेत उदार । मोहन मनिमय चारु विचार ।।
राती पियरी सेत सरूप । बिद्रुम कि परदा बहुरूप ।
के०की०क०पृ० २५८ ।

५- वर्ण वर्ण जहां तहां बहुधा तने सुवितान ।
झालरि मुक्तान की बरु झूमके बिमान ।
चौकठे मणिनील की स्फटिकान के सुघाट ।
के०की० २।१३९ ।

मखतूल के पर्दे हैं[१]। आंगन की भित्तियां चित्रित हैं[२] पलंग तथा सिंहासन हीरे रत्न तथा मोती जैसी मोतियों से बड़े हैं[३]। रीतिकालीन कवि को वर्ण-साम्य एवं वर्ण-वैषम्य से उत्पन्न होने वाले सौंदर्य का पूर्ण बोध था। जिस प्रकार नायिकाओं के वस्त्रों में उन्होंने वर्ण-साम्य या वर्णसंयोग और वर्णवैषम्य के माध्यम से सौन्दर्य सृष्टि की है, उसी प्रकार भवन की सजावट में भी इनका प्रचुर प्रयोग हुआ है। देव का एक चित्र देखिये जिसमें वर्ण-संयोग की अद्भुत छटा है। पृथ्वी और आकाश में सर्वत्र चांदनी का शुभ्र प्रवाह है। श्वेत स्फटिक से निर्मित सौध मंदिर का सागर का भ्रम हो रहा है, फर्श भी श्वेत संगमरमर का है, उस पर शुभ्रवसना गौरांगी-फेनोज्ज्वल तरुणियां और उनके मध्य में चन्द्रकांता राधा। धरती की वंदिका राधा की ज्योत्स्ना के प्रकर्ष में मंदर का चांद प्रतिबिम्ब सा प्रतीत होता है[४]। एक अन्य स्थान पर भी राधा का चित्र देते हुए देव ने शुभ्र वर्ण के संयोग का सौंदर्य दर्शाया है। चांदनी महल में, चांदनी के कौतुक

---

१- सुंदर मंदिर मंदर में बहु बंदनवार वितान मढीसे।
हैं परदा मखतूलन के तिहि मूल खिरी गिरमै गुलगीसे॥
वल्लभ-सुं०ति०पु० ४२२।

२- भीतिन अंगन में सुख देति। अति प्रतिबिंबित हियरे हर लेति॥
पलंग पलंगिया सेज समेत। हिं सन प्रति पर सुख देत॥
के०की०व०पु०२४८।

३-(क) लागे हीरा रतन मनीसे। - - - -
मोती अनेक लाग बस बीसा। - - - -
उ०चि०पु० ९।

(ख) -सा०र०पु० ३१२।

४- फटिक सिलानि सो सुधार्यो सुधा-मंदिर,
उदधि दधि को-सो अधिकाइ उमगै अमंद,
बाहर भीतर लौं भीति न दिखाई देत,
छीर फेन फैल्यो आंगन फरसबंद।
तारा-सी तरुनि तामें देत बगमग होति,
मोतिन की ज्योति मिल्यो मल्लिका को मकरंद।
आरसी से अंबर में आभा सी उज्यारी ठाढ़ी

के लिए, चंद्रवदनी राधा बैठी है। दासियां भी चन्द्रकला-सी प्रतीत होती है। महल में फव्वारे लगे है जिनसे दुग्धोज्ज्वल जल निकल रहा है, चांदीवा और मणिमाणिक्य की आभा के साथ, जरतारों, हीरों के हार की आभा भी सौंदर्य में वृद्धि कर रही है[1]।

शयनगृह:

४६- रीतिकालीन काव्य में वैभव एवं विलास का सर्वाधिक प्रदर्शन शयन-कला के वर्णन में हुआ है। कवियों को केलि-क्रीड़ा एवं वैभव वर्णन के लिए शय्यागृह ही उपयुक्त स्थान मिला था। वीरसिंह के मलयगिरि के समान ऊंचे राजमहल की कोठरियों से मंडित कर दिया गया है। कमरे में केवल एक दीपक जलता है जिसके प्रकाश से दीवारों में जड़ी मणियां प्रकाशित हो उठती हैं। मणिजटित आलों में सुगंध से भरे पात्र हैं। वहीं स्वच्छ श्वेत झालरदार मोतियों के चंदोवा के नीचे बड़ाऊ पलंग बिछा है जिस पर लाल रंग की सुन्दर नर्म तोशक बिछी है[2]। कहीं झालरदार वितान के तले गुलगुले गलीचे बिछे है[3]। खूटियों में फूलों के गजरे लटक रहे है। वस्त्र सुवासित करने वाले

---

१- चांदनी महल बैठी चांदनी के कौतुक को,
चांदनी-सी राधा-छवि चांदनी विलास रे,
चंद की कला-सी केल दासी संग फूली फिरै,
फूल -से दुकूल पैन्हैं फूलन की मालरै।
छूटत फुहारे, वै विमल जल, झलकत,
चमकैं चंदोवा मनि-मानिक महालरै,
बीच जरतारन की, हीरन के हारन की,
जगमगी जोतिन की, मोतिन की झालरैं॥ केसुधा-पृ० २५।

२- के०की० २।१२४।

३- झालरदार झुकि झूमत वितान बिछे,
गहब गलीचा जरू गुलगुली गिलमै।
अगर मगर पद्माकर सु दीपन की,
फैलीजगाजोति केलि मंदिर बसित मैं॥

प०गं०पृ० ११७।

चूर्ण भी हैं और पानदान में कस्तूरी कर्पूरादि से युक्त पान के बीड़े भी बने रखे हैं[1]। केशव ने सीता के शय्या गृह की शोभा का चित्र दिया है। कमरे में फूलों का चंदोवा तना है उसके नीचे सोने का रत्नखटित पलंग है। पलंग पर चन्द्रमा की तरह श्वेत वस्त्र पड़ा है। चंपई रंग के तकिए और गुलाबी रंग की मसनुई हैं[2]। कहीं हीरे के फर्श पर चांदी और दूध की धार के समान श्वेत सेज पर श्वेत तोशक और मोती के झालर के चंदोवे लगे हैं[3]। सोने के स्थान को सुगंध एवं पुष्पों से सुसज्जित करना प्रत्येक रईस के लिए साधारण बात थी। कस्तूरी, केसर, कश्मीरा, कपूरकचरी, कुटकी, कक्कनी, आदि सुगंधित पदार्थ उपयोग में लाते थे[4]। शय्यागृह की भूमि को अगर-चन्दन और कस्तूरी से लीप कर उस पर गुलाबजल छिड़का जाता है। सेजों पर इत्र लगा कर और फूलों को बिछा कर उसकी शोभा बढ़ायी जाती

---

१- के० कौ० २।१२५।

२- के० कौ० २।१४२-१४३।

३- हीरा के फरस पर हीरा के फरसबंद,
रजत की सेज धूम धार नीकी छवै रही।
सेत-सेत तोशक चंदोवा चहुं ओर तने,
मृगाल कवि मोतिन की झालरैं झिलमिल॥
मृगाल - र० पृ० ३१।

४- सूदन- सु० च० पृ० १७५।

है[1]। स्थान स्थान पर धांवड़े पड़े रहते है। दिशाएं अगरु धूप से सुगंधित है, कस्तूरी, अगर, चोवा और घनसार की बहार है, हजारों दीपक बलते है, मधुर वाद्य बजते है[2]। घर को सुसज्जित करने के लिए चोवा, चांदनी, बंदोवा, चिक, चौक, बंधा, चमेली, खस, उशीर, खसखाने, कर्पूर और चंदन आदि का प्रयोग होता है[3]। घनानन्द "राधागुपाल" की सेज बनाने की कामना करते है। धूप के धुंआ को भी फीका करने वाले स्वच्छ वस्त्र बिछाएं, ताजे पुष्प से सेज सजायी जाय, उस पर कलियों के गजरे और मुक्ताओं की झालर लगी हो। स्फटिक मधुपात्र भरे हो तथा द्वार एवं झरोखों पर यवनिका टंगी हो और पात्र में मादक पेय पिलाने की सुविधा भी हो[4]।

---

१- (क) सौंधे से लिपायो छिरकायो है गुलाब नीर अगर धिपायो घनसार को सदन है।
फूलनि सुहायो छवि छायो बिछायो सेज अतर मंगायो रवि डेरि के सदन में।
—कु०र०पु० ९४।

(ख) कहै पद्माकर सुपास ही गुलाब पास,
बासे खस खास खस चोवन के ढेरे है।
त्यों गुलाब नीरन सों हीरन के हौज भरे,
दम्पति विलास हित आरती उजेरे है।
चोकी चांदनीन पर चीरस चमेलिन के,
चंदन की चौकी बारु चांदनी के घेरे हैं।।प०क०की०पु०४४७।

२- पांव धरनि ते पांवड़े पड़े है पुर चौरि लग,
धाम धाम धूपन के धूम घुमियत है।
कस्तूरी अगर डार चोवा रस घनसार,
दीपक हजार ते अंधार सुनियत है। कै० दर्शन, पु० ११९।

३- चोवा चौक, चांदनी, बंदोवा चिके चौकी चौक,
चंपक चंपावली चमेली बारु चीव हैं,
गुलाबे खस फरस उशीर खसखानन में,
पवन कपूर चंदनादि करि सीव है। पवनेश, ला०र०पु० ३१९।

४- प०गृ० पु० ३१९।

ऋतुओं के अनुरूप व्यवस्था:

४७- सभी ऋतुओं में अमीरों के सामंतीय वैभव की झलक उसके शयना गृह में देखी जा सकती है। फर्श अबरख से सिपा है। बीच में रेशम चांदनी बिछी है ऊपर शामियाना तना है जिसमें मोती की झालरें लटक रही हैं। वहां चौसर का प्रबन्ध है[1]। शरद ऋतु में सोने की अंगीठियां में आग जिसमें मृगमद की सुगंध है, कहीं से ठण्डी हवा नहीं आ रही है और तापने के लिए मेवे तथा विभिन्न मसालों की डब्बियां है। सुन्दर स्त्रियां ताल एवं लय में नाच गा रही हैं। पाला के दिनों में वहां बाला, दुशाला और प्याला की बहार है[2]। शीत ऋतु में मखमली सेज पर परमीना के बीहड़े गलीचे और तुरा की शीशी भी सुलभ है, तब भी कोमल शरीर शीत से ठिठुरे जा रहे हैं[3]। चाहे कैसी भी ठण्ड हो स्नान करने में कोई कठिनाई नहीं होती क्योंकि तेल लगाने के बाद मलमल कर नहाने के लिए गर्म हमाम है। सूर्य की धूप में भी बैठने की व्यवस्था है। शाल-दुशाले तो अनेक रंग के है

---

१-अति अबरख तें सिपाय मंजु मंदिरनि,
तरल सेत चिंपत करी है चौक हद में।
ताने सामियाने बरीदार से बेव भरे,
मोतिन की झालरें झलामल की सदमें।
गुबाल कवि चौसर चमेली के सीरन में,
चुनधा चमके चीर बादल विसद में।। गुबाल० र०पु० ३४।

२- सोने की अंगीठिन में अंगिन धूम होय,
होय धूम धारदू तो मृगमद बाला की
पौन की न गौन होय भरवीं सुगौन होय,
मेवन को लौन होय डब्बियां मसाला की
... बाला की बहार औ' दुशाला की बहार आई
पाला की बहार में बहार बड़ी प्याला की।।गुबाल-र०पु०३८।

३- कर कर आपै बड़े दरदर डापै नापै,
तउ कापै थर थर कावत बसीसी बाय।
फेर मखमीनन के बीहड़े गलीचन पर,
सेज मखमली सौंरि सौज सरदी न जाय।
गुबाल कवि कहै मृग मद के धुकाये धूम,
ओढ़ ओढ़ छार भार भागहू छयो सी जाय।।गुबाल०क०कौ०पु०४९४।

ही । अगहन आने पर बर्फीली हवा भी कुछ नहीं बिगाड़ पाती क्योंकि "प्रभु लोगन" के पास में सभी साधन मौजूद हैं[1]। ग्रीष्म की तपन का ज्ञान भी न हो पाये अतः ग्रीष्म ऋतु में भी साधनों की कमी नहीं हो पायी । चारों ओर शीतल फव्वारे से फुहारें निकल रही है, बेलों की छटा के बीच बेठ की बलन प्रवेश नहीं कर पाती, बारहदरी में हर ओर बर्फ बिछा कर उस पर पाटी बिछायी हैं, उसी में अंगूर की टट्टी एवं अंगूर की शराब भी ग्रीष्म को दूर करने के लिए है[2]। सुन्दर मंदिरों में खसखस की टाटी को बसंतों से सींचा जाता है जिससे शीतल, मंद, सुगंध समीर की लहर उठती है तन गुलाब एवं अंगरजा से सने हैं । इस सुविधा के बीच ग्रीष्म ऋतु में दंपति विहार करते हैं[3]। भीषण गर्मी में जब साधारण जन व्याकुल रहते हैं सांझ के समय रावमहलों में षट्ऋतु की शोभा बनी रहती है । फुहारे वर्षा ऋतु की तरह लगते हैं । खसखाने हेमंत और शिशिर से भी ठंडे हैं जहां क्षण भर में

---

१- प्रात उठ जाइबे कौं, तेलहि लगाइबे कौं,
मलि मलि न्हाइबे को गरम हमाम है ।
ओढ़ने को खास बे बिलास है अनेक रंग,
बैठिबे को सभा, जहां सूरज कौ घाम है ।।
... बाये अगहन, हिम पवन चलन लागे,
ऐसे प्रभु लोगन को होत बिसराम है ।।
से०क०र०पृ०६७ ।

२- पद्माकर-ग्रं०पृ० पृ० १६२-६३ ।

३- सुंदर बिराजे रावमंदिर सरस ताके,
बीच सुखदेनी सैनी सीरक खसीर की ।
छरे सलिल-बंत्र सूधे बिमल उठे,
सीतल सुगंध मंद लहर समीर की ।
भीने हैं गुलाब तन सने हैं अंगजा सौं,
छिटकी पटीर नीर टाटी तीर तीर की ।
ऐसे बिहरत दिन ग्रीष्म के बितवत,
सेनापति दंपति मया से रघुबीर की ।।
से०क०र०पृ० ६९-७० ।

तपन मिट जाती है। फुलवारी में खिले फूल वसंत की शोभा पाते हैं[1]। बैठ, पास आते ही तरबतर, खसखाने तथा तरताब सुधारे जाने लगते हैं। विविध वसयंत्रों की मरम्मत की जाती है। इत्र, गुलाब, अरगजा से लेकर रक्खा जाता है। ग्रीष्म में ठण्डक रखने के लिए रावाजों के यहां प्रबन्ध होने लगता है[2]। बर्फ की शिलाएं, संदली सेज, खस और गुलाब, प्यास बुझाने वाली शरबत, हिमानी बाला। बिही के मुरब्बे, चांदी के वर्क पड़े केले से सुगंधित बर्फ से ठंडे पेठे, और कमसुखी स्त्री द्वारा करकंजों से की गयी कंचन पंखी की हवा ग्रीष्म की ज्वाला और लवाला को काट देती है फिर बेठ उन्हें त्रास कैसे दे सकता है[3]। चांदनी रात में, अटारी पर चित्रकारी की बारहदरी में, कमलपुष्प युक्त बिछौने पर बड़ी बाला की सारी थकावट से भींग गयी है। गुलाब वसयुक्त सुगंधित जल के फव्वारों के कारण हवा शीतल और

---

१- छूटत फुहारे बीच बरसा सरस रितु,
और सुखदाई है सरद सिरकाई की।
हेमंत सिसिर हू मैं सीरे खसखाने जहां
छिन रहे तपति मिटत बल काह की।
फूलेतरवर फुलवारी फूल सौं भरत
सेनापति सोभा सो बसंत के सुभाह की।
ग्रीष्म के सबै सांक राव महल मांझ
पैयति है शोभा अटूटितु समुदाव की। से०क०उ०पृ०६०।

२- सेनापति- क०र०पृ० ५७।

३- बरफ सिलान की बिछावत बनाय करि सेज संदली पै कंद जल पाटियतु है।
गालिब गुलाब जल बास के फुहारे छूटे बूंद खसखाने पै गुलाब छाटियतु है।।
गुवाल कवि सुंदर सुराही केर और मांहि बोरा को बनाय रस प्यास डाटि-
यतु है।
हिमकर मानती हिवाला सी हिये हैं आय ग्रीष्म की ज्वाला के कलेजा
काटियतु है।।
-गुवाल- बा०प्र०पृ० ४४९

गुवाल- क०की०पृ० ४४९।

सुगंधित हो जाती है फलतः ग्रीष्म की तपती झार का आभास भी नहीं होता[1]। इस प्रकार श्रीमन्तों के यहां सभी ऋतुओं के उपयुक्त व्यवस्था है। साधारण वर्ग की प्रकृति की अतिशयता "दीरघ दाघ निदाघ अरु शिशिर के पाले से बचने के लिए क्या क्या उपचार उपलब्ध थे, रीतिकालीन कवियों ने इसका उल्लेख नहीं किया। इतिहास के पृष्ठों पर उच्च एवं साधारण वर्ग के बीच गहरी खाई को देखते हुए यही प्रतीत होता है कि जब प्रभुवर्ग गुलाब पाश, खसखाने, गुलाब जल के हौजों चांदनी, चमेली और चौकी का उपयोग कर रहा होगा[2] साधारण वर्ग प्रकृति की दया पर किसी वृक्ष की छाया की ओट में पड़ा रहता होगा।

४८- शीत ऋतु में गुलगुली गिल्लें गलीचे, चांदनी, चिक, चिरागों की माला, गबक, गिजा, सुरा और प्याला, तान, और दुशाले में वहां सामन्त वर्ग शीत की झलक भी नहीं पाता, वहीं थर थर कांपते, ठंड में ठिठुरते शरीर, और बहती बतीसी के बीच, जब बर्फ के तीर चल रहे हैं, निर्धन व्यक्ति आग पर गिरे जा रहे हैं उनके नेत्रों से धुएं के कारण आंसू बह रहे हैं, मानों शीत के भय से वह पावक हृदय की छांव में रस लेना चाहते हैं[3]।

---

१- अमल अटारी, चित्रसारी वारी रावटी में,
वारहे दुवारी में केवारी मंझवार की।
- - - - - - - - - - - - - - - - - -
दीपति गुलाब बारे छूटत फुहारे प्यारे,
तपटैं बहत तर-अतर बयार की।
भूषन निवारी, पनसार भीति डारी,
करि, तऊ न बुझानि नेक ग्रीष्म के झार की॥
दीपति-री०कु०पु० १२६।

२- पद्माकर - क० की०, पृ० ४४७।

३- सीत की प्रबल सेनापति कोपि चढ़्यो जब,
निबल अनल, गयो सूर सियराइ के।
हिम के समीर, तेई बरसैं बिषम तीर,
रही है गरम भीम कोनन में जाइ के॥
धूम नैन बहै, सीत बारि पै गिरे रहै,
हिए सो लगाइ रहै नेक सुलगाई के।
मानो भीत जानि, महाभीत है पसारि पानि,
छतियां की छांह राख्यो पावक छिपाइ के॥
से०क०र०पृ० ६७-६८।

बाड़े के पूर्वी पार्श्व में साधारण जन को बीने के भी लाले पड़ जाते है । वे आग जलाकर तापना चाहते हैं, पर ठिठुरे हुए हाथ से वह तिनका भी नहीं हटा पाते[1]। एक ओर सोने के पलंग और मखमल के बिछौने है, हीरे जड़े पलंग के पाये है और जरी का वितान है[2] तो दूसरी ओर निम्न वर्ग के झुग्गा गृह में मिट्टी के बर्तन से रखे है, एक खाट पर चादर पड़ी है । कहीं खाट पर केवल टाट भर ही पड़ा है । रात में चूहों का उपद्रव होता है वह अलगनी पर पड़े कपड़े भी काट देते हैं । ये बेचारे शीत काल में भी एक निहाली मात्र ओढ़ कर ही सोते है । जिसमें उनके शरीर की गर्मी से ही सुख मिलता है[3]बस्तु ।

४९- रीतिकालीन काव्य में घर में काम आने वाली तथा अन्य सज्जा की वस्तुओं में बलदानी, पानदानी एवं पीक दानी[4] का उल्लेख आया

---

१- बायौ और बड़कालौ, परत पूर्वल पालौ,
सोगन कौं लालौ पर्यौ, जियै कित बाइ के ।
तापयौ चाहै बारिकर, तिन न सक्त टारि,
मानौ है पराए ऐसे भये ठिठराइ के ।।
बे०क०र०पु० ७०-७१ ।

२- सोने के पलंग मखमल के बिछावने है ।
बेनी पु०न०र०त०पु० २४ ।

३- बैठे सुख सौं करि बिसराम । देखी अति बिचित्र सो धाम ।।
कोटे कलस धरे बहु माट । चादरि सौरि तुलाई खाट ।।
दीनी एक पुरानी टाट । ऊपरि मानि बिछाई खाट ।
ब०अ०क०पु० १४ ।

† † †

मानिक नारे के पसे, बांध्यो खाटि उचाटि ।
परी इवार अलंगनी, मूसा ले गयो काटि ।। ब०अक०पु० ३६ ।

† † †

जैसे नर सोवत सीत काल निहाली ओढ़
बापु ही तपति कर बापु सुख पाइ है ।। सु०गुं० पु० ४८४ ।

४- कोउ बलदानी, पानदानी पीकदानी लिये
कोउ कर बीनै से सुहाने गीत गावती ।।
छी०ब०मा०खा०पु० २४० ।

निष्कर्ष:

५०- इस प्रकार हम देखते है कि आवास एवं भवनसज्जा की दृष्टि से भी हमारा आलोच्यकाल घोर आर्थिक वैषम्य का युग था । वस्तुतः मध्यवर्ग तो कहीं था ही नहीं । एक ओर मुगल सम्राट् के शाही महल और अमीर-उमरावों की विशाल अट्टालिकाओं का वैभव है तो दूसरी ओर जन-साधारण की जीवनयापन के लिए अपर्याप्त, अस्वास्थ्यकर आवास व्यवस्था। साज-सामान की तो कहना ही क्या, इन लोगों के पास खाने के बर्तन और बिछाने के कपड़ों की भी कमी है । तत्कालीन साहित्यकार का मन संपन्न वर्ग के आलोक से इतना प्रभावित हो गया था कि उस ओर उसकी दृष्टि भूले भटके ही जाती थी । जीवन की सर्वजन सामान्य धारा से उसका नाता छूट-सा गया था, इसलिए उसका साहित्य एकवर्गीय है । मार्क्सवादी समीक्षक जीवन और साहित्य में अर्थ को बहुत महत्व देता है, उसमें अतिशयता भले ही हो किन्तु इतना सत्य अवश्य है कि हमारे आलोच्य काल में अर्थ और वैभव ने साहित्य और कला को, सृजन और सौंदर्य बोध को बहुत कुछ प्रभावित, नियमित और दिशानिर्दिष्ट किया है । यह दुर्भाग्य ही था कि हमारे कवि को जीवन का कठोर धरातल दुरवगम्य लगा, कि वह वैभव -विलास की मृग-मरीचिका से आवद्ध होने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहा ।

शृंगार - प्रसाधन

५१- रीति कवि सौन्दर्य के पुजारी रहे है । इन कवियों का संपर्क जिस वर्ग से था वह सदाव सौन्दर्य एवं शृंगार के प्रति अत्यधिक सचेष्ट रहा है । स्वाभाविक सौन्दर्य को और भी आकर्षक बनाने के लिए ये विभिन्न सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग करने लगे थे । शृंगार के उपकरणों के बीच में नये पुराने सभी प्रकृतिक सौन्दर्यवर्धक उपकरणों का भी यथा संभव उपयोग किया गया । मुगल बादशाही की बेगमें और शहजादियाँ इस कौशल में विशेष

रूप में दखा गी । उनके पास शृंगार सामग्रियों पर व्यय करने के लिए पर्याप्त धन एवं समय था, फलस्वरूप नवीन केश-विन्यास नये अंगराग एवं नूतन प्रसाधनों की वृद्धि होती रही । स्वयं नूरजहाँ ने गुलाब के इत्र का आविष्कार किया था । शाही बेगमों एवं शहजादियों से बनाव शृंगार की सीधी प्रेरणा रीतिकाव्य की नायिकाओं को मिलती रही होगी । मुग़लों के कुलीन वर्ग की स्त्रियों के अनेक चित्र मिलते है जिनमें वे स्नान के लिए प्रस्तुत, स्नान करती हुई, बालों को सुखाती अथवा हाथों में मेंहदी लगाती चित्रित हैं[1]। यद्यपि यह संभव प्रतीत नहीं होता कि हरम की स्त्रियों के ऐसे चित्र बनाने की अनुमति कलाकारों को रही हो, तथापि कल्पना के आधार पर इन चित्रों में जीवन की आत्मा अंकित हो सकी है । इन चित्रों के समानान्तर प्रवृत्ति रीति काव्य में स्पष्ट दिखाई देती है ।

६१- रीतिकालीन काव्य में सौन्दर्य प्रसाधनों के विभिन्न उपकरणों के संदर्भ प्राप्त होते है । "सोलह सिंगार" की धारणा मध्ययुग में ही आरम्भ हुई । इसमें सम्मिलित होने वाले शृंगार-प्रसाधनों की संख्या समय-समय पर बदलती रही और इसमें नवीन शृंगारिक तत्वों का भी समावेश होता रहा । पैरों में सौन्दर्य लाने के लिए पाँव रंगे जाने का उल्लेख प्राचीन काल से ही मिलता रहा है । इसके लिए प्रायः आलक्त, अलक्तक अथवा महावर का प्रयोग होता था । अलोच्यकाल तक आते-आते मेंहदी शृंगार का आवश्यक उपकरण बन गयी । इसका उल्लेख बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मिलता है । सम्भवतः यह विदेशी पौधा मुसलमानों के साथ भारत आया और धीरे धीरे शृंगार का प्रमुख उपकरण बन गया[2]। रीतिकाव्य में "सोलह शृंगार" के अन्तर्गत गिने जाने वाले प्रायः सभी शृंगार प्रसाधनों

---

१- कुमारी चौधुरी के शोध प्रबन्ध से उद्धृत ।

२- डा० बच्चनसिंह- रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, पृ० १०९ ।

का वर्णन उपलब्ध होता है। केशवदास ने कविप्रिया में "सोलह सिंगारन"[1] का उल्लेख किया है। इसकी टीका करते हुए सरदार कवि ने उबटन, स्नान, वस्त्रपट, बावक, वेणीगूंथना, मांग में सिन्दूर भरना, ललाट में खौर लगाना, कपोलों में तिल बनाना, अंग में केशर मलना, मेहदी, पुष्पाभूषण, स्वर्णाभूषण, मुख-सुवासित करना (लवंगादि भक्षण) एवं मंजन ताम्बूल एवं कज्जल की गणना की है[2]। तोष कवि ने भी सोलह सिंगार का उल्लेख करते हुए उसके विभिन्न उपकरणों का वर्णन किया है[3]।

मज्जन एवं लेपः

५३- शरीर की बाह्य सज्जा करने के पूर्व यह आवश्यक है कि शरीर को भली भांति स्वच्छ कर लिया जाय अतः मज्जन-स्नान की रीति काव्य में शृंगार का प्रथम उपकरण माना गया है। केशव ने स्पष्ट ही कहा है "प्रथम सकल सुचि मज्जन"[4]। तत्पश्चात् शृंगार के अन्य उपकरणों का प्रयोग होता है। स्नान के लिए रीतिकालीन रईसों के यहां स्फटिक के सरोवर बने होते थे। सुन्दर सरोवरों में चन्द्रवदनी रमणियां जलक्रीड़ा किया करती थीं। नहाने के जल में गुलाब जल, केवड़ा आदि सुगंधित द्रव्यों

---

१- के०क०प्रिया, पृ० ४०।

२- सरदार कवि- कविप्रिया की टीका, पृ० ४१।

३- करि मंजन पट पहिरि जावकादिक पट भूषन।
बेंदिय बंधि बेनी ललाट बनु बिधु पूरन।
सिर मंजन द्युति बीर बिरी मुख नासा केसर।
पग कज्जल गल मुकुतमाल कुच कुंकुम केसरि।
साजि बाजुन अनवट बंदकर कंकनादिक कटि रसन कसि।
कहि तोष सुमति पतिव्रत सहित यह सिंगार ओड़ल लसा।
तो०सु०नि०पृ० १०२।

४- के०क०प्रि०पृ० ४०।

को मिलाने का उल्लेख भी मिलता है। नदी में भी स्नान किया जाता था। सोमनाथ की नायिका अपनी सखी सहेलियों के साथ केलि लगा कर नदी में तैरने जाती है[1]। स्नान के समय शरीर के सभी अंगों को मलमल कर स्वच्छ किया जाता था। विशेष रूप से पैरों की स्वच्छता एवं सुन्दरता के लिए उन्हें कर्वा, से रगड़ा जाता था जिससे महावर और भी सुन्दर एवं स्पष्ट दिखाई दे सके। केशवदास ने पाँव कर्वा से रगड़ने के बाद महावर लगाने का उल्लेख किया है[2]। स्नानों के उपरान्त विभिन्न सुगंधित आलेपों को शरीर पर लगाया जाता था जो त्वचा की कांति एवं वर्ण में निखार लाते थे। केशव की नायिका प्रातः उठ कर, आलस त्याग कर, दर्पण में मुख देखती हुई मनुहार भिक्षा कर लेप करती है। फिर अंगीठे को गुलाब जल से युक्त कर अच्छी तरह शरीर को पोंछ कर भेद एवं अबा आदि का सेवन करती है[3]। इनकी राधा शृंगार के सामान्य नियमों के अनुसार पहले अच्छी तरह सारे शरीर का मन्थन करती है फिर सुगंधित द्रव्य, अमलवास, आवक आदि का प्रयोग करती है। उसके अनन्तर वह केशों को संवारती है, शरीर को अंगराग से

---

१- केसरि लाइ संवारि के गाढ़ निहारि के नेह नदी तरिबो करै।
सोमनाथ-सा०पु०पु० २७४।

मुंह धोवति, एड़ी घसति, छुवति, अनगवति नीर।
घसति न इंदीवर नयनि कालिंदी के नीर॥ वि०र०दो०६९७।

मुंह पखारि, गुड़हल घिसै घिसै, सीस सबल कर छुवाई।
मीस उबै घूटने तै नारि सरोवर न्हाइ॥ वि०र०दो०६६६।

२- दोनों में पांव कंवाइ महावर
बांकी में बांधन बांध सुहाई। —के०र०पि०पु० १७५।

३- पहिले तबि बारस बारती देख
धरीक बसै धनसारहि लै।
पुनि पोंछि गुलाब तिलोछि अंगौछनि....
कहि केसव भेद अबादिकौ भाँखि डसै पर बाखिन बांधन दै।
—के०क०पि०पु० ६४।

क्षेपित कर विविध भूषण धारण करती है, मुख को सुवासित करके नेत्रों में काजल डालकर नेत्रों को सुन्दर बनाती है इस प्रकार के सोलह शृंगारों से युक्त होकर चतुरता से हँसती बोलती चलती, हुई पतिव्रत का पालन करती हुई विलास करती है[1]। केशव एवं बिहारी की नायिकाओं की ही भाँति प्रेम की नायिका भी घनसार एवं केसर, चंदन घिस कर अपने अंगों को संवारती है। वह अपनी कंचुकी में चोवा चुपड़ना भी नहीं भूलती। इन सुगंधित वस्तुओं के कारण उसके आस-पास सुगंध फैली रहती है और जब कभी वह अभिसार के लिए जाते समय घिस कर खिलाड़े बोलती है तो प्रतीत होता है कि अगर और चन्दन के खाने ही खुल गये हों[2]। मतिराम की नायिका जहाँ भी बैठती है, उसके अंगों से सुगन्ध की झकोर फैल जाती है। केसर के इत्र और पुष्पेत्र के सेवन से वह मेला की तरह लहलहाती रहती है। वह कमल उसीर, इंदु चंदन, गुलाबनीर आदि अनेक सुगंधिप्रदायक पदार्थों का प्रयोग करती है,

---

प्रथम सकल सुचि मज्जन अमलवास

बावक सुदेश केश पासनि सुधारिबो।
अंगराग भूषण विविध मुखवास राग
कज्जल ललित लोल लोचन निहारिबो॥
बोलनि हँसनि मृदु चातुरी चलनि चारु
पल पल प्रति पतिव्रत प्रतिपारिबो।
केसौ दास सविलास करहु कुँवरि राधे।
इहिं विधि औरहू सिंगारन सिंगारिबो॥ के०क०प्रि०पृ० ४०।

२- पौर भनी घनसार सौ केसरि, चंदन गारि के अंग सम्हारै। के०भा०वि०पृ०१२८

कंचुकि में चुपरयौ करि चोवा। के०रो०पृ०९६।

छिप के छबीली अभिसार को सिंगार सोहै,
खुलिगो खजाने चारु चंदन अगर के।
के०क०पृ० १५१।

कहां तक गिनाया जाय[1]। कभी वह अंगों में मृगमद और अंग राग लगाती है और कभी-कभी अंगों पर चंदन का लेप करके जब वह श्वेत सारी पहन लेती है तो अत्यन्त आभायुक्त लगती है[2]।

६४- अभिसार की सफलता के लिए वह समयानुकूल वस्त्रों के साथ उसी प्रकार का लेप भी करती है। कृष्णपक्ष में अभिसार के समय वह श्याम रंग की साड़ी के साथ मृगमद का अंगराग लगाती है जो श्याम वर्ण होता है और शुक्ल पक्ष में अभिसार के समय वह समुद्र के फेन सी उज्ज्वल साड़ी के साथ श्वेत चंदन एवं कपूर का उपयोग करती है अतः चांदनी में उसकी आभा मिल जाती है। मकरन्दादि की नायिका आवक एवं कुंकुम का प्रयोग करती है अपने मेचक वर्ण शरीर पर मृगमद लगाती है और अंगिया को चोवा से रंगती है। उसके लिए गंधी अनेक सुगंधियों को लाता है और माली पुष्पमाल, जिनसे वह शृंगार करती है[3]। प्रतापसाहि की नायिका भलीभांति सुवासित स्वच्छ वस्त्र से

---

१- कवि मतिराम  तहां छवि सौं छबीली बैठी,
अंगन तें फैलत सुगंध के झकोर है ।।
बेला की फूलेल फूली बेला सी लखही ।।
अमल उसीर, इंदु चंदन, गुलाब-नीर,
कहां लगि और उपचारन गिनाइये ।। म०ग्रं०पृ० १०५, १०८, ११८।

२- अंगनि में कीनो मृगमद-अंगराग जैसो
आनन अरोड़ाय लीनों श्याम रंग सारी में ।
अंगनि में चंदन चढ़ाय कपूर सेत
सारी छीर-फेन की-सी आभा झलकति है । म०ग्रं०पृ० ११३ ।

३- मेचक रंग के अंग को रंगु
कुरंग मदहू होय उन्यारी
चोवा के रंग रंगी अंगिया
पहिरी तन नील अनूपम सारी ।।—अकबर शृं०सं०पृ० १००।
गंधी ले आवै सुगंध अंग में लगावै
माली के पुहुप भाव पहिरि कछ फूल ।।—अकबर, शृं०पृ० ५९ ।

स्नान किये हैं जिससे तन अधिक सुन्दर लगता है। फिर वह केसर, कपूर, कस्तूरी और इत्र लेकर अंगों में अंगराग लगाती है[1]। कभी- कभी वह कपूर के चूर्ण को चंदन के साथ मिलाकर घिसकर भी अपने अंगों में अंगराग लगाती है। नायिका ने खोवा, चंदन, अरगजा तथा केसर अंगराग बनाने के लिए मंगाया है[2]।

केश-विन्यास:

५५- स्त्रियों के शृंगार में केश-विन्यास का विशेष महत्व था। इस समय केशविन्यास की विभिन्न प्रणालियां प्रचलित थीं। काले घने चिकने एवं लम्बे सुन्दर केशों की वेणी बांधी जाती थी। जूड़ा बांधने की प्रक्रिया बड़ी मनमोहक और सुभावनी है[3]। केशों के सौन्दर्य में वृद्धि के लिए सुवासित तेलों का प्रयोग किया जाता था। बालों को प्राचीन रीति के अनुसार अगरू धूप से धूपायित करने का उल्लेख भी मिलता है "बारनि धूप अंगारन धूपि के, धूप अंध्यारी पधारी महा है" परन्तु इसका और उल्लेख नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि यह तत्कालीन प्रसाधन प्रक्रिया नहीं थी और कवि परम्परा

---

१- ह्वै करि सुवास वारि विमल सुवासित कै
मंजन कियो है तन अधिक उमाहे है।
केसर कपूर कस्तूरी मैं अतर ह्वै कै,
अंगराग, अंगन लगायौं चित चाहे है। --प्रतापसाहि-री०ग्रं०पृ०२२१।

२- चन्दन चूर, कपूर मिले, घिसि कै अंगराग न अंग लगावै।
† † †
चहचहे खोवा चारु चंदन अरगजा की',
अंगराग हेत कल केसर मंगाई तैं। प्रतापसाहि-री०ग्रं०पृ० २२०, २२२।

३- बेंदी भाल तमोल मुख बार सिलसिले बार।
† † †
कर समेट, कच भुज उलटि, खएँ सीस-पटु टारि।
काको मनु बांधि न यह जूरा - बांधनि हारि॥
वि०र०दो० ६७९, ६८७।

निर्वाह के हेतु उसका उल्लेख कर रहा है।

५६- केशों को मैल एवं धूप से बचाने तथा उनकी निरन्तर वृद्धि के लिए स्वच्छ सुगंधित जल से धोया जाता है। मुगल कालीन चित्रों में धोकर बाल सुखाती हुई स्त्रियों के कई चित्र उपलब्ध है। रीति काव्य में भी इसका वर्णन मिलता है। बालों को चिकना और चमकदार रखने के लिए सुगंधित तेल डाल कर कंघा किया जाता है। सुन्दरी तिलक में बिसाती की पिटारी का उल्लेख आया है जिसमें कंघी, दर्पण आदि केश सज्जा की सामग्री है[1]। केश की नायिका के बाल संवार कर गुंहे जाते हैं। मतिराम और पद्माकर के नायक कभी कभी स्वयं ही नायिका के बाल संवारने और वेणी गुंहने लगते हैं। बालों की संवारी गई वेणी नागिन की तरह लोटती है[2]। केशों को बूंदा बनाने का प्रचलन भी है। घनानन्द की नायिका स्नान के पश्चात् चौकी पर बैठी बूंदा बांध रही है। बूंदा बांधते समय नायिका की भुजाओं में बाल लिपट रहे हैं[3]। बालों के बीच से मांग निकाल कर पाटियां बनाने का विशेष प्रचलन है[4]।

---

१- हिंद बिसायत की सब चीजे पेटारी सोहाग भरी सबबे है।
कंघी दर्पण प्याली सलाई सु गोली सुई डिबिया हू बिबे है।।
सु०सि०पृ० २७५।

२- मोतिन मांग के बार गुहैं बरू हार गुहै बलि बाल संवार।
के०भा०वि०पृ० १२८।
आपनो हाथ सौं केस महादर आप ही बार संवारत नीके।
म०गृ०पृ० ३०९।
बेनी गुही तौ गुही मनभावते मोतिन मांग संभारि सबेरी।
पद्म०गृ०पृ० १२८।
नागरूप कासे आछी बेनी सोहै बाल की। के०गृ०पृ० ४५८।

३- मंजन करि कंचन चौकी पर बैठी बांधति बूरी। घ०गृ०छं० ८३६।
परी हठीली हरि लखरि बूरी बांधति बाय। बि०गृ०पृ० २९।

४- सु०ति०पृ० २९३, के०गृ०पृ० ४५७।

सिन्दूरः

५७- भारतीय परम्परा में सुहाग चिन्ह के रूप में सिंदूर का स्थान सदैव महत्वपूर्ण रहा है। रीतिकाव्य में भी सिंदूर के प्रचुर उल्लेख प्राप्त होते हैं। घनानन्द की नायिका की मांग सिन्दूर से सुशोभित है। पाटियां संवार कर उसके बीच में सिन्दूर अथवा ईंगुर की रेखा सजाई जाती है। सुन्दरदास ने केश गूंथ कर मांग में अच्छी तरह सिन्दूर भरने का उल्लेख किया है[1]। सूफी कवियों ने विवाह के प्रसंग में सुहाग-चिन्हों की चर्चा की है जिसमें सिन्दूर का नाम भी है[2]। हिन्दू स्त्रियों की भांति मुस्लिम स्त्रियां सिन्दूर नहीं लगातीं। भूषण ने आगरे और दिल्ली की यवन-स्त्रियों के मुख को सिन्दूर-रहित कहा है[3]।

बिंदीः

५८- ललाट पर बिंदी या टीका लगाना स्त्रियों का प्रमुख शृंगार है। रीतिकाव्य में विभिन्न प्रकार की बिंदियों के वर्णन प्राप्त होते हैं। बिहारी ने बिंदी को शोभाकारक उपकरण माना है। उनके अनुसार स्त्री के ललाट में बिंदी लगने से उसकी शोभा अगणित बार बढ़ जाती है जबकि मंक में चिन्दु

---

१- लाल बटित बर भाल सुबेंदी कढ़ि रही कवि मांग सिंदूरी।
सु०गृं०पु० ८१६।
बेनी गुही गर मोतिन की भरी ईंगुर मांग सनेहनि भोरी।
पाटिन बिच सिन्दूर की रेख पुरवी लखी यों उपमा अति बाढ़ी
सु०ति०पु० २०७, २१२।
केस गुही मांगै भरी सिन्दूर बनेस। सु०गृं०पु० ८५९।

२- का०ई०व०पु० ९०, १०७।

३- तेरे रीझ देखियत आगरे दिल्ली में,
चिन सिंदूर बुंद मुख बमनीन के।
भू०गृं० पु० ५३।

लगाने पर वह केवल द्विगुण ही बढ़ता है[1]। बिहारी की नायिकाएं अनेक प्रकार की बिंदियां अपनी रुचि के अनुसार लगाती है। पचरंगी बिंदी अग्नि के समान ज्योतित मुख पर अति सुन्दर लगती है। कोई लाल बिन्दी लगाये हैं कोई पीली, सेत अथवा श्याम वर्ण की। अबीर, भौंडर, चन्दन, ऐपन, तथा सन की बिन्दी का उल्लेख भी बिहारी ने किया है[2]। रोरी की बिंदी भी अत्यन्त लोकप्रिय है[3]। मतिराम की नायिका के सलोने मुख मयूर की बिंदी इस प्रकार शोभा दे रही है मानो चंद्रमा में वीरबहूटी बैठी हो[4]। मृगमद की बिंदी का भी उल्लेख है[5]।

---

१- कहत सबै बेंदी दिये आंक दुगुनौ होत।
तिय लिलार बेंदी दिये अगनितु बढ़तु उदोतु॥
बि०र०दो० ३२७।

२- बि०र०दो० ६२६, २७१, ३५५, ६९०, ४४१, १८०, ९३, २४८।

३- बाल के भाल में लाल अनूपम रोरी की बेंदी बिसाल लगी है।
सु०ति० पृ० २९९।

† † †

लसत बाल के भाल में रोरी बिन्द रसाल।
बो०वि०वा०पृ० ६९।

४- बेंदी सहित मयूर की लसति सलोने भाल।
मनो इंदु के अंक में इंदु कामिनी बाल॥
म०गृं०पृ० २९७।

५- प्रतापसाहि- री०गृं० २२२।

अंजनः

६९- नेत्रों के स्वाभाविक सौन्दर्य एवं आकर्षण को तीव्रतर करने के लिए प्रसाधनों का उपयोग किया जाता रहा है। नेत्रों का विशाल, कटाक्षपूर्ण, पानीदार एवं श्याम होना सौन्दर्य का मान-दण्ड था। काजल एवं अंजन के द्वारा नेत्रों में श्यामता, विशालता एवं प्रभावपूर्ण कटाक्ष उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है। नेत्रों के सौन्दर्य-वर्णन के समय प्रायः सभी कवियों ने काजल अथवा अंजन का उल्लेख किया है। किसी ने आंखों में अंजन शोभित बताया है और लोल लोचनों का कज्जल कलित कहा है, किसी की शोभा के सम्मुख अंजनादि कहने को ही शोभा के अंग हैं[1]। कहीं नायक से वियुक्त होने पर नायिका ने सभी प्रसाधनों को तिलांजलि दे दी है यहां तक कि नयन भी अंजन रहित है[2]। अंजन के कारण बाला के नेत्रों की छवि बढ़ गई है मानों उसने कटाक्षपूर्ण नेत्रों में विष भर लिया हो। कोई अपने अंजन से नेत्रों में अंजन भरती है तो कोई अंजन लगाकर भौंहें बनाती है[3]। इनके अतिरिक्त अकबरशाह, तोष, नागरीदास, सुन्दरदास, तथा सूफीकवियों ने भी नेत्रों में काजल एवं अंजन लगाने

---

१- आंखी मै अंजन आंख सुहाई।

के०र०पि०पु० १७५।

कज्जल कलित लोल लोचन निहारिवो।

के०क०पि०पु० ४०।

२- अंजन दियो न तन, अंजन दियो न नैन। म०गृ०पु० २१७।

३- बाल अधिक छवि लाग लिय नैनन अंजन देत।
मैं जान्यो मो हनन को बानगि विष भर लेत।। भि०गृ०पु० ८८।

अंजन लगावो मेरे अंजन से नैन को - दी०गृ०पु० २१।

तेल लगाइ लगाइ के अंजन भौंह बनाइ बनाइ दिठौनहि।

रसखान, पृ० १४।

की चर्चा की है[1]।

तांबूल आदिः

६०- मुख की शोभा एवं सौन्दर्य के लिए होठों का लाल एवं मुख का सुवासित होना आवश्यक समझा जाता है, इसके लिये रीतिकाव्य में पान, बिरी, बीरा, बीड़ा एवं तमोल का उल्लेख आया है। केशव ने सोलह शृंगारों में "मुखरागवास" तथा तोष ने "बिरीमुख" की चर्चा की है[2]। मान कवि ने राजविलास में सरस्वती की स्तुति करते हुए उनके मुख में तंबोल की महक का वर्णन किया है[3]। पान अथवा बीड़ा के उल्लेख विभिन्न प्रकार के संदर्भों में प्राप्त होते है। बिहारी की नायिका कपोलों पर पड़ती लालमणियों की झलक को पान की लीक समझ कर त्यौरियां चढ़ा लेती है और बेचारे नायक को सफाई देनी पड़ती है[4]। प्रिय के वियोग में मतिराम की नायिका पान और तमोल के प्रति उदासीन हो जाती है[5]। संत सुन्दर दास ने जीभ-विहीन के द्वारा बीड़ा खाने का उल्लेख किया है[6]। सूफी कवि कासिमशाह की नायिका

---

१- अ०गृ०सं०पृ०६९, तो०सु०नि०पृ० ५४, ना०समु०पृ० १५३, सु०गृ०पृ०८५९ तथा ८७४, नू०अ०वा०पृ० १४ एवं १७९।

२- के०क०पृ०४०, तो०सु०नि०पृ०१०२।

३- तंबोल मुख महलंत त्रिपुरा वृहमरूप विचारिनी।

मा०रा०वि०

४- तेह तरेरवी त्यौरि करि कत करियत इत लीक।
लीक नहीं यह पीक की द्युति-मनि-झलक कपोल॥

बि०र०दो० ११३।

५- अ०गृ०पृ० २४, ३१८, ३५९।

६- सुं०गृ० पृ० ८७४।

वधू-वेश में सुसज्जित है उसका मुख तमोल रंजित है[1]।

चूड़ी:

६१- रीति काल में चूड़ी पहनने का भी प्रचलन था यद्यपि श्रृंगारियों में पहने जाने वाले अन्य अनेकों गहनों के बीच इसका उल्लेख काव्य में कम ही आया है। भिखारी दास ने लाल और हरी चूड़ी की चर्चा की है। दूती नायिका से लाल चूड़ी उतार कर हरी चूड़ी पहना देने का आग्रह करने के मिस वाक्चातुर्य से अपना काम संपन्न करती है[2]। काव्य में कई स्थान चुरिहारिनों के उल्लेख आये हैं, दूतियों में चुरिहारिन दूती भी है, इससे चूड़ी पहनाने का पेशा व्यापक था, इस बात का स्पष्ट ज्ञान होता है। चूड़ी सुहागचिन्ह स्वरूप थी। स्त्रियां बधशाह को आशिर्वाद देती हैं क्योंकि उसने इनके पतियों की प्राण रक्षा करके उनकी चादर और चूड़ी बचा ली है[3]।

पुष्पसज्जा:

६२- शृंगार-प्रसाधनों के अन्तर्गत फूल और गजरों का भी परिगणन किया गया है। विभिन्न प्रकार के फूलों का उपयोग स्त्री और पुरुष समान रूप से करते हैं। स्त्रियां अपनी वेणी भी फूलों से सजाती हैं।

---

१- का० कं० ज० पु० ९०, १७९।

२- लाल चुरी तेरे बली लागी निपट मलीन।
हरियारी कर देउंगी हौं तो तुरत मधीन।।
भि०गं०पृ० २।४७।

३- घर-घर तुरकिनि हिंदुनी देति असीस सराहि।
पतिन राखि चादर चुरी तै राखी बधसाहि।।
वि०र०पृ० ७१२।

बिहारी के काव्य में गेंदा, चंपा, कदंब, गुलाब, मौलसरी तथा कोकनद आदि पुष्पों के नाम आए हैं[1]। बंदकला की दासियों के वर्णन में उन्हें "फूल फिरै फूल सी दुकूल पहिने फूलन की माला रे" कहा गया है। दूलह कवि की नायिका मुख कमल-पुष्प की भाँति सुन्दर है। उसने फूलों से निर्मित आभूषणों से अपने को संवार रखा है, फूलों की सुगंधि के कारण उसकी शोभा का प्रसार सौगुण अधिक हो गया है[2]।

मेंहदी:

६३- मध्ययुग के काव्य में, विशेषकर रीतिकालीन काव्य में, हथेलियों एवं पांवों की सज्जा के लिए मेंहदी का उल्लेख मिलता है। मेंहदी को पीस कर उसका लेप हथेलियों और पैरों में सुन्दरता से किया जाता है, कुछ देर ठहर कर सूखने पर उसका रंग निखर आता है। बिहारी की नायिका नायक से कुछ देर शान्त बैठने की प्रार्थना करती है क्योंकि गीली होने के कारण मेंहदी उसके नाखूनों से छूटी जाती है[3]। मतिराम की नायिका के कमलकरों में अत्यन्त कलात्मक रीति से मेंहदी लगी है, ऐसा लगता है मानों लाल-पल्लवों पर ओर बिन्दु पड़ कर मिट गये हों। इनकी नायिका के हाथ और पैर दोनों में मेंहदी लगी है[4]। घनानन्द की नायिका के हाथ में मेंहदी

---

१- बि०र०दो०२०४, ४७७, ५१३, ५४४, ४२१, १३३, १९० ।

२- फूलन के भूषन सरोजमुखी साजि बैठी,
फूलन सुबास सोभा सौगुनी पसारी है ।। दू०क०कु०प०पृ०६३ ।

३- नैक उतै उठि बैठिये, कहा रहे गहि गेहु ।
छुटी जाति नह-दी छिनकु महदी सूकन देहु ।। बि०र०दो०५००, ४४८ ।

४- लसत कोकनद करनि में यौं मिंहदी के दाग ।
ओस बिंदु परि के मिट्यौ मनो पल्लवनि राग ।।
म०मं०पृ० ५००, २८९ ।

रची है, पावों में रची मेंहदी देख कर सौतों के हृदय पर तलवार सी लगती है[1]। ठाकुर की नायिका लाल मेंहदी लगाकर "लाल" को वश मे कर लेती है[2]। कालिदास त्रिवेदी की क्रियाविदग्धा बड़ी चातुरी से प्रिय का स्पर्श प्राप्त करना चाहती है। वह नंदलाल से अपनी लट सुलझा देने की प्रार्थना करती है क्यों हाथों में मेंहदी लगी होने के कारण वह स्वयं ऐसा करने में असमर्थ है[3]। कालिदास ने कमल के फूल के समान हाथो मे मेंहदी लगी होना बताया है[4]।

महावर:

६४- रीतिकालीन काव्य में पावों के नख और एड़ियों को रंगने के लिए आवक, अलक्तक तथा महावर आदि का उल्लेख मिलता है। केशव तथा बिहारी की नायिकाएं एड़ियों को झंवा से साफ करके महावर लगवती है[5]। पैरों में सुन्दर रीति से महावर लगाने के लिए नाइने आती है[6]।

---

१- पायनि तेरे रची मेंहदी लखि सौतनि के तरवारि सी लागति।
च०गं०पृ० १४६।

२- मेंहदी सपेटे लाल लाल बस कीने निब।
ठाकुर-री०ग्रं०पृ० १९७।

३- मेरे कर मेंहदी लगी है नंदलाल प्यारे,
लट उरझी है नकबेसरि संभारि दै। कालिदास-क०कौ०पृ० ३७६।

४- कंवल फूल तस दीनों हाथा, अरी मेंहदी राती रंगराता।
का०हं०ब०पृ० ५४।

५- के०र०प्रि०पृ० १७५, बि०र०दी० ४८२।

६- पांइ महावरु दैन कौ नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरु एड़ी मीड़ति जाइ॥
बि०र०दी०२५, ४४।

कभी-कभी प्रेमवश नायक स्वयं ही अपने हाथों से नायिका के पैरों में महावर लगाने लगता है। ऐसे प्रेमी नायक के प्रवासकाल में नायिका आवक लगाना त्याग देती है[1]। नागरीदास के कृष्ण राधा के पगपंकजों की शोभा एकटक निहारते रह जाते हैं और पांव में महावर लगाना भूल कर उसे हाथ में ही लिए रह जाते हैं[2]। अकबरशाह एवं गुणमंजरीदास ने भी आवक की चर्चा की है[3]।

गोदना:

६५- गोदने के प्रसंग साहित्य में कम प्राप्त होते हैं। सुंदरीतिलक में आये हुए गोदने के प्रसंग से ज्ञात होता है कि गोदनहारियां इस कार्य को संपन्न करती हैं। गोदने अनेक रंग के बनते थे, इन्हें भुजाओं, कपोलों आदि पर विभिन्न रूप एवं आकारों में चित्रित किया जाता है, नाम भी लिखाये जाते हैं। नायिका गोदने वाली से आग्रह करती है कि मेरे बाहों में गजराज" कपोलों में "कुंजविहारी" तथा अंगों में "सांवरे" रूप गोद दें[4]। प्रातः काल ही नंदगांव से आई गोदने वाली बताती है कि वह मनचाहा गोदने बना सकती है और उसमें मनचाहा रंग भी भर सकती है। गोरी-

---

१- आवक दियो न जाइ रही मनु मारि के ।।
म०गृ०पु० ११७ ।

२- राधा पदपंकज निरखि, इक टक लाल लुभाय ।
लिए महावर हाथ में, रंग धरो नहिं जाय ।। ना०स०पु० १५३ ।

३- अ०गृ०मं०पु० ६९, गु०पु०भा०सा०पु० २५६ ।

४- दै लिखि बांहन में गजराज सु गोल कपोलनि कुंज बिहारी ।
+ + +
सांवरें को अंग गोद दे गोदन ए गोदनहार की गोदनहारी ।।
पद्०सु०ति०पु० १२३ ।

गोरी भुजाओं पर श्याम वर्ण का गोदना अत्यन्त सुन्दर लगेगा[1]।

पुरुषों के सौन्दर्य प्रसाधनः

रीतिकाव्य के नायक भी अपने रूप और सौन्दर्य वृद्धि के प्रति सजग है। स्नान के पश्चात् शरीर पर अंगराग, चंदन, केसर एवं अनवार आदि सुगंधित वस्तुओं का लेप पुरुषों में भी लोकप्रिय है[2]। भांति-भांति के पुष्पहारों का प्रयोग किया जाता है, उनके वक्ष पर सुशोभित मालाओं से केसर की महक आती रहती है। कभी-कभी हाथों में कमल के गजरे भी लिए रहते है[3]। भाल पर चन्दन, कुंकुम का तिलक तथा केसर की खौर बनाने के अनेकचित्र मिलते है[4]। पुरुषवर्ग में पान का व्यापक प्रचार है सवसंवर कर हर

---

१- आवति हौं नवलाव तें भोरही सोधी चली मैं फिरी बहु कोदना।
सोवै गोदाय कृपा करिके जिय भावै सो दीवै दू सोद विनोद ना।।
आनति हौ मैं अनेकन रंग के को धनि वाहि गोदाय प्रमोद ना।।
पै भुज रावरी गोरी लखे सुभ सुन्दर श्याम अपूरव गोदना।।
जिव० सु०ति०पु० ३२४।

२- अंग राग रंजित रुचिर भूषन भूषित देह। के०कौ०पु०१।४२

३- सोधो बन्धो अतिचार चढ़ावन हार बन्धो उर भावत नीको।
के०र०पि०पु० १७५

भाल तिलक शोभावति भाल में केसर गंध सुहाई।

बलसुत गजरा दोउ कर मांही। बो०वि०वा०पु० ३७, ३८।

४- के०को०च०पु० ३१३, बो०वि०वा० पु० ३८,
वाम० सा० प्र०पु० ३१८।

नायक बिरी, पान अथवा तमोल खाकर होठों को अवश्य रचाता है[1]। टेढ़ी पाग बांधना, मूंछ मरोड़ कर रखना, हाथ में फूल की छड़ी रखना अथवा गेंद आदि उछालते हुए चलना इस युग के सामान्य दृश्य हैं, इसका वर्णन केशव, बान, बोधा, सुन्दरदास आदि ने स्थान स्थान पर किया है[2]।

शिशुओं के सौन्दर्य प्रसाधनः

६६- जहां स्त्री एवं पुरुष अपने शृंगार के प्रति इतने सचेष्ट है वहां शिशुओं के सौन्दर्य का ध्यान भी रक्खा जाता है। इन्हें उबटन लगाने के बाद शरीर का मन्थन करके उन्हें फूलों से भी सजाया जाता है। माता शिशु को तेल लगा कर आंखों में अंजन लगाती है, उसकी भौंहों को संवारने के उपरान्त शृंगार का पूरक एवं रक्षक डिठौना लगाना भी नहीं भूलती है[3]।

---

१- बीरो बन्यो मुख जात मनोहर मौंहि शृंगार लगो सब फीको।
के०र०पि०पृ० १७५।

२- बान कवि दुपटा दुदामी को गुलाबी फेंटा
केसरि तिलक द्युति कुंडल लसत है।
वाके नवरंगी लाल संगी गोप ग्वालन के
हाथ में नारंगी को उछालत चलत है। बान ०सा०पृ०पृ० ३१८।

मूंछ मरोरे पान संवारे, दर्पन लै कर बदन निहारे।

टेढ़ी पाग बांधि बार बार ही मरोरै मूंछ। सु०गृ०पृ० ३२४, ४२२।

सूही सबी सिर पै पगरी लिए फूल छरी इत बौचक आइगो।
सु०ति०पृ० १५६।

२- तेल लगाइ लगाइ के अंजन
भौंह बनाइ बनाइ डिठौनहिं।
रसखान, र०क०पृ० १४।

शिशु को सजासंवार कर माता उसके सौन्दर्य को देख कर पुलकित होती है।

६७- रीतिकालीन भारत, या हिन्दी कविता की क्रीड़ा - भूमि मध्यदेश, व्यापक रूप से शृंगार एवं अलंकरण का काल था; यह कहकर संभवतः अत्युक्ति की जाती है। किन्तु यह अवश्य है कि रीतिकाव्य जिस वातावरण में लिखा जा रहा था वह शृंगार और अलंकरण प्रधान था। शृंगार और अलंकरण सहगामी है। एक दूसरे में चोली-दामन का संबंध है। दोनों के मूल में मनोवृत्ति एक ही है। रीतिकाव्य का अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि उसका प्रेरक वातावरण अवश्य अलंकरण और विलास प्रधान था। सौंदर्यबोध तो प्रायः सभी कवियों और काव्यों में पाया जाता है, क्योंकि वह साहित्य का प्राण है, किन्तु रीतिकालीन कविता में सुंदर रमणीय की ओर उन्मुख है और रमणीयता में विलासोन्मुख शृंगार के दर्शन होते हैं। इसलिए रीतिकालीन कविता में शृंगारप्रसाधनों के लम्बे चौड़े वर्णन और परिगणन दिखना अस्वाभाविक नहीं है।

## आभूषण

### मानव-स्वभाव में अलंकरण की मनोवृत्तिः

६८- छायावाद का प्रकृति प्रेमी कवि भी, जो "सरल-तरंगों को तजकर", "बाले के बाल-जाल में अपने लोचन न उलझावे" की कामना करता है -- एक दिन "सुन्दर" हैं विश्व सुमन सुन्दर, मानव तुम सबसे सुंदरतम !" की धारणा पर पहुँचता है। कारण स्पष्ट है। प्रकृति प्रकृत्या सुंदर है, मानव भी निसर्गतः सुन्दर है, किन्तु उससे आगे, मानव स्वभाव में प्रकृत को परिष्कृत और संस्कृत करने की सहज मनोवृत्ति है। उसका सौंदर्य बोध प्रकृत को परिष्कृत और संस्कृत करने, अलंकृत करने की, प्रेरणा देता है। आरंभ में स्त्री और पुरुष दोनों में अलंकरण की समान प्रवृत्ति देखने को मिलती है। श्रीमती शकीला शबभूषण का तो विचार है कि अत्यविकसित या

अविकसित समाज में पुरुषों में सौंदर्य और अलंकरण दोनों अधिक हैं। पशुवर्ग में भी उनके विचार से, नर मादा से कहीं अधिक सुन्दर है। भारतीय मनीषा की, सौंदर्य के देवता के रूप में कामदेव की कल्पना के मूल में भी कदाचित् ऐसा ही कोई कारण हो।

## आलोच्यकाल में अलंकरण की प्रवृत्ति:

६९- आलोच्यकाल के लिए कुछ विद्वानों ने "अलंकार-काल" का अभिधेय प्रस्तावित किया है। जीवन, और उसके फलस्वरूप काव्य में अलंकरण की प्रवृत्ति इस काल का एक ऐसा वैशिष्ट्य है जिसके कारण विभिन्न दृष्टियों से विचार करने वाले सभी विद्वान किसी न किसी रूप में रीति, अलंकार, शृंगार आदि विभिन्न संज्ञाओं के माध्यम से उसी मूल बात तक पहुंचते हैं। केशव ने इस प्रवृत्ति की मीमांसा स्पष्ट और निश्चितार्थक शब्दों में की है। उनके अनुसार सुवास, सुलक्षणी, सुवर्ण, रसवती और सुंदर वृत्तों वाली होते हुए भी कविता और वनिता आभरणों के अभाव में शोभा को नहीं प्राप्त करती[1]। तरुणी होते हुए भी स्त्री बिना आभूषणों के प्रियतम का हृदय हरने में समर्थ नहीं होती[2]। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि रीतिकाल की प्रायः सभी नायिकाएं शिख से नख तक आभूषणों से लदी हुई हैं और रीतिकाल की कविता भी अधिकांश अलंकृत कविता है। केशव की नायिकाएं मणियों से इस प्रकार लदी हुई हैं कि कटकों के कारण उनके वस्त्र फट जाने और वायु के झकोरों से उड़ जाने पर भी उनके अंग नहीं दिखायी पड़ते[3]।

---

१- यदपि सुवास सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु बिराजई, कविता वनिता मित्त ।।के०क०पि०पृ०२४।

२- कु०म०र०र०पृ०१०३।

३- कटाटक कटक करी फरीवास।उड़ि-उड़ि जात वसन अरु गात।।
तरुन न तिनके तन तकि परै। मनिगन अंग-अंग कल धरै।।
के०की०के०क०पृ० २७९।

बिहारी की नायिका इससे घटकर नहीं । उसकी दीपशिखा सी देह में अंग-अंग पर नगों की जगमगाहट के कारण दिया बुझाने पर भी भवन में उजाला बना रहता है[1]। देव की दृष्टि उनकी उपयोगितावादी तो नहीं, उन्हें भवन को भासोक्ति करने के लिए दीपक की अपेक्षा रखनी होगी, किन्तु कंचन की किनारीदारी साड़ी और उस पर मोतियों की झकझरी झालर, सीसफूल, बेंदी, बेसर और हीरों की भीड़ में उनकी भी नायिका का सौन्दर्य निखर उठता है[2]।

७- अलंकरण के लिए अलंकार्य की जीवन सत्ता अनिवार्य है । प्राणवान को ही आभूषण पहनाये जा सकते हैं, आत्मवान में ही सौंदर्य की सत्ता की कल्पना संभव है । रीतियुग में आभूषणों का अध्ययन करते समय हमें इस प्रश्न को निरंतर अपने मस्तिष्क में रखना होगा- कहीं अलंकार ही तो साध्य नहीं बन बैठा? जीवन की निसर्ग कर्मपरायणता अरोचित विलासवृत्ति से अतिकृषित तो नहीं हो गयी ? फिर अलंकरण के साथ जीवन का प्रकृत रस भी उतना ही प्रचुर और उर्वर रहा है या नहीं ? सौन्दर्य बोध मानव-मात्र में पाया जाता है - सम्पन्न, विपन्न सभी में । हमारे कवि की दृष्टि किसी विशेष वर्ग में ही रमकर तो नहीं रह गयी ? किसी विशेष वर्ग को असंतुलित उत्कर्ष तो नहीं प्राप्त हो गया ?

भासोज्य काल का काव्य आभरणों एवं अलंकारों के उल्लेख से भरा पड़ा है । सूदन ने सुजान चरित में गहनों की विस्तृत सूची प्रस्तुत की है जिसमें चोटी, चुटिला, सीसफूल, बेना, बेंदी, बेसर, नथ, बुलाक, झुलमुली, तरन, झुमका, कर्णफूल, चुटिला, खुभी, लौंग, सींक, गुलीबंद, पंचमनिया, चौसर, तिसरी, पंचसरी, सतौसर, बंपाकली, हुमेल, हीरावर, उरबसी,

---

१- अंग-अंग - नग जगमगति दीप सिखा सी देह ।
दिया बढ़ाए हूं रहै बढ़ो उज्यारो गेह ।।
बि०र०दो० ६९ ।

२- दे०क०पृ० १५४ ।

मुक्तामाल, रत्नजाल, रसना, क्षुद्रघंटिका, कुमरी, बाजूबंद, छल्ला, मुंगुरी, चूरा, राड, पछेली, किंकिणी, गूजरी, पहुंची, मनवट, छल्ला, मुंगूठी, आरसी, जंजीर, पायल, पगपान, नूपुर, फूल, मनौट, झांझ आदि के नाम आये हैं[1]। मानकवि ने रायविलास में, शिख से नख तक आभरण-भूषित नायिका का चित्र प्रस्तुत किया है। सरस्वती की मनवट एवं बिछुए धारण किये है जिनकी रुनझुन मनोहारी है। झांझ झमक रही है, पग के पायल की रुनझुन कर्णकुहरों को मधुपूरित कर रही है। क्षुद्रावलि एवं किंकिणी शोभित है। कटि मेखला स्वर्ण मण्डित है, विशाल भुजमूलों में सोने के कंकण है, बाजूबंद एवं पहुंची छवि पा रहे है। ग्रीवा में गजरा है उंगली में मुक्तिका मंडित है। कंठ एवं उदर पर मुक्ता की मनोहर माला है। सोने की चौकी पर विराज रही हैं उर पर मणि जटित चंपाकली है। दमकती हुई छंतली, चीत की तिखरी एवं कंठी गले की शोभा बढ़ा रही हैं। सोने की नथ के बीच लाल मोती अत्यन्त आकर्षक है[2]।

स्त्रियों के आभूषण:

०१- स्त्रियों के आभूषणों में शिख से नख की ओर चला जाय तो सर्व-प्रथम सिर पर धारण किये जाने वाले गहनों की ओर दृष्टि जाती है। इनमें सबसे पहले टीके का उल्लेख प्राप्त होता है। यह एक प्रकार का "बड़ाऊ" गोल आभूषण है जिसे स्त्रियाँ ललाट पर धारण करती है। बिहारी की नायिका के ललाट पर बड़ाऊ का टीका इस प्रकार सुशोभित हो रहा है मानों चन्द्र मण्डल में आकर सूर्य उसकी छवि बढ़ा रहा है[3]। छंजवा हिर में

---

१- सु०सु०च०पु० १७५।

२- मान० रा०वि०पु० १-१।

३- नीकी ललतु लिलार पर टीकौ बरितु बराइ।
छविहिं बढ़ावतु मनौ रवि ससि मण्डल मैं आइ॥
बि०र०दो० १०६।

अनेक स्थलों पर टीके का उल्लेख आया है[1]। बेंदा भी स्त्रियों के ललाट की शोभा बढ़ाता है। नायिका के सिर का शीशफूल और बेंदा केशवदास को ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों सौभाग्य एवं सुहाग उसके सिर पर वास कर रहे हों[2]। घनानन्द ने भी बेंदी का उल्लेख किया है[3]। सुंदरी तिलक में बड़ाक बेंदी के ललाट से छूट कर गिर जाने की चर्चा है[4]। स्त्रियाँ अपनी माँग सजाने के लिए मोतियों का प्रयोग करती है[5]। शिखनख वर्णन करते हुए केशव ने माठ नग के वेणीफूल का उल्लेख किया है[6]। इसके अतिरिक्त शीशफूल धारण करने का वर्णन भी अनेक स्थलों पर आया है[7]।

कान के गहने:

७२- कान के गहनों का उल्लेख अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। कर्णाभरणों में तरकौना (जिसको कर्ण तथा ताटंक और तरकी भी कहते है) का व्यवहार संभवतः अधिक होता था। बिहारीलाल कहते है कि नाक तक तरकौना निरन्तर द्युति का सेवन करता हुआ अधोवर्ती अर्थात् अमुख्य स्थान

---

१- कवलिम - के० च०पृ० ९०, १७९, २२८।

२- सीस फूल अरु बेंदा सहै। भाग सोहाग मनौ सिर वहै॥
के०की० २।१६४।

३- घनानंद- घ०ग्रं० पृ० ७२।

४- सुंदरी तिलक, पृ० १५।

५- कुंदन के मांग मांग मोतिन संवारी सारी। म०ग्रं०पृ० ४१९।

मोतिन मांग के वार गुहै,
अरु हार गुहै बात बात संवारै॥
के०भा०वि०पृ० १२८, भा०के०पृ०६।

६- के०की०२।१६४।

७- के०की० २।१६३-१६५, बी०वि०वा०पृ०१४,भा०के०पृ० ३१।

पर स्थित रहा जबकि मुक्ताओं के संग रहने के कारण केशरि को नाक (स्वर्ग) का वास प्राप्त हुआ[1]। नारी रूप पर ऊपर से नीचे की ओर दृष्टि डालने पर कान दृष्टि की माला में एक विराम बिन्दु का कार्य करता है। इसलिए रीतिकवि की रमणीयता प्रिय और मधुर रस प्रिय रचना कान के गहनों से संबंधित प्रेषण और वर्णन में अधिक रुचि लेती रही है। रीमानी कवि प्रसाद ने लच्छा के अवतरण में कानों की लालिमा को विशेष अभिव्यक्ति का माध्यम माना है। बिहारी की नायिका श्वेत साड़ी पहने है और उसके कानों में तरयौना है जिसका तरल सौन्दर्य साड़ी की सित-आभा में और भी बढ़ जाता है[2]। मतिराम, देव, सोमनाथ और आलम ने भी तरयौना का उल्लेख किया है[3]। काशिम और भूषण ने कर्णफूल का भी उल्लेख किया है[4]। कर्णभूषणों में खुटिला का भी वर्णन आया है[5]। कुंडल भी रीतिकालीन कवियों को प्रिय रहे है और वे यथावसर अपनी नायिकाओं को कुंडल पहना कर प्रस्तुत करते रहे है। सेनापति कुंडलों को "काम के सुभट" कहकर वर्णित किया है[6]। मुराला नामक एक कर्णभूषण

---

१- सजौ तरयौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इकरंग।
नाकबास केसरि लह्यौ बास मुकुत के संग॥
वि०र०दो० २०।

२- लखत सेत सारी छप्यौ तरल तरयौना कान।
वि०र०दो० १०६।

३- म०ग्रं०पृ० ४१९। दे०द०पृ० ११७। सोमनाथ सा०पृ०पृ० २७७। आलम केलि० पृ० १२।

४- का०कौ०व०पृ० ९० एवं १७९। भू०ग्रं०पृ० २५१।

५- के०वी०च०पृ० २७९। आलम के लि पृ० २४। उ०चि०पृ० ७४। कु०म०र०ए० पृ० २५१।

६- करन छुवत बीच ह्वै के बात कुण्डल के
रंग मे करैं कलोल काम के सुभट से।
से०क०र०पृ० ११।

का उल्लेख भी तत्कालीन काव्य में प्राप्त होता है। बिहारी की नायिका की सहेली नायक से मुरासे की शोभा का वर्णन करके नायिका के कपोलों का सौन्दर्य- एवं सुखस्पर्श व्यंजित करती है। उसके कान का मुरासा मणि मुक्तालों की द्युति पाकर विलसित हो रहा है[1]। बिहारी ने खुभी का भी वर्णन किया है। बिहारी सतसई टीका के अनुसार खुभी कान में पहनने का एक आभूषण है जो भाले के फल के आकार का होता है। खुभी पर रीझा हुआ नायक नायिका की किसी सखी या दूती से मिलन की उत्सुकता व्यंजित करते हुए कहता है कि उसके काम देव के भाले की नोक सी खुभी मेरे जी में धंसी हुई नटखाल सी सालती है और किसी प्रकार नहीं निकलती[2]। खुभी का उल्लेख नूरमुहम्मद ने बहुत कुछ इस प्रकार से किया है[3]। कर्णाभरणों में झुलमुली का भी उल्लेख प्राप्त होता है। झुलमुली का वैशिष्ट्य उसकी चमक और उसके हिलने में है। उसके नाम और उसके गुण में बहुत कुछ साम्य है। केशव की नायिकाओं के कानों में झुलमुली की पांति इस प्रकार झलक रही है जैसे पीतध्वजा फहरा रही हो[4]। झीने पट में झुलमुली की आभा इस प्रकार प्रतिबिम्बित हो रही है मानों बिम्बु सुरतरु की सपल्लव डाल

---

१- लसै मुरासा तिय-स्रवन यौं मुकुतनु दुति पाइ।
मानहुं परस कपोल के रहे स्वेद कन छाइ॥ बि०र०दो० ६७१।

२- सालति है नटसाल सी क्यौं हू निकसत नाहिं।
मनमथ-मेवा-भोंक सी खुभी खुभी जिय माहिं॥ बि०र०दो० ६।

३- नैन चढ़े चित बलनी खुभी, बलनी खुभत गई गड़ खुभी।
खुभी खुभत बंसीर गड़ि गई, केसरि गड़त गलकु बन गई॥
नू०मु०ग्र०बा०, पृ० ४८।

४- केशव- की०सिं०दे०ब०पृ० २७६। के० र० नि० पृ० १९९।

शोभायमान हो[1]।

नाक के गहने:

७३- नाक के आभूषणों में बेसरि रीतिकालीन कवियों को प्रायः सार्वभौम रूप से प्रिय रहा है। बिहारी की नायिका के तर्यौना की तुलना में बेसरि की उत्कृष्टता विख्यात ही है[2]। उनकी नायिका के बेसरि के मोती की दीप्ति का प्रतिबिम्ब उसके ओठों पर पड़ने से सौंदर्य अनेकगुण बढ़ जाता है[3]। उससे भी पहले, केशव ने अलंकारों का रथ के रूप में रूपक बाँधते हुए नाक में शोभित नक मोती को नकी बताया है। एक स्थल पर उन्होंने मुक्ताफल युक्त नासिका की ज्योति से जग को मोहित होते देखा है तो दूसरे पर काले बालों की पाटियों के मध्य नक मोती की द्युति ऐसी प्रतीत हो रही है मानो अँधेरे में दीपक रखा हो। नायिका की शुक के चोंच की समान नासिका में मुक्ता सुशोभित हो रहा है[4]। मतिराम की दृष्टि में "नकबेसरि" की "बनक" का मूल्य आँका नहीं जा सकता। वह अवर्णनीय है[5]। उस्मान, आलम, कुमारमणि और नाथ भट्टरी में भी बेसरि

---

१- अंगैसे पट में भुजमुली अलमति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिंधु में लसति सपल्लव डार॥ वि०र०दो० १६।

२- बाजी तर्यौना ही रह्यो द्युति छेवत इकरंग।
नाकबास बेसरि लह्यो बसि मुकुतनु के संग॥ वि०र०दो० २०।

३- बेसरि मोती - दुति- झलक परी ओठ पर आइ।
चूनो होइ न चतुर तिय क्यों पट- पोंछ्यौ जाइ॥ वि०र०दो० १७१।

४- केशव- की०सिं० के०क० पृ० २७९ - ७१।

५- काली बाह बरनि बनक नाक बेसरि की।
म०ग्रं० ४२०।

का उल्लेख किया है[1]। नाक के आभूषणों में नथ या नथुनी की भी तत्कालीन काव्य में चर्चा है। गजमुक्ताओं की नथ पहन लेने के बाद मतिराम की नायिका के सुकुमार शरीर को अन्य आभरणों का भार दुर्वह हो जाता है[2]। विवाह के समय नथ का होना आवश्यक माना गया है अतः नाक के इस गहने का विशेष महत्व रहा है[3]। सुहागिन स्त्रियों को आशीर्वचन के रूप में "तेरे" नथ और चूड़ी बरकरार रहे" कहने की प्रथा-सी रही है। घनानन्द ने राधा के नथ की प्रशंसा की है जिसमें पानीदार मोती बड़े हुए हैं। ये "नथ के मुकुता पानिप भरे" नायिका के सौन्दर्य को बढ़ाते रहते हैं। नायिका की नवेली नाक स्वाभाविक रूप से ही अति सुन्दर लगती है क्योंकि उसमें नवेली नथ पड़ी हुई है जो उसके सुहाग की सूचना देती है[4]। नाक में सींक और लौंग पहनने का भी चलन था। बिहारी की नायिका की नासिका तथा उसकी सींक की अपूर्व शोभा देखकर - नायक अभिभूत हो स्वतः कह उठता है - "जाता उसकी विलक्षणता नाक में नीलम बड़ी हुई सींक (जैसी) बगमगा रही है, मानों भ्रमर चंपे की कली पर बैठकर रस ले रहा हो[5]। किंतु

---

१- ह०चि०पृ० ७९। भास०केलि पृ०१०, २१ एवं ३५।
भा-भ०पृ०६१। कु०म०र०र०पृ० १४६।

२- नथुनी गज मुक्तान की लसत चारु शृंगार।
बिन पहिरे सुकुमारि तनु और आभरन भार॥ मं०गृ० पृ० ३४६।

३- अमीरा गृहभूषण- हंडियन केसरी आदि- पृ० ११।

४- सारी सुरंग सुही चुहचुही निपट पहिरे राधा गोरी,
नथ के मुकुता पानिप भरे, भाल पै बिंदुली लाल बेंदी॥ घ०गृ०पृ० ३७८।

५- और म०गृ०पृ०१९। गृभास०र०पृ० ६१। घ०गृ०पृ० १२।

६- बटित नील मनि बगमगति सींक सुहाई नाँक।
मनौ बली चंपक कली बसि रसु लेतु निसाँक॥
-बि०र०दो० १४३।

बिहारी लौंग के प्रति अनुदार हैं । वे यह मानते हैं कि लौंग अच्छी है किन्तु नायक - नायिका से उसे न पहनने का आग्रह करता है, क्योंकि उसके पहनने से उसकी झार के कारण उसकी कोमल नाक चढ़ी-सी रहती है और नायक के मन में उसके मान किये हुए होने का भय बना रहता है[1]।

कण्ठाभरण:

७४- रीतिकाल का कवि संभवतः कालिदास से अधिक सैरंधान था क्योंकि बरसात का पहला पानी पार्वती की बनी भौंहों में गिरने के बाद मधरों को ताड़ित कर तत्काल पयोधरों पर पहुँच जाता है किन्तु यह अलंकार-प्रिय कवि नारी शरीर के प्रत्येक महत्वपूर्ण अंग और सौन्दर्यबिन्दु का रस लेता हुआ चलता है । इसलिए कंठ तक पहुँचते-पहुँचते उसे अनेक आकर्षण-केन्द्र मिल जाते हैं । हार आरम्भ से ही हमारे यहाँ का प्रिय आभूषण रहा है । बिहारी की नायिका के पयोधरों में उभार आ गया है जिसे वह निरन्तर देखा करती है किन्तु ज्ञातयौवना होने के कारण प्रत्यक्ष रूप से नहीं, गोपियों का हार देखने के बहाने अपने यौवना-गम सूचक पयोधरों का औन्नत्य देखती है[2]। बिहारीदास ने भी हार का उल्लेख किया है[3]। सुंदरीतिलक में

---

१- यद्यपि लौंग लखितौ, तऊ तू न पहिरि इक नाँक ।
यदा साँक बढ़िबे रहै, रहै चढ़ी - सी नाँक ।। बि०र०दो० ६८५ ।

२- भावकु उभरौही भयौ, कछु पर्यौ अलसाइ ।
गोप-हरा के मिसि हियौ निसिदिन हेरति जाइ ।।
† † † बि०र०दो० २५२ ।
मुकुता हार हिये लसै, सज की बेंदी भाल ।
राजति सेत सरे सरे सरे- उरोजनु बाल ।। बि०र०दो० २४८ ।

३- बिहारीदास -बिहा ग्रं० १।८४-९५ ।

संगृहीत सवैयों में अनेक स्थलों पर हार का वर्णन आया है[१]। मतिराम ने ललित हाव के उदाहरण में मोती के हार से हृदय विलसित होने का वर्णन किया है[२] । आलम की नायिका वक्षस्थल पर मोतियों का हार लहराये बिना ही अप्सरा-सी प्रतीत होती है[३]। इसके अतिरिक्त अनुरागं-बांसुरी एवं गुवाल रत्नावली में भी हार के उल्लेख आये हैं[४] । कण्ठ में पहने जाने वाले आभूषणों में उरबसी रीतिकालीन कवियों को विशेष रूप से प्रिय रही है । सेनापति ने नवयौवना बाला को फूल की माला के समतुल्य बताते हुए, पुष्पमाला को उरबसी से भी बढ़ कर बताया है[५]। तुलना उसी से की जाती है जो मानक के रूप में प्रतिष्ठित हो इसलिए उरबसी की श्रेष्ठता तो पुष्प-माला से पूर्व ही प्रतिपादित हो जाती है । बिहारी को उरबसी से विशेष प्रिय रही है । उनकी प्रवीण राधिका मोहन के उर में उरबसी के समान बसी

---

१- सुंदरी तिलक पृ० २०७, २७५, २७७, २९८ ।

२- मत्त गयंद की चाल चले कटि किंकिन नेवर की धुनि बावै ।
मोती के हारनि सौं हियरौ हरिजू के विलास हुलासनि सावै ।।
- - - - । म०गृ०पृ० ३४९ ।

३- मोतिन को हार हिए हौस सौं पहिरै नहिं,
पोत ही के छरा अपछरा सी लगति है । आलम केलि पृ० ८ ।

४- नू०भु०अनु०वां० पृ० ६० । गुवाल र०पृ० ६१ ।

५- चाहत सकल जाहि रति के भ्रमर हैं वो +
पुष्पवति हौस उरबसी की विलास है । - - -
से०क०र० पृ० ७ ।

रखती है[१]। उनके नायक ने अन्य स्त्री से वस्त्र बदलकर उसके साथ विहार किया था। प्रातः उसने सब वस्त्र फिर से बदल लिये किन्तु उरबसी बदलना भूल गया और उसका सारा अपराध प्रकट हो गया[२]। गले के गहनों में गुलीबंद का भी उल्लेख प्राप्त होता है बिहारी की नायिका की सखी नायिका के गौरवर्ण की भास्वरता की प्रशंसा करके नायक के मन में आकर्षण उत्पन्न करना चाहती है। इसलिए वह उसके गोरे गले में धंसती हुई पान की पीक को गुलूबन्द के माणिक्य की झलक की लाल रेखा बता कर उसका ध्यान नायिका के सौन्दर्य की ओर खींचती है[३]। कंठ में धारण की जाने वाली अनेक प्रकार की मालाओं के उल्लेख भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। केशव ने स्त्रियों के कोकिल कण्ठों को दुसरी एवं कंठी से शोभित बताया है। वीरसिंह देव चरित में भी स्त्रियों के कण्ठे एवं कंठमाला धारण करने के उल्लेख आये हैं[४]। भिखारीदास ने भी अपनी नायिका को मुक्ताओं की मंजुलमाला पहना कर प्रस्तुत किया है[५]। गुमान रत्नावली में दरीदार मोतियों की माला का उल्लेख हुआ है[६]।

---

१- तो पर वारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कै उरबसी, ह्वै उरबसी - समान ।। बि०र०दो०२६।

२- उर मानिक की उरबसी डटत घटतु छबि- दागु।
छबकतु बाहिर भरि मनौ तिय-हिय की- अनुरागु ।। बि०र०दो० ३३९।

३- खरी लसति गोरे गरै धंसति पान की पीक।
मनौ गुलीबंद- लाल की, लाल, लाल दुति- लीक ।। बि०र० ४४०।

४- दुसरी रच कोकिल कंठ बनी। मृगखंजन अंजन शोभ घनी। के०की०पृ०१८२।

† † †

कंठ माला रच कंठनि बनी, बनी कर्ण फूल दुति घनी।
के०वी०दे०च०पृ० २५२।

५- बि०गृ० १।८५।

६- गुमान - र० पृ० ६२।

हाथ के गहने:

७५- रीति काल में हाथों में पहने जाने वाले भी अनेक प्रकार के आभूषण थे। मनुवी ने बेगमों के आभूषणों की चर्चा करते हुए भुजाओं में पहने जाने वाले गहनों विशेष कर "आर्मलेट" तथा "ब्रेसलेट" का वर्णन प्रस्तुत करता है। भुजाओं के आभूषणों में से चूड़ी, कंकन, बाजूबंद, बलय, पहुंची, टाड के उल्लेख तत्कालीन काव्य में प्राप्त होते हैं। घनानन्द ने चारू चूड़ियों का उल्लेख किया है[1]। बिहारी और सुंदरी तिलक में भी चूड़ियों के संदर्भ प्राप्त होते हैं[2]। केशव के साथ चूड़ी का उल्लेख साथ भट्टहरी में भी प्राप्त होता है[3]। हाथ के गहनों में कंगन आरम्भ से ही अधिकांश अधिक प्रचलित और लोकप्रिय रहा है। तुलसी के राम ने पुष्प वाटिका में कंकन और किंकिणी की ध्वनि सुन कर जनक-तनया के आगमन की सूचना पायी थी। पद्माकर एवं कालिदास त्रिवेदी ने कंकन का उल्लेख किया है[4]। मान के रावविलास में भी हाथ के अन्य गहनों के साथ कंकण का उल्लेख आता है[5]। पहुंची के भी उल्लेख मिलते हैं। तोष की नायिका क्योंकि गणिका प्रवत्स्यपतिका है इसलिए उसकी मांग भी बड़ी है। मुक्ताओं की माला के साथ वह हीरों की पहुंची चाहती है[6]। घनानंद ने पन्नों पहुंची के व्यवहार

---

१- बारू चुरीन चिते कन आनंद ।। घ०ग्रं० पृ० ३८ ।

२- उ०चि०पृ० १०६ । सुं० ति०पृ० १३, २७६ ।

३- भा० क० पृ० ६१ ।

४- पद्०रो०ग्रं०पृ० २१२ । कालिदास- त्रि०ग्रं० पृ० ८१ ।

५- मान० रा०वि० पृ० ७१ । उ०चि०पृ० १०६ । आलम केलि पृ० ३५ ।

६- यह दीजिये मात हमें मुकुतानि की,
रावरे की बय ठानहिंगी ।
अरू दीजिये हीरन की पहुंची,
कर भूषण और न मानहिंगी ।।
तोष० सु०नि०पृ० ६१ ।

का उल्लेख किया है जबकि भिखारीदास की नायिका के करकमलों में सोने की पहुंची शोभायमान हो रही है[1] । बाबूबंद और टांड के उल्लेख भी प्राप्त होते है । कासिम और बासम ने बाजूबन्द की चर्चा की है[2] । टांड का उल्लेख विभावली एवं बासमकेलि में है[3] ।

७६- हाथ की उंगली में गहने पहनने का चलन बहुत पुराना है । रीतिकालीन काव्य में प्रायः एक ही गहने को मुंगूठी, मुद्रिका और मुंदरी के नाम से कहा गया है । केशव ने रामचन्द्रिका एवं कविप्रिया में मुंदरी अथवा मुद्रिका का उल्लेख किया है । सेनापति ने अपनी नायिका को मुंगूठी पहने दिखाया है । कोमलांगी, कमलकांति वाली, करकमलविलासिनी अनेक समस्त शृंगारों के साथ उंगली में मुंगूठी भी पहने है[4] । बिहारी की नायिकाएं अपनी विदग्धता के लिए विख्यात है । मध्या नायिका अपने हाथ की मुंदरी की मारसी में प्रियतम की छाया पड़ी हुई पाकर उनकी ओर

---

१- पन्नन की पहुंचीनि लसे, पुनि आभा तरंगनि संग रचो ।
क० ग्रं० पृ० २७
कर कंचन कंचन की पहुंची मुक्तानि की मंजुल हार गरै ।
वि० ग्रं० १।८६

२- का० क० ब - पृ० ९०१ १७९ । बासम० के० पृ० ५२

३- ह० चि० ७४।बासम० के० पृ० ५२

४- केशव कुंडल मुद्रिका बलया बलय बरवलि ।
के० क० प्रि० पृ० ८०। के० की० २।१७२

५- कोमल, कमल, कर-कमल विलासिनी के

रचि पचि कीनी विधि सुंदर सुधारि है
सोहति बराक मुंगूरीन में मुंगूठी, पुनि,
है है ज्ञान राखै पीरू सिंगारि है ।।

से० क० र० पृ० ४८

पीठ किए बैसटके प्रियतम की ओर देख रही है[1] । कासिम और शिवनाथ ने भी उंगली में अंगूठी पहनने का उल्लेख किया है[2] । चित्रावली में भी बड़ाऊ मुंदरी पहने हुए नायिका को प्रस्तुत किया गया है[3] । अंगूठी में आरसी लगवाने का भी रिवाज था । बिहारी की नायिका की आरसी का उल्लेख किया जा चुका है । तोष की नायिका भी कुछ इसी प्रकार लाल की छवि निरखने के लिए आरसी का प्रयोग करती है[4]। अंगूठी के अतिरिक्त स्त्रियाँ छल्ला भी पहना करती थीं । बिहारी की नायिका की गोरी छिगुनी में नीलम जटित छल्ले की शोभा देख कर नायक आकृष्ट हो जाता है । नायिका ने अपने पति का छल्ला पड़ोसिन को पहने देख कर बहाने से उसे ले लिया है और शेष सूचक मुस्कराहट के साथ पति को दिखाती है[5] । उस्मान ने भी छल्ला पहनने का वर्णन किया है[6] ।

---

१- बि० र० दो० ६११

२- का- छ ब० पृ० ९० एव० १७९ । शिव० सा० पु० पृ० २७८

३- ड० चि० पृ० ७५

४- बात चली गुरु लोगनि मैं कहूं गाड़ गये हरि कुंज गली सो ।
साव सो सोहै चिते न सकी फिरि ठाढ़ी भई लागी बाली बाली सो ।।
आरसी ऊंची करी कर की कहि तोष लख्यो छवि भांति भली सों ।
चारुता चातुरता पर लाल गयो पिकि श्री वृषभान लली सों ।।
तोष- सु० नि०- पृ० ३८

५- गोरी छिगुनी, नखु, अरुनु, छला रुवाम छवि देइ ।
लख मुकुति-रति पलकु यह नैन त्रिवेनी सेइ ।
बि० र० दो० ३३८

छला परोसिन हाथ हैं, छुकरि, लियो पिछानि ।
पियहिं दिखायो सखि बिलखि, रिस सूचक मुसकानि ।।
बि० र० दो० ३७९ ।

६- अंगुरिन मुंदरी बरित की सोह छला प्रति पोर ।
ड० चि० पृ० ७५ ।

## कटि के आभूषण

कटि प्रदेश के अलंकारों में रसना, मेखला, कटिकिंकिनी, करधनी छुद्रावलि अथवा छुद्रघंटिका के संदर्भ रीति कालीन काव्य में मिलते हैं। ये आभूषण प्रायः सोने के होते थे और इनमें से अधिकांश विभिन्न प्रकार के बहुमूल्य हीरे रत्नों तथा लाल आदि से जड़े रहते थे। करधनी, मेखला अथवा रसना कमर के घेरे के नाप की सोने की लगभग दो अंगुल चौड़ी पट्टी को कहते थे जिसमें जड़ाऊ काम अथवा मीनाकारी होती थी। कटिकिंकिणी, छुद्रावलि अथवा छुद्रघंटिका में पट्टी के नीचे छोटे घूघर अथवा मोतियों के गुच्छे लगे होते थे। किंकिणी का उल्लेख काव्य में अपेक्षाकृत अधिक मिलता है। केशवदास सिंह जैसी क्षीण कटि वाली नायिकाएं किंकिनी धारण किये हैं[1]। बिहारी लाल ने किंकिणी के कोलाहल का उल्लेख किया है[2]। मतिराम की गजगामिनी नायिका के कटि प्रदेश की किंकणी और पदों के नूपुर बजते हैं[3]। रहीम उस्मान तथा कुमारमणिदास ने भी अपनी नायिकाओं को किंकिणी पहनायी है[4]। किंकिनी को ही कहीं कहीं छुद्र घंटिका नाम से भी वर्णित किया गया है। वीरसिंहदेव चरित में केशवदास ने छुद्र घंटिका का उल्लेख किया है[5]।

---

१- के० की० १।१८२

२- परयो जोर बिपरीत रति रूपी सुरत-रन-धीर।
करति कुलाहलु किंकनी, गह्यो मौनु मंजीर॥

३- मतगयंद की चाल चलै कटि किंकिनि मेखर की धुनि बाजै।
म० ग्रं० पृ० २४५

पग के धरतकल किंकिनि नूपुर बजै।
म० ग्रं० पृ० ३०७।

४- उ० वि० पृ० ७६।कु० म० र० र० पृ० २६३।फि० गृ०१।१६८

५- छुद्रघंटिका कटि सुभेष जसि अनन्त कैसे परिवेश।
के० वी० दे० च० पृ० २७९।

पांव के गहने:

७८- शरीर के अन्य अंगों की भांति पांवों में भी आभूषण धारण किये जाते थे। रीतिकालीन काव्य में नूपुर, पायल या पैजनि, और गूजरी आदि के नाम आये हैं। केशवदास ने स्त्रियों के पैरों के नूपुर की ध्वनि को विजय की वाद्य-ध्वनि के समान कहा है[1]। सेनापति ने भी अपनी सर्वांग-अलंकृता नायिका को नूपुर की रुनझुन के साथ, मंद-मंद चरण रखते हुए सांझ ही से ला खड़ा किया है[2]। बिहारी ने पायल की चर्चा की है। पायल में भले ही मूल्यवान मणियां लगी हों किन्तु वह पांवों में ही लगी रहती है जबकि मयूर की बेंदी मानिनी के भाल पर शोभायमान होती है[3]। श्रीधर की किंकिनी, पायल, पैजनियां, बिछुआ और घुंघरू - सभी की संमिलित ध्वनि सुनायी पड़ती है[4]। नूपुर एवं पायल के अतिरिक्त पांवों के गहनों में छल्ला, बिछिया और अंगूठा आदि का उल्लेख हुआ है। रसिकवर गुवाल दालान में बैठे हुए ही "छलान भरी" नायिका के पांवों के छल्ले की छमक सुन लेते हैं[5]। नायिका के अनवट की प्रशंसा करते हुए

---

१- नूपुर मनिमय पाइल बने। मानौ रुचिर विजय बाज नै।
के०दी०दे०व०पृ० २७९।

२- नूपुर को झनकाइ, मंद ही धरति पाइ,
ठाढ़ी भई बागन भई ही सांझी बार सी।
से०क०र०पृ० ४८।

३- पायल पाइ लगी रहै, लगी मयोखिक लाल।
मोरद हू को भालिहै बेंदी भामिनि-भाल।। वि०र०दो० ४४१।

४- किंकिनी पायल पैजनियां बिछुआ घुंघरू मिलि गावन लगे। श्रीधर सुं०ति० पृ०१३।

५- बैठ्यौ मैं दलान मे छलान भरी बावतारी।
पावन छलान की छमक कान मे गई।
गुवाल- र०पृ० ६७।

बिहारी के नायक कहते हैं: "उसके पैर का अंगूठा पाकर बड़ाव से बड़ा हुआ बखेड़ा ऐसा शोभित हो रहा है मानों उसके तांटक की द्युति ने सूर्य को जीत लिया है, इसलिए डर कर वह उसके पैर पर पड़ा है[1]।" सेनापति की "रागमाला की बाला" गूजरी की झनक के मध्य दिखायी पड़ती है तो भिखारीदास की नायिका के पदपंक्जों में भी बड़ाऊ गूजरी है[2]। सूदन और मतिराम आदि की सूचियों में भी गूजरी का नाम आया है। पैजनी के उल्लेख भी प्राप्त होते है। मतिराम की नायिका की सहज गति में पांवों की पैजनी की झनक अत्यन्त प्यारी लगती है[3]। उस्मान की नायिका पांवों में अनेक आभूषण धारण किये है। उसके पांवों में पायल की छवि, बड़ाऊ की बेहरी के साथ सुनर के मन, मोहने वाली झांझ भी है[4]।

पुरुषों व शिशुओं के आभूषण:

७९- रीतिकालीन काव्य के नायक भी नायिकाओं की भांति विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करते हैं। कुंडल पुरुषों के कर्णाभरण के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। केशव ने रामचन्द्र की मुखश्री का वर्णन करते हुए मकराकृति कुंडलों से उनके मुखारविन्द को शोभित बताया है[5]। बिहारी की

---

१- सोहत अंगुठा पाइके बखेटु बड़ौ बराइ।
जीत्यौ तीखन दुति, डुडरि पर्‌यौ तरनि मनुपाइ ॥
बि०र०दो०२०९।

२- गूजरी झनक मांझ सुभग तनक पुर
देखी एक बाला रागमाला की लसति है। से०क०र०पृ०६।
पंक्ज से पायनि मैं गूजरी बरायन की। भि०ग्रं० १।१४५।

३- सूदन-सु०च०पृ०१७५। मति०ग्रं०पृ० ४४४। से०क०र०पृ०२५।

४- लसत सुभाय पांय पैजननि की झनक। म०ग्रं०पृ० ४२२।

५- उस्मान-चि०पृ० ७७-७८।

६- श्रवण मकर कुंडल लसत मुख सुखमा एकत्र। के०की०१।१०१।

नायिका की सखी नायक के पास से होकर आयी है, वह नायक की रूप-राशि का वर्णन करते हुए उसके मकराकृति कुण्डलों को कामदेव के अवतरण के पदचिन्हों के रूप में वर्णित करती है[1] । मतिराम के "मोहन" के मुस्कराते मुख पर कानों में डोलते कुंडलों की मनोहारी छटा है[2]। दीनदयाल गिरि नायिका नायक के कपोलों पर डोलते कुंडलों की छाया देख कर ही मोहित है, वह छू कर भोगेगा तो जाने क्या होगा[3]। सूदन ने भी पुरुषों को कुंडल धारण किये हुए दिखाया है[4]। पुरुषों में छल्ले का भी व्यवहार था पूर्वानुरागिनी नायिका नये-नये स्नेह में डूबे लाल का छल्ला चूमती है, उसे प्रेम से देखती है, हृदय में धारण करती है और फिर भय से कि कोई देख न ले उसे उतार कर रख देती है[5]। बिहारी के नायक का छल्ला किसी अन्य स्त्री के पास देख कर नायिका प्रियतम का अपराध समझ लेती है[6]। पुरुष हाथों में कड़े भी पहनते थे, यद्यपि धीरे-धीरे हाथ के गहनों का प्रचार पुरुषों में कम हो रहा था । भक्त सहचरिशरण ने कृष्ण

---

१- मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुंडल कान ।
धरयौ मनौ हिय-घर-समर ड्यौढ़ी लसत निसान ।। बि०र०दो०१०३।

२- मोहन की मुसकानि मनोहर, कुंडल डोलनि मैं छवि छाई ।म०ग्रं०पृ०२५५ ।

३- कुंडल की डोलनि कपोलनि मनोज कै
कौन कै हाल हँसि बोलनि रसाल की । दी०ग्रं०पृ०३५ ।

४- सू०सु०च०पृ० १७५ ।

५- छला छबीले लाल को नवल नेह लहि नारि ।
चूमति, चाहति, लाइ उर पहिरति, धरति उतारि ।।
बि०र०दो० १९३ ।

६- बि०र०दो० २७९ ।

में लगी किंकिणियां झिलमिला रही है। इसी प्रकार बुंदेलखंड में आभूषणों से सजे हाथियों की किंकिणी बजती है, घंटे बनवा रहे हैं[1]। वीरसिंह देव सोने से मढ़ी सींगों वाली सवत्स गाय दान करते हैं[2]।

निष्कर्ष:

८१- आलोच्यकाल के कवि की दृष्टि में आवश्यकता कहीं अधिक विलासिता की ओर, सादगी की अपेक्षा अलंकरण की ओर अभिमुख रही है। समर्थ सृष्टाओं में जीवन की सहजता का अभाव नहीं है, उनका सृजन प्राणवान है किन्तु कुल मिला कर ऐसे स्वस्थ सम्पूर्ण काव्य-कोण में स्वल्प ही है। जीवन और काव्य दोनों क्षेत्रों में रीतिकालीन कवि के लिए अलंकरण ही साध्य बन बैठा था। जिस पर्यावरण में अधिकांश रीतिकालीन काव्य लिखा जा रहा था वह लोक जीवन की स्रोत धार से कुछ दूर पड़ता था, इसलिए रीति-कालीन कवि की सौंदर्य-दृष्टि में सहजता का अभाव सा रह गया है, उसका सौन्दर्य बोध एकरस है और जीवन अपने प्रकृत रूप में कभी एक रस नहीं होता। अनेक विरोधी दिशाओं का संगम जीवन में अनिवार्य है और रीति-काल के अधिकांश काव्य में एकरस रमणीयता है।

## मनोरंजन

मनोरंजन की उपयोगिता:

८२- विविधता ही जीवन-जगत का आधार है। सुख और दुख, हर्ष तथा विषाद, कर्म एवं विश्रांति के युग्मों में से किसी एक की संश्लिष्टि

---

१- अति दीरघ अति पीवर साज दीजै, की आन्यो गजराज
+ -। +
अमल सुपिल मोतिन के हार सजै मनौ नीलमणि वार। के०वी०च०पृ० ७४, ७६।
+ + +
गज गावत दुति सुनि घर घ्वज हलै कुलिस किंकिनी दुति झलमलै।
पूंघर घन घंटा घननात अति मदमत्त भौंर झन्नात। के०वी०के०च०पृ०१७४।

२- के०वी०च०पृ० २६१।

पर्याप्त नहीं है । संतुलन के लिए दोनों अपेक्षित है । कर्म की गंभीरता और गुरुता से मन और शरीर दोनों थक जाते है । इस थकान को कम करने, दूर करने और पुनः नवीन चेतना एवं उत्साह के सहित कर्मरत होने के लिए ही मनोरंजन की उपयोगिता है, यही इसका साध्य और प्रयोजन है, यह स्पष्ट है कि मनोरंजन अपने आप से पूर्ण नहीं है । रीतिकालीन काव्य में चित्रित सामाजिक वातावरण में भौतिक संपन्नता और उन्नति का अभाव नहीं है इसलिए मनोरंजन की व्यवस्था स्वभावतः सुकर और सुलभ हो जाती है । इस प्रकार राजकुल, सामंतवर्ग और धनिकों को लगभग सभी प्रकार की ऐहिक सुख-सुविधाएं प्राप्त थीं । समाज में, विशेषकर उच्च वर्ग में, समृद्धि का प्राचुर्य वैभव-विलास, विभिन्न प्रकार के मनोरंजन एवं क्रीड़ा कौतुकों को प्रोत्साहन देने के अनुकूल था । सामन्त सरदार तथा अन्य संपन्न वर्गों में ज्ञान-शौकत की अधिकता थी और उसी के अनुरूप अनेक मनोरंजन के साधनों का प्रचलन हो गया था । इनके विविध-विचित्र और सभी सुख-सुविधाओं से युक्त प्रासादों में दास-दासियां सदैव सेवा के लिए प्रस्तुत रहती थीं उनके मनोविनोद के लिए नट-नर्तक, क्रीड़ा विहार एवं विभिन्न रंगशालियों की कमी नहीं थी । केशव ने वीरसिंह देव चरित में दिल्ली के सुल्तान के विनोद के साधनों का वर्णन किया है । वस्तुतः यह सामग्री सुल्तान से लेकर छोटे सरदार, सामन्त एवं रईस सभी को सुलभ थी । इन साधनों में हाथी, घोड़े बाजार, मणि, गुणी गायक, गंभीर नायक, राग, बाग, फलफूल, सुगंध, आसन, वसन, आसन, आभूषण, भावन, भवन, वितान, सम्पत्ति, पशु-धनी, घोड़ा सेना विद्या, नगर गढ़ आदि की गणना की गयी है[1]।

**मनोरंजन की साधनभूत कलाएं:**

८३- कलाएं मनोरंजन का महत्वपूर्ण साधन थीं । इससे उनकी मर्यादा

---

१- केवी०के० व० पृ० ९५ ।

नष्ट नहीं होती और उपयोगिता बढ़ जाती है। रीतिकालीन मनोरंजन के साधनों में संगीत वाद्य एवं नृत्य का महत्वपूर्ण स्थान था। अन्य कलाओं की भाँति तत्कालीन के संगीत - कला की प्रभावान्विति भी प्रमुखतः शृंगार परक थी। चमत्कार प्रदर्शन और रंजन रस उत्पन्न के लिए अर्थहीन शब्दों "गे, देना, ओम, तानी" का प्रयोग किया जाता था। ख्याल, तराना, सरगम तथा खिचट आदि लोकप्रिय शैलियाँ अपने इन्द्रियन तथा चपलता के लिए प्रसिद्ध है। टप्पा और ठुमरी की शैलियाँ रीति काव्य की मूल रंजन शृंगार चेतना के अनुरूप थीं। डा० श्यामसुन्दर दास के शब्दों में "इस समय अकबर के समय की ध्रुपद की गंभीर परिपाटी, मुहम्मदशाह द्वारा अनुमोदित ख्याल की चपल शैली तथा उन्हीं के समय की अविच्छिन्न टप्पे की कोमल रसमय गायकी, और वाजिद अली शाह के समय की रंगीली ठुमरी अपने आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति की परिचायक ही नहीं लोक की प्रौढ़ रुचि में किस युग का पतन हुआ उसका भी इतिहास है[1]।"

८४- रीतिकाव्य में तत्कालीन शास्त्रीय संगीत के सभी रागों, रागनियों और तालों के उल्लेख मिलते है। महाकवि केशव ने संगीत का वर्णन करते समय रामचंद्रचन्द्रिका में छत्तीस रागों का उल्लेख किया है। इसी प्रसंग में स्वर, नाद, ग्राम, सताल, मूर्च्छना, मान, वादि, गमक आदि संगीत की शास्त्रीय शब्दावलियों का व्यवहार किया है[2]। वीरसिंह देव चरित में भी "नाद ग्राम स्वर" का उल्लेख है।

८५- संगीत की चर्चा के साथ अनेक वाद्यों का भी उल्लेख है। वीणा मधवा

---

१- हिन्दी भाषा और साहित्य
श्यामसुन्दर दास, पृ० २६१।

२- स्वर नाद ग्राम नृत्यत सताल। सुख बरन विविध बजाय काल।
बहु कला वादि मूर्च्छना मानि। बड़ भाग गमक गुण चलत बानि॥
के० की० १।१२६।

वीन प्रिय वाद्य था और स्त्रियां इसे विशेषरूप से बजाया करती थीं। केशवदास की सीता वीन बजा कर अपने प्रिय का दुख दूर करती है[1]। मान के रावविलास में ढोल, निशान, मृदंग, शंख, वीन, नफेरी, शहनाई, भेरि, झल्लरी, सारंगी आदि वाद्यों के बजने का उल्लेख पाया है[2]। सूदन ने सुजान चरित में उस समय के वाद्य-यंत्रों की सूची दी है जिसमें दुंदुभी, मृदंग, ढोलकी, डफ, तबला, भेरु, झंझरी, जलतरंग, गुंडली, वीन, सारंगी, रबाब, सितार, शहनाई, सुरही, वंशी, मजगीवा, कठताल तथा झांझ के नाम आये हैं[3]। संतकवि सुंदरदास ने यत्र-तत्र वाद्यों के जो उल्लेख किये हैं उनमें निशान, मृदंग, ढोल, झांझ, डफ और वीन की चर्चा आयी है[4]। रीतिकालीन काव्य में नृत्य के भी वर्णन प्राप्त होते हैं। गणिकाएं, वारांगनाएं तथा नटी आदि इस कला में प्रवीण होती थीं। केशवदास ने नृत्य के वर्णन में मुखचालि, शब्दचालि, उरुज, त्रिपंगपति, पति, अडाल, लाग, धाउ, राडप, रंगाल, उलटाटेकी, आलप, पिंड, पदपलटि, घुरमयी, निशंक, पिंड, आदि सत्रह प्रकार के नृत्य का उल्लेख किया है। नृत्य के भावों एवं हस्तभेद की भी चर्चा मिलती है[5]। हम्मीरहठ में राजा नटी का नाच देखते रहे, उन्होंने शाह के आक्रमण की चिन्ता भी नहीं की[6]।

---

१- जब जब धरि वीना प्रकट प्रवीना, बहुगुन लीना सुख सीता।
पिय वियहिं रिझवैं दुखनि भजावै विविध बजावै गुनगीता॥
के०की० १।१८३।

२- मान० रा० वि० पृ० ५९-६१।

३- सू०सु०च०पृ० १७३।

४- सुं०ग्रं० पृ० ९१७, ९२०।

५- के०की० २।१२७, १२९।

६- बहुर नटी जब निरतन लागी देखन लग्यो भूप अनुरागी।
बं०बा०इ०पृ० २८।

८६- चित्रकला का उपयोग मनोरंजन के लिए किये जाने के संदर्भ काव्य में प्राप्त होते हैं। स्थान-स्थान पर चित्रशारी चित्तसरिया अथवा चित्रशाला के उल्लेख मापे हैं। केशव ने राम के राज महल में ऊपर के छह खण्डों में बनी सुन्दर चित्रकारी की प्रशंसा की है। उनकी रंगशाला में रघुवंशी शासकों के चित्र अंकित है जिन्हें देखकर सभी सिर नवाते हैं[1]। रहीम की नायिका चित्तसरिया में अपने प्रिय की छवि देख कर प्रमुदित होती है[2]। पद्माकर की नायिका छज्जों, अटारियों, और चित्रशारी में घूम-घूम कर अपना मनोरंजन करती है[3]। विरह बारीश की नायिका काम-कंदला अपनी सखियों, चित्रशारी सजाकर तथा चित्रों की रचना करके अपना मनोविनोद करती है[4]। कीर्तिलता की चित्रशारी में पंक्तियों में भांति-भांति के चित्र लगे हुए है[5]। रीतिकालीन काव्य की नायिकाएं फूलों की विशेष शौकीन है। कुलीनों के घरों में सुन्दर उद्यान मोहक रंग-बिरंगे पुष्पों से भरे होते है जिनमें स्त्रियां क्रीड़ा करती है। केशव के राम सीता को अपना उद्यान दिखाने ले जाते है, वहां अनार की कलियां चिटकी हैं, महुआ फूला है, केले की कलियों पर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। केवड़े, मौलसरी, अशोक तथा पलाश फूलकर सबको अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं[6]।

---

१- चित्री बहु चित्रित परम विचित्रनि, रघुकुल चरित सुहाए।

के०की० २।१४।

२- चित्रसूरत चित्तसरिया चितवत बाल।

रहीम - क०की०पु० २९६।

३- प०पं०पु० १९२।

४- बी०वि०का०पु० १३८।

५- देखा मंदिर एक बहु भांती, चित्र संवारे पांतिन्ह पांती।

ड०वि०पु० ३३।

६- के०की० २।१८२-८३।

उद्यान की कौशांबती सखियों के साथ उपवन में क्रीड़ा करती है, वे कभी हार बनाती हैं कभी फूलों की गेंद बनाकर एक दूसरे को मारती हैं[1]।

८७- नृत्य-संगीत और चित्रकला के अतिरिक्त ख्यान कहानी तथा नाटक के द्वारा मनोरंजन के उदाहरण भी रीतियुगीन काव्य में मिलते हैं। मेलकाम के अनुसार सम्मान तथा विभिन्न प्रकार कलाओं के द्वारा लोग मनोरंजन करते थे[2]। चित्रावली में क्या कहने तथा बालकों द्वारा घर घर में कहानियां सुनने का उल्लेख प्राप्त होता है[3]। पहेलियों की रचना करने तथा पहेलियां बुझाने का प्रसंग कासिम के शाहनामा में है। नाट्यशालाएं पौराणिक आख्यानों के प्रदर्शन तथा नृत्य आदि की व्यवस्था करने के कारण जनता के आकर्षण का केन्द्र थीं[4]।

आयोजित मनोरंजन:

८८- आयोजित मनोरंजनों में नट, कठपुतली, बाजीगरों के तमाशे, जानवरों की लड़ाई, बंदर का नाच तथा सपेरों के खेल आदि आते हैं। नट नटनियां तथा नचनियां आदि पेशेवर नाचने वाले तथा विभिन्न प्रकार के तमाशे दिखाने वाले थे। इनके तमाशे के साथ सारंगी, ढोल, तबला, मंजीरा आदि बजते थे। नट लोग विभिन्न प्रकार के वेश बनाकर तरह तरह के

---

१- कौशावति आई फुलवारी। फैलि गई चहुदिशि सब बारी॥
† † †
गूंथहिं हार गीव से डारे। करहिं गेंद आपुस मंह मारे॥उ०चि०पु०१२१।

२- मल्काम - मेमार - चिन्द २, पृ० १९८।

३- कथक देखावहिं कथा बखानी। घर घर बालक सुनहिं कहानी।
उ०चि०पु० १८१।

४- मावत खेल उछाह भरे मनलोभिये की सिव नाटक शाला।
प०गं०, पृ० १३९।

तमाशे दिखाते थे[1]। बांस को बांधकर नट उस पर अनेक प्रकार की कलाबाजी करता है[2] । नटों के द्वारा कंदुक क्रीड़ा भी होती थी जिसमें वह एक साथ कई गेंद उछालते थे नागरीदास ने इसी "नट के बट्टू" से संसार में भटकते मनुष्य की उपमा दी है[3]। नट विभिन्न प्रकार की विचित्र वेशभूषा धारण करके कौतुक दिखाकर मनोरंजन करते थे[4]। नटों के द्वारा कठपुतली के खेल का भी प्रदर्शन किया जाता था । इसमें तम्बू घेर कर खेल दिखाने की व्यवस्था की जाती है । कठपुतली की रचना काठ एवं वस्त्र के संयोग से की जाती है । कठपुतली में सूत बांध कर खेल का प्रदर्शन करने वाला सूत्रधार और लेकर, सूत की सहायता से अनेक घटनाएं भावभंगिमाओं के साथ दिखाते हैं[5]। नटों की प्रशंसा जहांगीर ने की है—"हाकिम अली

---

१- बहु प्रकार बनाय बाजी किधौ रूप अनेक । सु०गुं०पृ० ८९७ ।

२- के के कला अनेक नटवा बढ़ि बांस फैला खतरातन तोड़त ।

बो०वि०बा०पृ० ६९

३- नगरिया बगमे वै उछरत जैसे नट के बट्टू । ना०ग्र०बा०खा०पृ०१९७ ।

४- सोय एक नट वेष सब बायो बीच बजार ।
तहं खर भर खरकर परयो सो सबि रह्यो निहार ।
गुंवा धूनरम पट सिखी सौंसि खट पग धाम
बंध बांधिबा पिच्छि सु तन सबि सब कौतुक बागि ।

रत्नकुंवरि- प्रे०र०पृ० ७ ।

५- तेरी है कछु गति नहीं काठ वीर को खेल ।
करै कपट पट ओट में वह नट सबही खेल ।।

दीक्ष०पृ० २३४ ।

कब लगि नट ज्यौं बापु दिखावसि, यह बग पुतरी काठ नचावसि ।
बग भूला यह काठ के नाचा, जानि न जाय झूठ सब सांचा ।

उ०वि०पृ० ४ ।

का पुत्र अपने साथ कुछ कर्नाटकी नटों को लिवा लाया, उनमें से एक बंदर भेड़ों के साथ खेलता था । बड़े छोटे भेड़ होने पर भी वह नहीं चूकता था । उसने इतने प्रकार के खेल दिखाये कि लोग चकित हो गये[1] । बाजीगर बंदर को घर लाकर, सिखाकर उसे सलाम करना भी सिखा देता है[2]। सुंदरदास के अनुसार यौवन में काम के वशीभूत व्यक्ति कामिनी के हाथों उसी प्रकार बिके रहते हैं जैसे मदारी का बंदर, जिसे मदारी जब जैसा चाहे नचाता है[3]। सन्तों ने भी बंदर के नाचने का उल्लेख किया है[4]।

८९- रीतिकाव्य में साँप के खेल का भी उल्लेख है । सँपेरा पहले मधुर नाद को सुना कर साँप को बाहर निकालता है फिर खेल दिखाकर पुनः पकड़ कर उसे पिटारी में बंद कर देता है[5] । बाजीगर अत्यन्त आश्चर्य-जनक खेल दिखाते हैं । कभी केवल एक पंख हाथ में लेकर उसे कबूतर बना देते हैं, कभी धूल से बादल बना देते हैं । आकाश की ओर गोटे उछालते हुए लाल पीले और काले रंग दिखाते हैं कभी आम का पेड़ उगाकर सामने खड़ा

---

१- पु० दा० - बहांगीर नामा, पृ० २१४ ।

२- बाजीगर घर ले आवा, कर सकुटि खेल डरावा ।
सब काहू के करै सलामू, कपि ऐसा किया गुलामू ।।
सुं०ग्रं०, पृ० १११।

३- यौवन माँह कामरस उपजी, कामिनी हाथ, बिकायो रे ।
जैसे बाजीगर को बनरा, घर घर नाच नचायो रे ।।
सुंग्रं०पृ० २०९ ।

४- ह०स०प्र०पृ० ५९ ।

५- जब सर्प सुन्यो बहु नादा कछु छनहु पायो स्वादा ।
जब बहुर बारि लगि खेला तब पकड़ पिटारी मेला ।
सु०ग्रं०,पृ० १४९ ।

कर देते है । कभी सिर पड़ से अलग कर देता है[1]। इसी प्रकार बाजीगर हाथ मे कागज लेकर उससे भांति भांति के करतब दिखाता है । सबके नेत्रों को वश में करके वह मनमाना ढंग खेल करता है[2]। बर्नियर ने इन बाजीगरों के विषय में लिखा है कि बहुत से बाजीगर घूमते है । सर्वसाधारण का विश्वास है कि ये सोना बनाना जानते हैं और व्यक्ति के आन्तरिक भावों को बता देते है । पेड़ की डाल लगा कर एक घंटे में ही फलफूल उगा देते है[3]।

९०- मनोरंजन के साधनों में पक्षियों को पालना, उन्हें सिखाना-पढ़ाना, उड़ाना तथा उनकी लड़ाई देखना विशेष स्थान रखता था । हाकिन्स के मतानुसार जहांगीर के पास अन्य पक्षियों के साथ छः सौ कबूतर भी थे[4]। शुक, सारिका तथा मैना आदि तो परिवार के सदस्यों की तरह हो गये थे । घर में पले पक्षियों के कारण प्रायः नायिका को गुरुजनों के सम्मुख लज्जित होना पड़ता है जब प्रातः काल मैना सभी के सम्मुख उसके

---

१- कबहुं तो पांव को परेवा के दिखावे मन ।
कबहुंक पूरि के कंवर कर लेत है ।।
कबहुं तो गोटिका उछारत आकाश बीर ।
कबहुंक रीते धीरे रयाम रंग लेत है ।।
कबहुं तो आम को उगाइ कर झकोरावे ।
कबहुं तो शीश पर बुंदा करि लेत है ।।
बाजीगर को सो स्वांग सुंदर करत मन ।
सदाइ प्रसन्न रखे ऐसो कोई प्रेत है ।
सु०गृं०, पृ० ४४९ ।

२- सु०गृं, पृ० ७२७, ७९७ ।

३- बर्नियर की भारत यात्रा, पृ० १०९ ।

४- विलियम हाकिन्स- पृ० १०४ ।

प्रेमालाप की नकल करने लगती है[1] । कोकिल, कीर, खंजन, मोर तथा कपोत पालने, उड़ाने तथा लुगाने के संदर्भ काव्य में उपलब्ध है[2] । नायक अपनी अटारी पर खड़ा गिरहबाज कबूतर उड़ा रहा है । नायिका उसे देखती है । कबूतर कलाबाजी खाता हुआ जाता है । नायिका के मन में नायक के प्रति सात्विक भाव उत्पन्न होता है, नायक के प्रति अपना प्रेम छिपाने के लिए वह सखी से कबूतर की प्रशंसा करने लगती है[3] । पद्माकर ने अपने आश्रयदाता राजाओं के द्वारा पाले गये लड़ा एवं तीतर की प्रशंसा की है । जो लड़ाई के लवा लड़ाई में चोट पर चोट करते है । वे लौटना या पीठ दिखाना नहीं जानते । चंचल, चुटीले और चटकीले है, बाज से अधिक शक्तिशाली और मूर्तिमान सौन्दर्य की भाँति रमणीय है । उनके तीतर पक्के पिंजड़ो को खोलते ही खुल पड़ते है, उनके बोल विजय की दुंदुभी से प्रतीत होते है । चोंच की चोट करने में कभी चूकते नहीं[4]। रीतिकालीन काव्य में पशुओं की लड़ाई और इनके प्रदर्शन द्वारा मनोरंजन की चर्चा आयी है । केशव ने कविप्रिया में सवे सजाये हाथियों के भव्यस्वरूप तथा अच्छे घोड़ों का वैशिष्ट्य बताया है[5] ।

---

१- रति विलास सुक सारिकनि, कहे गुरून में प्रात ।
लाज लखित गुन गौरि के दुरे गात में गात ।। म० गृं० पृ० ५०३ ।

२- पाले भले दिन के छिन सौं पिंजरान तें कोकिल कीर उड़ावत ।
जो मन रंजन खंजन मोर कपोत के सोत नहीं मन लावत ।
जो बरजो तो न माने कहू मन आपन लाजत मोहि लखावत ।
कौन सुभाव परो पिय को अब बिन मोरन छोड़ चकोर लुगावत ।।
सु० ति० पृ० २३५ ।

३- ऊंचे चित्त उराहियत, गिरह कबूतर लेतु ।
झलकति दृग, पुलकित बदनु, तन पुलकित केहि हेतु । बि० र० दो० २७४

४- म० गृं० पृ० ३०७-३०८ ।

५- तरल तताई तेज गति मुख सुख लघु दिन देख ।
देश सुवेश सुलक्षणौं वर्णहु बाजि विशेष ।। के० क० प्रि० पृ० १२६ ।
+ + +
मत्त महावत हाथ में मन्द चलति चल कर्ण
मुक्तामय इव कुंभ शुभ सुन्दर सूर सुवर्ण ।।
के० क० प्रि० पृ० १२८ ।

अवधपुरी में कहीं बैल और भैंसों की लड़ाई, कहीं भेड़ों की तो कहीं मस्त हाथी आपस में गुथे हुए हैं[1] ।

क्रीड़ाएं:

९१- घर के बाहर खेले जाने वाले खेलों में रीतिकालीन काव्य में चौगान नामक खेल की चर्चा कई स्थानों पर आयी है । चौगान राजाओं या आभिजात्य वर्ग का ही खेल था । केशव ने राम के चौगान खेलने का वर्णन किया है । इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि यह पोलो की भांति ही खेला जाता था । रामचन्द्र के साथ चौगान देखने के लिए लोग विभिन्न सवारियों तथा घोड़ों आदि पर चढ़ कर चले । राम विस्तृत चौरस भूमि पर गये एक ओर भरत तथा दूसरी ओर राम खड़े हुए हैं । गेंद भूमि पर डाल दी गई खेल प्रारम्भ हो गया । गेंद जहां जाती है उधर ही सब खिलाड़ी इकट्ठे हो जाते हैं । घोड़े पर सवार भरत और राम तथा अन्य खिलाड़ी काली पीली लाल तथा हरी छड़ियां लिये हैं जिनसे गेंद को अपने पाले की ओर ले जाना चाहते हैं । जब जब बाजी जीती जाती है तब तब बाजे बजते हैं और भूषणादि दान दिये जाते हैं[2] । कवि गोरे लाल ने भी चौगान के खेल का वर्णन छत्रप्रकाश में किया है[3] । सुंदरदास ने कर्मों के वश में पड़े धक्का खाते व्यक्ति की उपमा अस्थिर रहने वाले चौगान के कंदुक से दी है[4] । महाकवि बिहारी ने प्रेम का रूपक चौगान के खेल के साथ बांधा है ।

---

१- कहूं बैल भैंसा भिरे भीम मारे कहूं एण एणीन के हेत धारे
कहूं घोस वकि कहूं भेष सूरे कहूं मत्त दन्ती तरै सीह पूरे ।
के० कौ० १।८७

२- † † †
महिष, मेष, मृग, वृषभ कहुं मिल मत्त गयराज,
तरत कहूं पावक सुभट कहूं निर्तत नट राव । के० कौ० १।२७

३- के० कौ० २।११६-१२०

३- चौगननि खेलत छवि छावै । गोरे० छ० प्र० पृ० ६७

४- थिरता न लहै जैसे कंदुक चौगान माहि ।
कर्मनि के बस जीवरा को धक्का बहु है । सुं० ग्रं० ४६४ ।

विरहरूपी घोड़े की लगाम उठाने करके, छिपाकर निर्वाह करने के पश्चात् ही उस प्रेम रूपी चौगान के खेल को जीतना चाहिए[1]।

९२- सर्वसाधारण में पतंग उड़ाने का प्रचलन था। नायक जहां मनोरंजन के लिए पतंग अथवा गुड़ी उड़ाया करते थे वहां नायिका प्रियतम के खेल को देखकर ही मनोरंजन करती थी। बिहारी की नायिका अपने प्रेमी के द्वारा उड़ाई पतंग की छाया को छूने के लिए बावली होकर पूरे आंगन में दौड़ती फिरती है। बिछड़ जाने पर भी प्रेमी-प्रेमिका को अपने प्रेम पर भरोसा है, पतंग कहीं भी उड़ कर चली जाय डोर तो उड़ाने वाले के पास ही रहती है[2]। दीनदयालगिरि की अन्योक्ति पतंग उड़ाने की सावधानियों का ज्ञान कराती है, उसमें कच्चा डोरा नहीं होना चाहिए अन्यथा डोर टूट कर हाथ से छूट जायेगी और पतंग दूर चली जायेगी फिर बच्चे उसे लूट लेंगे[3]। तोष की नायिका सिमड़े पर बैठ कर उड़ती हुई पतंग खेल तमाशे देखती है[4]।

---

१- वि०र०दो० १७८।

२- उड़ति गुड़ी लखि लाल की अंगना अंगना माँह।
बौरी लौं दौड़ी फिरति छुवति छबीली छाँह।। वि०र०दो० २७१।

* * *

कहा भयो जो बीछुरे तो मन मो मन साथ।
उड़ी जाति खिलुं गुड़ी लख उड़ायक हाथ।। वि०र०दो० ५७।

३- कवि गुन छोड़े न तू अरे उड़ायक कूर।
बैठे कर ते, छुटि के उड़ि गुड़ी कहुं दूर।
उड़ी गुड़ी कहुं दूर छुटि लरिका सब हैहै,
तो को जान गंवार छोकरा करतारी दैहै। दी०ग्रं०पु० ११०।

४- रावटी सिमड़े की बैठि छबिवारी बाल।
देखति तमासौ गुड़ी मंडिनि उड़ायौ है।
तो०ग्रं०नि०पु० १७४।

९४- रीतिकालीन काव्य में जलक्रीड़ा मनोविनोद के साधनों में विशिष्ट स्थान रखती है। बड़े-बड़े राजाओं एवं सामन्तों के यहां सुन्दर स्फटिक के सरोवर बने होते थे। वनविहारण भी ताल सरोवरों में स्नान एवं क्रीड़ा करते थे। जलाशय के पास जाते समय दूर से ही श्रीराम को कमल की सुगंध मिली उसके निर्मल जल में बाग का प्रतिबिंब पड़ रहा था[1]। सरोवर में स्त्रियां क्रीड़ा करती हैं कोई हंसों को पकड़ती है, कोई कमलमूल निकाल कर हार की भांति गले में पहनती है। कोई भूषण गिर जाने पर जल में डुबकी लगाकर लहर के बीच में पकड़ लेती हैं। कोई देर तक डुबकी लगाने की होड़ करती है। इस प्रकार जल में केलि करती हुई सुंदरियां प्रस्फुटितपद्मपुष्पों के समान सुशोभित हैं[2]। कभी-कभी अपने प्रेमी के साथ भी ये जल-क्रीड़ा में निमग्न दिखाई देती हैं। केशव ने राम को स्त्रियों के साथ सरोवर से निकलते देखकर उत्प्रेक्षा की है मानो सूर्यदेव अपनी सब किरणें समेट करके निकले हों[3]। बिहारी की सखियां, स्मित, आनना नायिका सरोवर में स्नान करके वस्त्र एवं अंग के मध्य बांह दिये भीगे वस्त्रों से तट की ओर आती है[4]। नागरी दास ने यमुना में क्रीड़ा का वर्णन किया है[5]। दीनदयाल के नायक अपनी प्रिया के साथ जल में विभिन्न क्रीड़ाएं करते चित्रित हैं[6]। मक्खनशाह की शृंगारसुंदरी में भी जल-क्रीड़ा की चर्चा आती है[7]।

---

१- के०की० १।१९१ ।
२- एक दमयंती देखी हरि हंसि हंस बंश,
एक हंसिनी सी बिहार हिये रोहिनी ।
भूषण गिरत एकै लेती डुबि बीचि बीच,
मीन गति लीन हीन उपमान मोहिनी ।
एकै मत कै कै कंठ लागि लागि डुबि जात,
जलदेवता सी देखि देवता बिमोहिनी ।
केशोदास आसपास भंवर भंवत जल-
केलि में जलमुखी जलजसी सोहिनी ।। के०की० २।१९४ ।
३- के०की० २।१९५ ।
४- बि०र०दो० ६९१, ६९७, ७०० ।
५- ना०स०पु० १६७ ।
६- दी०शृ०पु० ३९ ।
७- म०शृ०सं०, पृ० ११९ ।

उस्मान की चित्रावली सखियों के साथ जल-क्रीड़ा करती हुई शर्त लगाती है कि सरोवर में छिप जाने पर उसे जो सखी खोज लेगी उसे हार मिलेगा[1]।

९४- मनोरंजन के अन्य साधनों में मल्लयुद्ध, जानवरों की लड़ाई, वादविवाद आदि आते हैं । केशवदास ने मल्लयुद्ध का उल्लेख किया है[2]। दीनदयालगिरि ने मल्ल युद्ध का पूर्ण चित्र अंकित किया है —अखाड़े में ताल ठोंकते हुए पहलवान खड़े हैं। भूमि को स्पर्श करके वह ताल उठाते हैं और पैर लगाकर अपने प्रतिद्वन्द्वी को भूमि पर गिरा देते हैं[3]। मनूची ने शाहजहाँ के संबंध में बताया है कि वह दरबार में पहलवानों को रखने का शौकीन था और मल्लयुद्ध देखा करता था[4] । केशवदास ने रामचन्द्रिका में मगर के खेल का उल्लेख किया है जो संभवतः आधुनिक कबड्डी की तरह होता था[5]।

९५- रीतिकालीन काव्य में, समाज में शिकार की लोकप्रियता के अनेक संदर्भ मिलते हैं । केशवदास ने चुर्रा, बहरी, बाज तथा श्वान की सहायता से बानर, बाघ, बराह, तथा मृग के शिकार का वर्णन किया है[6]। अपनी

---

१- हौं छिपाउं एहि सरवर माँही, तुम्ह खोजहु कोउ पाव की नाहीं ।
माँहि खोजत जो बाहर आवै, हारउ बपा मांग सो पावै ।।
उ०चि०पृ० ४७ ।

२- के०की० १।२७ ।

३- देखे जिन्हैं ठाढ़े हूँ अखाड़े बीच लेत ताल,
ताल को उठावै है उताल भूमि चूमि के ।
दी०ग्रं०पृ० १४४ ।

४- मनूची -स्टोरिया द मोगार - पृ० १९१।

५- काटे जो सीस काटत फेरे पाव,
मगर के खेल क्यों सुभट पद पावही ।
के०की० १।१९७ ।

६- के०क०प्रिव पृ० १३० ।

कवि प्रिया में ही केशवदास ने तीतर, क्रौंच, पिक, केकी, केक, कुररी तथा कलहंस आदि पक्षियों तथा शरभ, वराहशोध, सिंह तथा शूकर आदि का शिकार करके खाने का उल्लेख भी किया है[1]। आखेट के लिए प्रस्थान करते समय विभिन्न बाजों एवं निशान के साथ शासक निकला करते थे[2]। स्त्रियां भी शिकार करने और उसे देखने में अभिरुचि रखती थीं। हम्मीर रासो में बेगमें सुल्तान से बंगल में हिरन का शिकार के समय साथ जाने का आग्रह करती हैं। सुल्तान की आज्ञा पाकर बेगमें सभी साज के साथ तैयार होती है। बंगल में पहुंच कर ये मृगनयनी रामवनिताएं किस ओर जाती हैं वन-वीथियों में से खोज खोज कर मृगों का शिकार करती हैं[3]। कासिमशाह ने भी शिकार का वर्णन किया है मनोरंजन के लिए पहले खेलते हैं फिर जाल डाल कर मछलियां मारी जाती हैं फिर जन्तु शिकार होते है। कहीं घोड़े दौड़ते है कहीं बान से शिकार होता है[4]।

---

१- के०क०पि० पृ० १३१।

२- चले शाह आखेट बज्जे निशानं।
को०ह०रा०पृ० १६।

३- मालती जा एक बार हम सब को ले साथ में
बंगल हरिन शिकार खेलौं, यह मरजी करैं।
† † †
सबे साज सुल्तान संभारी सजी बेगमें साज सिंगारी।
† † †
कोनी ओर जाती वनवीथिन में कोनी ओर,
हेरि हेरि मारत मृगन मृगनैनी है। को०ह०रा०पृ० ३-४।

४- प्रथम खेला खेल निवारा, जाल डाल मछली बहु मारा।
फेर बाज स्वान की बाना सब ऊपर पाखिन के ताना॥
† † †
कहीं घुघुरू तुरी दौरावैं, कहिं सो कोई बान चलावै।
क०के०व०पृ० ७६-७६।

९६- स्त्रियों के द्वारा विशेष रूप से खेले जाने वाले खेलों में पमारी तथा आंख मिचौली अथवा चोर-सिंहोचनी के उल्लेख काव्य में प्राप्त होते हैं। पमारी की चर्चा जयदेव के काव्य में आई है। चित्रावली अपनी सहेलियों के साथ चित्सारी में पमारी का खेल खेला करती है[1]। आंख-मिचौली का खेल प्रायः स्त्रियाँ ही खेलती हैं किन्तु कभी कभी नायक अथवा प्रेमी भी इसमें अपना सहयोग देता है। केशवदास ने रसिकप्रिया में श्याम के साथ चोरसिंहोचनी खेलने का उल्लेख किया है[2]। रहीम ने टोलियों में खेलने का वर्णन किया है, इनके नन्दकिशोर वृषभानुकुमारी को छू कर चोर बना देते हैं[3]। मतिराम की नायिका सखी से पिछले दिनों की भांति आज भी चोर सिंहोचनी खेलने जाने की चर्चा करती है[4]। इनकी अज्ञात यौवना नायिका नायक द्वारा आंख मूंदी जाने पर सात्विक भाव के कारण पहले वाले मनु, का वास्तविक कारण न समझ पाने के कारण आंखमिचौली खेलने को मना करती है। उसका विचार है कि नायक शरारत करने के लिए हाथों में क्यूर लगाकर आंखें बन्द करता है[5]। कान्ह कवि की राधा के दीर्घांकित छणों का

---

१- बारी यह वो है चितसारी, जहं चित्रावलि खेलि पमारी ।ज०वि०पृ०५१।

२- बानि के अबिर आज रजनी में सबनी री,
सांची कीन्हीं श्याम चोरसिंहोचिनी खेलि के । के०र०प्रि०पृ० ५९ ।

३- खेलत जानिसि टोलवा, नन्दकिशोर ।
छुइ वृषभानु कुमरिया, होइ गइ चोर ।
रहीम -र०को०पृ० २९६ ।

४- खेलन चोर सिंहोचिनी - आजु गई हुती पाछिले भौसे की नाईं ।
म०मं०पृ० २०६ ।

५- लाल, तिहारे संग मैं खेलै खेल बनाइ ।
मूंदत मेरे नयन ही करन क्यूर लगाइ ।।
म०मं०पृ० २०६ ।

का विस्तार उसके कानों को छूता है जिसके कारण कभी कभी साथ खेलने वाली सीक बाती हैं, छोटी होने से राधा की बड़ी बड़ी आंखें आ ही नहीं पाती[1]। अकबरशाह ने भी बांध सिवनी के खेल का उल्लेख किया है[2]।

९७- स्त्रियां समयानुसार हिंडोले अथवा झूले से भी अपना मनोरंजन करती हैं। घरों के अतिरिक्त बाग और उद्यानों में पड़े झूलों की चर्चा साहित्य काल में प्राप्त होती है। बिहारी की नायिका मना करने पर और भी हठ करती है। झूलते समय न वह डरती है न संकुचित होती है। झूले पर पेंग बढ़ाते समय उसकी कमर सरक-सरक जाती है और टूटने से बच जाती है। नवोढ़ा नायिका प्रियतम को देखकर हिंडोले - रूपी आकाश से परी सी टूट पड़ी। प्रियतम ने उसे बीच ही में रोककर पृथ्वी पर खड़ा कर दिया[3]। दीनदयाल गिरि ने बड़ी सजीवता से झूलते हिंडोले का वर्णन किया है। हिंडोला झोंका खाकर ऊपर पेड़ की डालों से मिल जाता है। झूलती स्त्रियों के कांचल की मुक्ताएं खिलती हैं, पेंग बढ़ाने की क्रिया में भुजाओं का उचकना और झकोर खाना नहीं भूलता[4]। विरह वारीश में

---

१- कानन सों अंखिया मे सिहारी,
हंसी हमारी कहां लगि फैलि है।
राधे की मानो झूठी कि पुरी,
अंखि मूंदनों संग बिहारे न देखिहै ।। का०ह०सा०पु०पु० १२२।

२- अ०मु०मं०पु० ११९-१२१।

३- बरबै दूनी हठ चढ़ै, न सकुचै, न सकाइ।
टूटत कटि दुमची मचक लचकि लचकि बचि जाइ ।।बि०र०दो०६८६।
हेरि हिंडोरै गगन तें परी परी सी टूटि।
धरी-धाइ पिय बीचहीं करी खरी रस लूटि ।। कि०र०दो० ९९।

४- दी०मं०पु० २३।

आषाढ़ के दिनों में दंपति मिल कर हिंडोला झूलते हैं और विरहिणी नायिका उन्हें देख देख कर संतप्त होती है[1]।

अंतर्गार क्रीड़ाएं:

९८- घर के भीतर खेले जाने वाले खेलों में शतरंज, चौपड़, चित्रांत तथा जुआ आदि खेलों के संदर्भ रीतिकालीन काव्य में प्राप्त होते हैं। केशव की नायिका अपनी सहेलियों के साथ शतरंज खेल रही थी तभी वहां नायक भी आ गया[2]। रसिकप्रिया में भी केशव ने शतरंज की बाजी का उल्लेख किया है[3]। सेनापति के अनुसार शतरंज की बाजी तभी जीती जा सकती है जब ध्यान मुहरे पर ही रखा जाय[4]। छंद-नवाहिर में कासिमशाह ने दो पृष्ठों में शतरंज के खेल का विस्तृत वर्णन किया है[5]। चौपड़ का खेल मध्यकाल में बहुत लोकप्रिय था। सेनापति ने श्लेष द्वारा चौपड़ का वर्णन किया है जिसमें पासे, हाथी दांत की सीधह गोटी, रंगीन बिसात, गोट गिन कर चलने, गोट पीटने तथा हार-जीत का उल्लेख है[6]। चौपड़ को ही पांसा भी कहा गया है। पद्माकर ने पांसा खेलने की चर्चा की है[7]। दीनदयाल

---

१- दंपति मिलहिं हिंडोरा झूलहिं, मोहि विरह की शूल न भूलहि।
को०वि०वा०पु० १३८।

२- केशव ही सतरंज बलिनि में बाजीहिते
तहां हरि आए जियों जादु के बुलाए री।
के०क०प्रि०पु० ११९।

३- के०र०प्रि०पु० १११।
४- से०क०र०पु० १२३।
५- का०छं०न०पु० १८२-१८३।
६- से०क०र०पु० ८।
७- पासा सारि खेलि जित कौन मनुहारिन सौं,
जित मनहरि मनि हारि हरि आए हौ।
प०मं०पु० ११६।

ने चौपड़ का प्रयोग अपनी अभिव्यक्ति में किया है[1]। सुंदरदास ने दो व्यक्तियों के चौपड़ खेलने का वर्णन किया है जिसमें जीतने वाला प्रसन्न होता है और हारने वाला उसासे भरता है[2]। जुआ खेलने के उल्लेख भी मिलते हैं। बोधा ने कार्तिक मास में जुआ खेले जाने की चर्चा की है[3]। जुआ व्यसन के रूप में भी प्रचलित था। अतः संत सुंदरदास ने इसकी निन्दा की है[4]।

बालकों के खेल:

९९- बालकों के द्वारा खेले जाने वाले खेलों में लकड़ी के घोड़े, फिरकी, चकई, घुनघुना, लट्टू, गेंद, गिल्लीडण्डा, तथा दुडुरवा के उल्लेख मिलते हैं। सुंदरदास ने छोटे बालक द्वारा लकड़ी के बरब पर बैठ कर खेलने - कूदने की चर्चा की है[5]। प्रेम और लज्जा के द्वन्द में पड़ी नायिका व्याकुल होकर दोनों ओर डिगी रहती है अतः उसका दिन फिरकी[6] सरिस बीतता है[6]। सद्गुरु बाई के मनुहार गुरु की शिक्षा तभी भली सिद्ध हो सकती है जब वह चकई और डोर की भांति हो। जैसे बिधर से डोर खींच दी जाय चकई उधर ही जाती है उसी प्रकार अपनी बान छोड़कर गुरु के को

---

१- दी०गृ०पृ० १०९।

२- दोइ बने मिलि चौपर खेलत डारि डरे पुनि डारत पासा।
जीतत है सु सुखी मन में बरि हारति हैं सु भरैं उसासा॥
सु०गृ०पृ० ६०४।

३- बो०वि०वा०पृ० १४२।

४- सु०गृ०पृ० ८४२।

५- ज्यौं लकड़ी के बरब चढ़ बालक डोलै बाल। सु०गृ० पृ० ७७१।

६- नई लगनि कुल की सकुच बिकल भई मकुलाइ।
दुहूं ओर ऐसी फिरति, फिरकी लौं दिन जाइ॥
वि०र०दो० २०५।

पर ही चलना चाहिए[1]। चर्खा सीखते हुए बालक की चर्चा दीनदयाल गिरि ने भी की है। दीनदयाल गिरि ने चर्खे के अतिरिक्त बाल कृष्ण द्वारा सखाओं के साथ घुनघुना और कंचन के लट्टू खेले जाने का उल्लेख किया है[2]। कहीं कृष्ण झगला पहने हुए घुनघुना बजाते चित्रित हैं। बख्शी हंसराजसिंह ने बालकृष्ण की समझदारी यशोदा का चित्रण किया है जिसमें कई खेलों का उल्लेख हुआ है। यह कृष्ण को खेलों के स्थान पर गेंद खेलने को कहती है और हुड़ा देकर हुड़दंगा खेलने तथा गिल्ली डंडा खेलने को वह मना करती है[3]।

निष्कर्ष:

१००- रीतिकालीन काव्य में चित्रित समाज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करते समय, सामान्यतः मनोरंजन, शृंगार-प्रसाधन आदि को देखने के पश्चात्, विशेष रूप से, यह प्रश्न स्वतः उठता है कि क्या इनका वही और उतना ही मूल्य मध्योत्तरकाल में था जो संतुलित जीवन में होना चाहिए ? क्या तत्कालीन सामाजिक इन कार्यों में उतना ही समय, श्रम एवं

---

१- सखी सिख ऐसी भली जैसे चर्खा-डोर।
गुरु फेरे त्यौंही फिरै त्यागे अपनी ओर ॥
सखी०स०पु०पृ० २५।

२- दी० ग्रं० पृ० ८, ३२।

३- सुनो सांवरे खेल हुड़दंगा हूढ़ा दै नहिं खेलौ।
↑ ↑ ↑
जिन खेलौ तुम डंड सांवरे लखन पै दु खिलैया।
↑ ↑ ↑
गेंदन गिल्लीडंड नहिं खेलौ यही सिखावन मेरी।
हंसराज-बा०पु० पृ० २६३।

धन का व्यय करता था जो एक प्रबुद्ध राष्ट्र के सामान्य नागरिक के लिए काम्य एवं उचित है ? तत्कालीन राष्ट्रीय जीवन व्यापक रूप से ऐसा था या नहीं यह और बात है किन्तु रीतिकाल के प्रतिनिधि काव्य के आधार पर समाज का जो चित्र बनता है उसमें वांछित संतुलन नहीं है । समाज का वह वर्ग जिस पर समाज की शांति, सुरक्षा एवं सुव्यवस्था का दायित्व है, जो अपेक्षाकृत संस्कृत और सभ्य समझा जाता है, प्रयोजनहीन कार्यों में अपना समय बिताता है । मनोरंजन की आवश्यकता तो तब होती है जब मन और शरीर में थकान हो, किन्तु रीतिकाल का कवि अपने सामाजिक को (यह स्मरणीय है कि उसके नायक प्रायः उच्चवर्गीय हैं) मनोरंजन में ही रमाये रखता है । कर्म से विरत हो विश्राम के लिए वे मनोरंजन नहीं करते, मनोरंजन ने प्रायः कर्म का स्थान ले लिया है । समकालीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह वर्ग अकर्मण्य एवं विलासी था । रीतिकालीन काव्य के मनोरंजन संबंधी वे ही प्रकरण सहज और सजीव हैं जहां कवि पूर्वाग्रह मुक्त होकर लोकजीवन में प्रवेश करता है, किसी गंवारिन को झूला झूलते देख लेता है अथवा किसी बालक को घुड़दौड़ खेलते पा जाता है ।

---

# अध्याय ५

## संस्कार - पर्वादि

## अध्याय ५

## संस्कार पर्वादि

### आधार सामग्री

समकालीन समाज के संस्कार, पर्व और उत्सवों आदि से संबद्ध आधारभूत सामग्री हमें प्रचुरता के क्रम से रीति कवियों, चरित काव्य लेखकों, सन्तों, सूफी कवियों और कृष्ण भक्त कवियों से प्राप्त होती है। रीति कवियों में घनानन्द (१७४६-९६) का कोश इस संबंध में विशेष रूप से सहायक होता है। उनके अतिरिक्त कालक्रम से केशव (१६१२-१६७४) सेनापति (१६४६) बिहारी (१६६७-१७२०) मतिराम (१६७४-१७४८) देव (१७२०-१८०२) और पद्माकर (१८१०-१८९०) की रचनायें से हमें आधार-सामग्री प्राप्त होती है चरित-कवियों में इस दृष्टि से सूदन (१८२०) का काव्य सर्वाधिक संपन्न है। इनके अतिरिक्त भान (१७१७) गोरेलाल (१७६४) और बोधराज (१८०५) के चरित काव्य इस संबंध में हमारी सहायता करते है। सूफी कवियों विशेष रूप से उस्मान (१६७०) और बोधा (१८०४) के काव्यों से प्रचुर सामग्री प्राप्त होना भी अत्य न्त रोचक है, इस दृष्टि से कि ये कवि या तो स्वयं मुसलमान थे या सूफी धर्मानुयायी होने के कारण उस सांस्कृतिक परंपरा के अधिक निकट थे। संतो में उत्सव और त्यौहारों के प्रति सामान्य रूप से उदासीनता ही मिलती है किन्तु सुन्दर (१६५३-१७४६) दरिया साहब (१६९१) और पलटू साहब का काव्य भी इस संबंध मे हमें सामग्री प्रदान करता है। सहजो बाई(१८१५), जिनमें लोक-जीवन के अन्य उपकरणों का प्रचुर उल्लेख मिलता है, यह प्रकरण क्यों अनुपस्थित है कहा नहीं जा सकता। कृष्ण भक्त कवियों में से नागरीदास को छोड़कर और किसी से उल्लेख्य सहायता नहीं मिलती।

### भारतीय सांस्कृतिक परंपरा मे संस्कार:

१- संस्कार हिन्दू धर्म के महत्वपूर्ण अंग है। इनका उदय सुदूर अतीत में हुआ था और काल-प्रवाह के साथ अनेक परिवर्तनों सहित ये आज भी जीवित है। हिन्दू संस्कारों का विवरण वैदिक सूत्रों, कतिपय ब्राह्मण ग्रंथों, गृह्य तथा धर्म

सूत्रों, स्मृतियों तथा परवर्ती निबंध ग्रंथोंमें पाया जाता है। शनैः शनैः संस्कारों के धार्मिक वृत्त में अनेक सामाजिक तत्व प्रवेश करते गये। संस्कार शब्द का उपयुक्त अंग्रेजी पर्याय "सेक्रामेन्ट"( Sacrament ) शब्द है जिसका तात्पर्य धार्मिक विधि विधान या कृत्य से है जो आंतरिक तथा आत्मिक सौंदर्य का बाह्य तथा दृश्य प्रतीक माना जाता है। डा० राजबली पाण्डेय के अनुसार "इस प्रकार यह(शब्द) अन्य धार्मिक कृत्यों को भी व्याप्त कर लेता है जो संस्कृत साहित्य में शुद्धि, प्रायश्चित्त, व्रत आदि शब्दों के अन्तर्गत किये जाते हैं।"[१]

विभिन्न सूत्रों एवं स्मृतियों में संस्कारों की विभिन्न संख्याएं दी गयी हैं, तथापि सर्वाधिक लोकमान्य संस्कार सोलह ही रहे हैं। अर्वाचीनतम पद्धतियों में भी निम्नलिखित सोलह संस्कार स्वीकृत किये गये हैं- गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णवेध, विद्यारंभ, उपनयन, वेदारंभ, केशांत, समावर्तन, विवाह एवं अंत्येष्टि। इनमें से कुछ ही संस्कार ऐसे रह गये हैं जो अब भी यथाविधि संपन्न किये जाते हैं। नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण(मुण्डन) कर्णवेध (छेदन) विवाह और अंत्येष्टि ऐसे ही महत्वपूर्ण संस्कार हैं जिन्हें सर्वग्रासी काल कवलित नहीं कर सका।

१- रीतिकालीन काव्य में भी हमें सोलह संस्कारों में से प्रत्येक का सविस्तर उल्लेख नहीं प्राप्त होता। कवियों ने संस्कारों के उल्लेख वहीं किये हैं जहां उनका स्मरण उनके वर्ण्य विषय के लिए आवश्यक और उनकी रूचि के अनुकूल था। स्वतंत्र रूप से संस्कारों का विवरण रीतिकालीन काव्य में नहीं प्राप्त होता। रीतिकाल में रचे गये प्रबन्ध काव्यों में यथास्थान संस्कारों के कुछ उल्लेख मिलते हैं पर इनमें भी विवाह संस्कार के अतिरिक्त अन्य संस्कारों के

---

१- डा० राजबली पाण्डेय --हिंदू संस्कार पृ० १८।

पद्धतियों सहित वर्णन नहीं किये गये है ।

सीमंत:

१- सीमंत संस्कार प्राग्जन्म संस्कारों में से एक है । इसमें गर्भिणी के केशों को ऊपर की ओर उठाया जाता है एवं मातृत्व की गरिमा से संपन्न होने के लिए उसे बधाइयां एवं आशीर्वाद दिये जाते है । मतिराम ने एक स्थान पर "सीमंत" की चर्चा की है । सीमंत विधि संपन्न करने के लिए नायिका पति के साथ गांठ जोड़ कर चौक पर बैठी है और पड़ोसी को देख कर मन ही मन घूंघट में मुस्कराती है । वस्तुतः इस संस्कार को संपन्न करवाने का नेग पड़ोसी को ही है नायिका के पति को नहीं[1]। संभवतः यह संस्कार इस समय तक बहुत महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय नहीं रह गया था और कुछ विशिष्ट लोगों के बीच साधारण रूप से संपन्न हो जाता था ।

जातकर्म:

२- यह संस्कार प्रसव के समय एवं उसके बाद की विविध आवश्यकताओं से संबंधित है । स्मृतियों में इसी समय नांदी-श्राद्ध करने का अनुमोदन किया गया है । केशव ने जात कर्म संस्कार वेदानुसार सम्पन्न होने का उल्लेख किया है[2]। काव्य में पुत्र-जन्म के समय होने वाले विविध उत्सवों, जन्मपत्री लिखने एवं छठी-बरही के वर्णन इसी संस्कार से संबंधित माने जा सकते है ।

३- आदि काल से पुत्री की अपेक्षा पुत्र का महत्व अधिक रहा है । इसमें समयानुसार धार्मिक,आर्थिक एवं सामाजिक कारणों ने योग दिया । पुत्र

---

१- कंत चौक सीमंत को बैठी गांठि जुराय ।
देखि परोसिनि की प्रिया घूंघट में मुसकाय ।। म०मं०पु० २८६ ।

२- पुत्र है भले एक ही पुत्री सब गुनि ।
जातकर्मादि आदि दै सब किए वेद मतानि ।।
के०की० २।२१६ ।

जन्म से पितृ-ऋण चुकाया जा सकता है और श्राद्ध-तर्पण आदि के द्वारा यहीं परलोक में भी शान्ति एवं सुख की कामोचना कर सकता है। पुंसवन संस्कार का आधार पुत्रैषणा ही है। पुंसवन वह कर्म है जिसके अनुष्ठान और संपादन से पुरुष-संतान का जन्म हो। आलोच्यकाल में भी पुत्र का महत्व स्वीकार किया गया है। कासिमशाह ने कहा है विधि ने राजा को सभी सुख-भोग प्रदान किये हैं परन्तु केवल एक वंश के चलाने वाले के बिना सभी व्यर्थ है। सभी सुख एवं धन का भण्डार तभी सार्थक है जब घर की उजाला पुत्र हो[1]। उस्मान ने भी अनन्त स्वर्ण-लक्ष्मी एवं अपार सैन्य होने पर भी एक संतान दीप के बिना सम्पूर्ण राजभवन को अंधियारा कहा है[2]। पुत्र की प्राप्ति के लिए सभी प्रकार के धार्मिक कृत्य सम्पादित किये जाते है, ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है[3]। यती सन्यासियों का आदर - सत्कार कर, उनके पांव पखार हाथ जोड़, विनती करके उनकी आज्ञा का पालन किया जाता है[4]। निस्सन्देह इतने यत्न से प्राप्त पुत्र के लिए क्या नहीं किया जा सकता। राजा सोना रूपा, नग, गाय, भूमि एवं वस्त्र आदि का

---

१- अति सुख भोग दीन्ह विधि राजा एक वंश बिन सबै अकाजा।
सब सुख नेक जो वंश अंधारा जो घर होय दीप उजियारा॥
का०इ०व०पृ० ९।

२- अनपत हेम जो लच्छमी सैन अनेक अपार।
एक दीप संतति बिना राजभवन अंधियार॥ उ०चि०पृ० १५।

३- पूत निमित्त धरम सब कीजै, धरमशास्त्र के भोजन दीजै॥उ०चि०पृ०१६।

४- यती सन्यासी जो कोउ आवै, सुनत नाउं राजा उठि धावै।
अपने नगर बोलाइ के आन पखारे पांव।
कर जोरे विनती करै आगुवा सीस चढ़ाय॥
उ०चि०पृ०१७।

भण्डार सब के लिए खोल देता है[1]। हर्ष का पारावार मंगलचार का रूप ले लेता है और आठो दिशाएं विभिन्न वाद्य यन्त्रों की ध्वनि से गूंज उठती हैं। पुत्र जन्म की घड़ी धन्य मानी जाती है[2]। पीले सुन्दर वस्त्र धारण किये स्त्रियां मंगल गीत गाती हैं और नौबत आदि के गंभीर नाद से गगन गूंज उठता है[3]। खोल झांझ और शहनाई के साथ घर-घर बधाई बजती रहती है, भंडार से मोतियों के थाल भर भर लुटाये जाते हैं[4]। मागध, सूद एवं बादीगण विरुदावली गाते हैं और हर्षित होकर नेग के लिए लड़ते हैं[5]। घरों के द्वार कलश और पताका से सुसज्जित किये जाते हैं[6]। दही, दूब एवं हल्दी से भरे थाल लेकर बालाएं गाती हैं। हल्दी और दही के कारण फाग-सी मच जाती है[7]।

७- हर्ष एवं उत्साह के मध्य धार्मिक क्रियाओं में कोई व्यवधान नहीं पड़ता। जन्म के उपरान्त शीघ्र ही ज्योतिषी बुलाये जाते हैं। विप्रगण आशीष देते हैं, और उचित आसन ग्रहण करके जन्म-पत्री लिखना प्रारम्भ करते

---

१- खोल रूपक्का गाह भुंइ, पाटंबर सब घोर।
राजा खोलि भंडार सब, देत न लावै भोर। इ०वि०पु०२२ तथा
जोधराज-ह०रा०पु० ३४।

२- गोरेलाल- छ०पु०पु० २३।

३- मानकवि - रा०वि० पु० ३९।

४- घर घर बाजे बंद बधावा। मंगलचार लोग सब गावा।।
खोल भंडार खोल बरसावा। मोती भर भर थार लुटावा।।
का०इं०व०पु० १९।

५- ब०ग्र०पु० २३१।

६- जोधराज- ह०रा०पु० ३४।

७- दधि दूब हरद भरी कनक थाल। बहु गान करत प्रमिलंत बाल।।
जो० ह०रा०पु० ३४।

है[1]। देश-देश के पंडित धर्म-ग्रंथों एवं नक्षत्रों पर विचार करके, गृहदशाओं को देखते हुए लग्न के अनुसार कुंडली लिखते हैं[2]। जन्म के छठे दिन छठ्ठी अथवा छठी नामक समारोह होता है। बाजों के साथ नृत्य होते हैं और सोहर गाये जाते हैं। तरुणियां "सोहिले" गाकर रतजगा करती हैं[3]। सूदन, मानकवि तथा गोरेलाल ने भी छठी के उत्सव का वर्णन किया है। इस दिन हाथ में कुश एवं जल लेकर ब्राह्मणों को दान दिया जाता है। उस्मान ने इस अवसर पर

---

१- बसुपाल बेगि बोलसि बुलाइ। बासोध बिप्र दीनी सु आइ॥
दिनौ समान बैठक्क दीन। पढ़ि सिद्धत जन्म पत्र प्रबीन॥
मान०रा०वि० पृ० ३९।

२- देश देश के पंडित आये। पोथी काढ़ जन्म दरसाये॥ का०कं०प०पृ०१९।

३-(क) आधी राति भयो भौतारा, तरुनिन्ह रचा मंगलाचारा।
पंडितन्ह बैठि नखत करि साधी, उदै बिचार लगन गनि राधी।
भोर होत आए बोलवी, पाटा गरह कुंडली लिखी।
उ०वि०पृ० २०,२१।

(ख) जन्म तें रयनि छठी जगाय। दीपक उजोर दीने सुभाय॥
मा०रा०वि०पृ० ४१।

\+ \+ \+

सिल्पी छठी में सत्य सचाई। दान बूझ बल बूझ बड़ाई॥
गोरे० छ०प्र०पृ० २४

\+ \+ \+

छठी रति बाजन गह गहे, बाजे बी सब गावत रहे।
पुरजन्ह इन्द्र सभा जनु सारा, तरुनिन्ह गाइ कीन झिलुसारा॥
उ०वि०पृ० २१।

(ग) चौसा पुरुष डोल डमकारति। दस नट नचनि पुलकि किलकारति।
गावक बिबिध सोहिले गावत। मनभो मन बांछित फल पावत॥
प०गृ०पृ० २३१।

राजा के द्वारा गाय, स्वर्ण, नगजटित अंगूठी तथा बरछी वस्त्र दक्षिणा में देने का उल्लेख किया है[1]। पुत्र-जन्म के अवसर पर इस प्रकार किये गये जात-कर्म संस्कार को देख कर परलोक-वासी पितृगण के हृदय फूले नहीं समाते[2]।

नामकरण संस्कार:

८- बालक का नामकरण संस्कार भी अनेक विधि-विधानों के द्वारा संपन्न किया जाता है। सभी विद्वान् पंडितगण एकत्र होकर विचार विमर्श के पश्चात् बालक का नाम रखते हैं[3]। नामकरण करने के पूर्व लग्नों, राशियों एवं "होड़ाचक्र" आदि पर विचार करके तभी संस्कार संपन्न होता है। जन्म-पत्री का विचार भी नाम रखने के लिए किया जाता है। संस्कार संपन्न होने के साथ ही शिशु के मस्तक पर हल्दी एवं चावल छिड़क कर शुभ नक्षत्रों का बखान करने का उल्लेख भी प्राप्त है[4]।

---

१- नृप कर कुस पानी तब लीन्हा, दक्षिना सकल विप्र कहं दीन्हा ।।
गाय सोन मुंदरी नग जरी । पाटंबर बरछी पांवरी ।। उ०वि०पृ० २१।

२- जात कर्म कीन्हे सुख मूले, अमर पितर नर उर अति फूले ।
गोरे - छ०प्र० पृ० २४ ।

३-की रावकुंवार सुनाम संच बखानहु सु तुमहि विधि मान पंच ।
--कहे तब नाम रावकुंवार । प्रमोदित चित सबै परिवार ।।
मान०रा०वि०पृ० ४२ ।

४- मनि भाये हृदै नक्षत्र, गुनि-गुनि लीन्ह बखान ।
होड़ा चक्र विचारि के, राखो नाउ सुजान ।।
उ०वि०पृ० २१ ।

† † †

ईस नखत अनुरूप अरु बरष पंच परिनाम ।
जन्म पत्र तासे लिख्यो है छत्राल यह नाम ।।
गोरे० छत्र प्रकाश - पृ० २४ ।

निष्क्रमण संस्कार:

९- निष्क्रमण संस्कार प्रसूति-गृह से बाहर आने के विधि-विधानों एवं क्रियाओं से संबंधित है। माता एवं शिशु एक निश्चित दिन स्नान एवं पूजा आदि से निवृत्त होकर सौरगृह के बाहर निकलते हैं। मान ने शिशु जन्म के दस दिनों के पश्चात् सूतक निवारण के लिए जननी द्वारा स्नान किये जाने की चर्चा की है। इस अवसर पर स्वर्ण एवं अन्य वस्तुओं का दान दिया जाता है और परिवार में हर्ष मनाया जाता है[1]।

अन्न प्राशन:

१०- अन्न प्राशन संस्कार शिशु को प्रथम बार अन्न दिये जाने से संबंधित है। साधारणत: यह संस्कार शिशु के छः मास के होने जाने के बाद और बारह माह के होने तक में किसी भी समय सम्पन्न किया जाता है। इस समय तक शिशु के दांत निकल जाते हैं और वह अन्न को ग्रहण करने के योग्य हो जाता है। अन्न प्राशन को भाषा पसनी अथवा पासनी भी कहा जाता है। गोरे लाल छत्रप्रकाश की "पासनी" किये जाने का उल्लेख किया है पर इसकी पद्धति का वर्णन नहीं मिलता[2]।

चूड़ाकर्म:

११- चूड़ा-कर्म संस्कारको मुंडन संस्कार भी कहा जाता है। इसमें शिशु के केशों को कटवाने की क्रिया होती है। चूड़ाकर्म संस्कार के पूर्व बालक के सिर पर गर्भ के बाल होते हैं। रीतिकाव्य में चूड़ाकर्म संस्कार का उल्लेख केशव ने एक

---

१- बहु करत कोड दस दिवस बित। बक्कांत देह इम गब सुचित ।।
सूतक निवारि किय जननि स्नान। सुख निरखि निरखि हरषात सुजान ।।
मान०रा०वि०पृ० ४१ ।

२- प्रकट पासनी में छवि छाई ।
गोरे लाल - छत्र प्रकाश पृ० २४ ।

स्थान पर किया है । वीरसिंहदेव के सुख-शांति से संपन्न राज्य में बालों का नाश केवल चूड़ाकर्म संस्कार सम्पन्न होते समय ही होता है[1]। इस संस्कार के साथ भी नृत्यगीत आदि के आयोजन एवं उत्सव होते है ।

कर्णविध:

१२- कर्णविध संस्कार का संबंध कानवेधने की क्रिया से है । रीति काव्य में कर्णविध संस्कार का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त है यह सहज ही कहा जा सकता है कि उस समय कान एवं नाक में आभूषण धारण करने के लिए कानों में छिद्र कराये जाते थे । कानों में पहने जाने वाले अधिकांश गहने बाले, कुण्डल, कर्णफूल आदि कान के छिद्रों में ही पहने जाते हैं । नाक की कील तथा बेसर आदि भी नाक के छिद्र की सहायता से ही धारण की जाती हैं । बिहारी ने नाक के छिद्र का स्पष्ट उल्लेख किया है[2]। साथ ही यह संस्कार अधिकतर मुंडन संस्कार के साथ सम्पन्न कर लिया जाता है । रीतिकाव्य में कर्णविध संस्कार का स्पष्ट एवं अलग उल्लेख न आने का एक कारण यह भी हो सकता है ।

विद्यारम्भ संस्कार:

१३- बालक की मेधा एवं वाक्शक्ति के समुचित विकसित हो जाने पर उसे विद्या अध्ययन के लिए तैयार होना पड़ता है । विद्या के क्षेत्र में बालक का प्रथम चरण विद्यारम्भ संस्कार के साथ पड़ता है । यह संस्कार बालक की आयु के पांचवें वर्ष में सम्पन्न किया जाता है । किसी शुभ दिन

---

१- बाल नाश है चूड़ाकर्म, तीजनता आयुष के धर्म ।
के०कौ०पु० २७० ।

२- बरबट बेसरु मो तिसी तो नासा को बेस ।।
बि०र०दो०२७ ।

पंडित अथवा गुरु को बुला कर यथाविधि पूजन करके बालक को गुरु के पाससौंप दिया जाता है। उस्मान ने कुमार के पांच वर्ष के हो जाने पर उसे गुरु के पास सौंप देने की चर्चा की है। पांच वर्ष के कुमार की बुद्धि एवं वाणी के उच्चारण ठीक हो जाने पर पंडित को बुलाकर रत्नों एवं मोतियों से भरे थाल को राजा ने सामने रक्खा। कुंवर की भुजा पकड़ कर उसे गुरु के चरणों में डाल कर कहा कि तुम गुरु के हो और यह चेला है[1]।

उपनयन संस्कार:

१४- विद्यारम्भ के बाद क्रम में उपनयन संस्कार का स्थान है। "उपनयन" अर्थात् समीप ले जाना यह संस्कार वस्तुतः सवर्ण हिन्दुओं के बालकों कोवेदाध्ययन के लिए गुरु के पास ले जाने की दृष्टि से सम्पन्न किया जाता था। सोलह संस्कारों के मध्य उपनयन संस्कार का महत्व यह है कि यह बालक के एक सभ्य प्रशिक्षण काल का प्रारम्भ घोषित करता है। गृह्य सूत्रों में प्रतिपादित तथा अन्य आचार्यों द्वारा अनुमोदित सामान्य नियम यह था कि ब्राह्मण के पुत्र का उपनयन संस्कार आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य की पुत्र-सन्तान का बारहवें वर्ष में होना चाहिए। भारत की वर्ण-व्यवस्था का विकास कुछ ऐसा रहा है जिसके कारण ब्राह्मण वर्ग को ऐसा कार्यक्षेत्र उपलब्ध हुआ जिससे उसकी संतान स्वभावतः अल्पवय में ही उन विद्याओं का अध्ययन करने योग्य हो सकती थी जिनका अध्ययन अन्य वर्ग में अपेक्षाकृत अधिक वय में संभव था।

---

१- —पांच बरिस को भयो कुमारा, बुद्धि बचन सब भुख उच्चारा।
तब बिद्याधर पंडित हंकारा, आवा बड़ सुर गुरु मनिहारा।
मानिक रतन थार एक भरा। राजा गुर के आगे धरा।
गहि भुज कुंवर पांय तर मेला। कहेसि कि तुम गुरु एह तुव चेला॥
इ०वि०पृ० २२।

कदाचित् अन्य वर्णों में अधिक आयु में यह संस्कार संपन्न होने के पीछे यही कारण रहा होगा । इसके सम्पादन में बालक को यज्ञोपवीत धारण कराया जाता था । यज्ञोपवीत या जनेऊ मंत्र-सिद्ध धागा होता था जो अब भी प्रचलित है, इसे बालक अपने दाएं स्कंध से डाल कर बाईं ओर कमर पर छोड़ता था । यद्यपि रीतिकालीन काव्य में यत्किंचित् कारणों से उपनयन संस्कार का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं होता, कदाचित् इसलिए कि प्रबन्ध-लेखन प्रवृत्ति का अभाव होने के कारण हमारा कवि जीवन को, उसकी संपूर्ण व्याप्ति के साथ, काव्य में अवतारणा करने का प्रयत्न नहीं करता था । केशव के काव्य में, केशव के स्वयं ब्राह्मण होने और ब्राह्मणत्व के प्रति एक प्रकार का लगाव और आत्माभिमान होने के कारण प्रायः कर्म काण्ड के उल्लेख यथावसर आते रहते हैं, किन्तु उपनयन या यज्ञोपवीत का उनमें भी विशद् वर्णन का अभाव है । राम के राज्य की सुव्यवस्था और जनसाधारण की धन-धान्य सम्पन्नता का तथा निर्धनता और विपन्नता के सर्वथा अभाव का उल्लेख करते हुए केशव ने बताया है कि लोग भिक्षादान एक धार्मिक औपचारिकता का निर्वाह करने के लिए केवल यज्ञोपवीत या जनेऊ के समय ही लेते हैं[1] । इससे यह विदित होता है कि यज्ञोपवीत के समय धार्मिक उपचारार्थ भिक्षा मांगने की परम्परा, जो प्राचीन काल से चली आ रही थी, और जो पर्याप्त सीमा तक आज भी ब्राह्मण परिवारों में रक्षित है, वह आलोच्य-काल में भी वर्तमान है ।

१५- उपनयन संस्कार के पश्चात् छात्र वेदारम्भ करता है । तत्पश्चात् सोलह वर्ष की वय में शास्त्रों में केशान्त संस्कार की व्यवस्था की गयी है । गुरु-कुल में रहकर एक लम्बी अवधि तक सांसारिक सुखों से दूर ब्रह्मचारी के संयम और अनुशासन का अनुवर्तन करते हुए छात्र के लिए तत्कालीन उपलब्ध ज्ञान-सामग्री के अर्जन की व्यवस्था थी । विद्याध्ययन समाप्त होने पर वटुक के गुरु-कुल छोड़ने पर भी समावर्तन का संस्कार भी संपन्न होता था यह विद्यार्थी

---

१- देत जनेऊ भिक्षादान————

के०गृ०, पृ० २७० ।

जीवन की समाप्ति का सूचक था । इनके उल्लेख रीतिकाव्य की भांत सीमाओं में उपलब्ध नहीं होते । इसके अनेक कारण हो सकते है किन्तु एक सर्वप्रधान कारण है कि प्रारम्भ में इन संस्कारों के सम्पादन जितनी कठोरता और नियमबद्धता से होते थे वह व्यवस्था धीरे-धीरे बहुत कुछ ढीली होने लगी थी । इनके विभावन के वैज्ञानिक मूलाधार प्रायशः छूट गये थे, स्थूल औपचारिकता शेष रह गयी थी और व्यवसाध्य और निरर्थक औपचारिकता का अधिक दिनों तक निर्वाह प्रायः संभव नहीं होता । इसके भी प्रमाण नहीं मिलते कि तत्कालीन भारत में, गुरुकुलों और विद्यालयों की संख्या इतनी रही हो कि विद्यारम्भ से समावर्तन तक के संस्कारों, का उनकी पूर्ण शास्त्र-सम्मत व्यवस्था और सार्थकता के साथ सम्पादन किया जा सकता । इसलिए यह निष्कर्ष निकालना निराधार नहीं होगा कि किसी बड़ी पैमाने पर या कम से कम सार्वभौम रूप से इन सभी संस्कारो का विधिवत निर्वाह नहीं होता था ।

## विवाहः

१६- भारत की सामाजिक रचना की प्राथमिक इकाई परिवार है। जिस समाज में परिवार का स्थान जितना महत्वपूर्ण और सर्वग्रासी होता है, वहां जन्म से मृत्युपर्यन्त जीवन के सारे उच्चावच, सुखदुख, उपलब्धि और अभाव परिवार की सीमाओं में ही मिलते है, वहां परिवार के कारणभूत व्यवस्था का स्थान निस्संदेह अपेक्षाकृत अधिक महत्व ग्रहण कर लेता है । भारत की पारिवारिक रचना बहुत सुसंगठित एवं जटिल रही है । भारतीयों के जातीय चरित्र के बहुत-से गुण सहिष्णुता, उदारता, सामाजीकता, सेवाभाव आदि के पाठ परिवार की पाठशाला में ही पढ़े - पढ़ाये जाते रहे है । विवाह -स्त्रीपुरुष का एक दूसरे के सहचर बन कर जीवन आरम्भ की औपचारिक व्यवस्था-परिवार की आधारशिला है । हमारे देश के समाज में सामाजिक उपचारों को धर्म से जुड़ कर उन्हें प्रायः धर्म की सीमा का संस्पर्श कराने की प्रवृत्ति रही है । इसीलिए हिन्दू विवाह एवं सामाजिक समझौता

मात्र न होकर एक धार्मिक कृत्य एवं संस्कार के रूप में ग्रहण किया जाता रहा है। विवाह को जीवन की महानतम उपलब्धियों का राजमार्ग माना जाता है। विवाह न करने वाले व्यक्ति का हमारे शास्त्रों ने अग्रलिखी या एव यो पत्नीकः" कहकर यज्ञहीन घोषित किया है। वस्तुतः विवाह का महत्व अनेकमुखी है। व्यक्ति के स्तर पर यह मानव-स्वभाव की मूलभूत वृत्ति "काम" की उपलब्धि का माध्यम है। सामाजिक स्तर पर यह पारिवारिक व्यवस्था को अधिक संगठित कर उसका आधार दृढ़ करता है। मानव की एक बड़ी ऐन्द्रिय बुभुक्षा, अवैध यौन-पिपासा को संयमित और सीमित कर, बड़े पैमाने पर, समाज में दुराचरण एवं भ्रष्टाचार की संभावनाओं को कम करता है। स्त्री और पुरुष के संबंधों को स्थूल ऐन्द्रिय धरातल से ऊपर उठाकर उन्हें एक स्थायी मानसिक राग और पारस्परिक आत्मसमर्पण का गौरव प्रदान करता है। स्त्री और पुरुष किसी ऐन्द्रिय भूख को मिटाने के लिए ही सहचर नहीं बनते, अपितु मानव जीवन के महानतम उद्देश्यों की प्राप्ति में सहभागी होते हैं। धार्मिक स्तर पर विवाह को स्वयं एक यज्ञ माना गया है। स्त्री और पुरुष यानी प्रकृति-और पुरुष सृष्टि के ये दो तत्व मिल कर इस जीवन यज्ञ को सम्पन्न करते है, सृष्टि का क्रम आगे बढ़ता है, मनुष्य की भावी पीढ़िया, जिनके अवतारणा का कारण यह विवाह ही है। मनुष्य जीवन के साध्य की सिद्धि में सतत् प्रयत्नशील रहने का अवसर पाता है। इस प्रकार विवाह के संबंध में भारतीय धारणा उसे केवल एक सामाजिक साझेदारी न मान कर जगन्नियन्ता परमात्मा के सृष्टि-योजना का एक अविच्छेद्य पुनीत अंग मानती है।

१७- विवाह के इस संस्कार को संपन्न करने के लिए अनेक प्रकार कि विधाएं प्रचलित रही हैं। हमारे यहां ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, एवं पैशाच विवाह के आठ प्रकार प्रचलित रहे हैं। वस्तुतः आलोच्यकाव्य में इन सभी विवाहों के अलग-अलग सीमा-रेखा-बद्ध विवरण प्राप्त नहीं होते और कदाचित् यह संभव भी नहीं है, क्योंकि कोई भी शास्त्रीय व्यवस्था जब मानव जीवन के व्यवहारिक धरातल का संस्पर्श करती है तो उसकी शास्त्रीय सीमाएं बहुत कुछ ढीली होने लगती है।

रीतिकाव्य में प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि पिता अपनी पुत्री के विवाह के लिए चिन्ताकुल है। चित्रावली की माता उसके विवाह के लिए चिन्तित है बेटी सयानी हो गयी है कुल मर्यादा की रक्षा के लिए यह अपेक्षित है कि राजा उसके लिए योग्य वर ढूँढे ताकि वंश का दीपक प्रज्वलित रह सके[1]। छंद-वधाहिर में भी इसी प्रकार का प्रसंग आया है। रानी राजा को उद्बोधित करती है कि तुम अपने सुख-ऐश्वर्य के उपभोग में लिप्त हो पर मैं क्या इसे योग्य सयानी पुत्री के ब्याह की चिन्ता नहीं कर रही हो। रानी अपने जीते जी अपनी बेटी का ब्याह देखने की प्रसन्नता प्राप्त कर लेना चाहती है[2]। वस्तुतः हमारे देश का सामाजिक संगठन ऐसा है जिसमें बेटी अनेक आर्थिक एवं सामाजिक कारणों से पिता के लिए बड़ी जिम्मेदारी होती है। कण्व जैसे महर्षि और वीतराग के लिए भी प्रणय-परिणयोपरान्त शकुन्तला का श्वसुर गृहगमन, उस दायित्व से मुक्तिजन्य सुख और पुत्री से विछोह के क्लेश का अनोखा संयोग प्रस्तुत करता है। विवाह का महत्व अधिक होने के कारण ही, स्वभावतः, विवाह का संपादन बड़ी प्रसन्नता का कार्य समझा जाता रहा है। लड़की वालों का दर्जा निश्चित रूप से नीचा रहता था और वे वर-पक्ष का विनम्रतापूर्वक स्वागत सत्कार करते थे, उनके उचित-अनुचित सभी आवश्यकताओं की पूर्ति का भरसक प्रयत्न करना, और उनके अनर्गल आरोपों को विनम्रता पूर्वक सहन करना वधू पक्ष का कर्तव्य था। नृपति भी पुत्री के विवाह में अकिंचन जन की भाँति हाथ जोड़ कर विनती करते हैं। पुनः पुनः

---

१- रानी कहा सुनहु नर नाहा, मोहिं पुनि अरक उठी मन माँहा।
चित्रावलि संजोग सयानी, कीजै सोई रहै कुल पानी॥
जोगिअ किहु एहि लगि ओरा, जेहि दीपक कुल होई अंजोरा॥
उ०चि०पृ० १८४।

२- अब तुम भूल रहहु सुख भोगा।
पर का बारी ब्याहन जोगा॥
जियत मुहास देखि सो लीजै।
बेगि विवाह वारि कर कीजै॥ का०ल०व०पृ० ६९।

वर पक्ष वालों का चरण-स्पर्श करते हैं। अपने अवगुणों को छिपाने का अनुरोध करते हैं[1]। भारत में प्राचीनकाल में गान्धर्व या ऐसे अन्य असंस्कारित प्रेम-विवाहों की परम्परा नहीं रही। लड़की का पिता प्रायः विवाह के प्रस्ताव को ले जाता है। लड़के वाले उसे स्वेच्छया स्वीकार या अस्वीकार करते हैं। कुल-पंक्ति आदि का विचार करने के उपरान्त यदि दोनों पक्ष प्रस्ताव स्वीकार कर लेते हैं तो वाग्दान होता है। वधू-पक्ष से स्वीकृति के उपरान्त नारियल भेज कर वाग्दान की औपचारिकता की पूर्ति की जाती है। नारियल स्वीकार कर वर-पक्ष विवाह को निश्चित कर देता है और वर का तिलक पुरोहित के द्वारा सम्पन्न होता है[2]। इसे सगाई भी कहते हैं। सगाई बहुत अल्प-वय में ही हो जाती थी। "बनारसी दास" नौ वर्ष के हुए तभी उनकी सगाई हो गयी थी और दो वर्ष बाद लग्न निश्चित होने पर ग्यारह वर्ष की आयु में उनके ब्याह का ठाठ रचाया गया[3]। छत्रसाल की भी सगाई पहले ही गयी थी तदुपरान्त विवाह की औपचारिक लग्न भेजी गयी[4]। लग्न शोधन का कार्य पुरोहितों द्वारा ग्रह-नक्षत्रों के विचार के आधार पर शुभ घड़ी को उद्देश्य में रख कर निश्चित किया जाता था।

---

१- नृप कर जोरे विनती करई, फिरि फिरि मह पांड से परइ।
तुम सब आपनि बानि बड़ाई, मों अवगुन सब लेब छिपाई॥
इ०वि०पृ० २००।

२- मन हरषंत सु पढ़ऐं, नालिकेर नर राव।
तपनिय साकति वर तुरग भूषन कनक सुभाव॥
नालिकेर आप्यौ नृपति सबल सवाई सथ्थ।
प्रोहित रावकुंवार के तिलक कठिठ निमहथ॥ मान०रा०वि०पृ०४८-४९।

३- बनारसीदास- अर्धकथा - पृ० १९।

४- त्यौंही लगन ब्याह की आई। पहिले ते ही रही सगाई।
छत्र०ग्र०पृ०पृ० ७०।

के बाजे डंका, शहनाई, भेरी, दमामा आदि बजते आ रहे हैं[1]। कन्या के घर में बारात पहुंचने पर द्वारचार की रस्म पूरी की जाती है। चित्रावली के घर बारात पहुंची है। अप्सराओं की भांति दो युवतियां कनक-कलश लिये खड़ी हैं[2]। द्वार पर दूल्हे को टीका लगाया जाता है, अनेक नेग दिये जाते है। मणिमालाओं से युक्त क्लेश खवाये जाते हैं[3]। उस्मान ने चित्रावली के द्वार पर वर एवं बरयात्रा की अगवानी का वर्णन किया है। जनवासे से बारात द्वार पर आती है स्थान-स्थान पर चम्पा, बूही, बाग केसन्दर, चन्द्रज्योति, मेहताब आदि फुलझड़ियां एवं आतिशबाजियां छूट रही हैं[4]।

१९- द्वारचार के उपरान्त विवाह के मुख्य कार्यक्रम आरम्भ होते है। दूल्हा सिर पर स्वर्णमणि जड़ित सेहरा धारण करता है[5]। कन्या के घर

---

१- सोहि सुघरी मंजूरति पढ़ा, साधि बराति मढ़ा से चढ़ा।
बढ़ि चंडोल कुंवर अभिलखा, माथे मुकुट बराउक राखा।
चमकहिं चुन्नी कुंदन रली, झूलहि झालर मुकुता झली।
पुनि नैनन्हि मंह काजर कीन्हा, दृष्टि सेवार चौंडरा दीन्हा।
हार हमेल फूल पहिराए, बी॰मुखपान कपूर खवाए।
डंका दमामा कन्हारा शहनाई बी॰ भेर।
पहुंची रहेउ मकूत होइ, सात कोस के फेर ।।उ॰चि॰पृ॰१९७।

२- कनक कलस वस भरि दुइ बनीं, बाई बनु अपछरा बनीं।
नैन मीन मुख दधि सब धारा, कुंअरहि सबहि सगुन सेवारा ।।
उ॰चि॰पृ॰१९७।

३- महाराव विक्रम तिहि बारी। कलस कंठ माला मणि डारी ।।
दूलह उतर द्वार सब आवा। नेगन्ह को सब भोग लगावा ।।
टीका दिये चढ़ा रथ बावा। शिविका कनक बार गजराजा ।।बो॰वि॰बा॰
पृ॰१५२।

४- पुनि अगुवानहि से चल्यो, बहां आवा जनवासं।
† † †
अगिनिबरु बहु कीन्हे फेरा, पूरन सखि बनु बिरहिन केरा।उ॰चि॰पृ॰१९८

५- मान॰रा॰वि॰ पृ॰ ७६-७७।

में सबे मंडप की शोभा का वर्णन करने में उस्मान की रचना असमर्थ हो जाती है। अत्यन्त अपूर्व मण्डप सजाया गया है। कनक खम्भों पर दृष्टि बाँधिया जाती है। आम्र मंजरियों के बन्दनवार सजाये गये है। खम्भे के नीचे कलश पर चतुर्मुख दीपक बल रहे है। वेदज्ञ ब्राह्मण आकर मन्त्रोच्चार के साथ अग्नि को जागृत करते है। शुभ मुहूर्त-पर चित्रावली को मण्डप में लाया जाता है। कर्मकाण्ड पारंगत ब्राह्मण वेद मंत्रोच्चार के साथ गठ-बन्धन कराते हैं[1]। बोधा का मण्डप वर्णन अधिक सुस्पष्ट और विशद् है। आंगन को लीप पोत कर संपूर्ण गृह को बरक्त से सजा दिया गया है। मण्डप हरित बंशखण्डों से तैयार किया गया है उस पर आमुन की टहनियां बिछायी गयी है। मंडप के नीचे कपड़े का पर्दा लगा कर मणि मुक्तावों की शोभा का विशद् आयोजन है। सोने के खम्भे यहां भी हैं, मध्यस्थ पंचम स्तम्भ, हीरे जवाहिरातों से जड़ा गया है[2]। मंडप में पिता या परिवार का अन्य कोई वरीय सदस्य कन्या-दान करता है। चित्रावली के विवाह में "कुसपानी" लेकर चित्रसेन अपनी पुत्री के दान का संकल्प करते हैं[3]। कौशावती को वर के चरणों में डालकर चित्रसेन हाथ जोड़ कर निवेदन करते है "लो बाप अपनी दासी समझ कर

---

१- इ०चि० पृ० २०१-२०२।

२- आंगन लिपाय चित्रसाल पुराई। बरक्त मैं बखरी सब छाई॥
बांस रूप मय कलस संवारी। चित्र बहित बहुवा छवि बारी॥
हरित बांस मंडप शुभ छावा। आमुन पल्लव छया बिरावा॥
नीचे बर बंदर तनवाये। मणि मोतिन गुच्छा छवि छाए॥
सुवरनमय अपार छवि छायक। सुवरन मय खूनी सब लायक॥
पंचम खंभ जवाहिर जड़े। मंडप मध्य खड़े सो करे॥
बो०वि०बा० पृ० १४९।

३- चित्रसेन पुनि लै कुसपानी, संकलपी चित सब जग जानी॥
इ०चि०पृ० २०२।

स्वीकार करें, मैं विधि विहित रीति से इसे आपको देता हूं।" उसी क्षण ब्राह्मण वेद मन्त्रों का उच्चारण कर वर-वधू को चिर दाम्पत्य बंधन में आबद्ध करते हैं। युवतियां अपने मधुर स्वरों में प्यार भरी गालियां सुनाती हैं[1]। गठबंधन के समय विप्रों के वेदपाठ और हवन का वर्णन रामविलास में भी उपलब्ध होता है[2]। मंडप में बहुविध गाली गाये जाने के उल्लेख मिलते हैं। कीर्तिलता की दृष्टि में ससुरपुर की गालियों का विशेष महत्व एवं महत्व है[3]। समय विचार कर कही गयी फीकी बात की तरह विवाह के समय गाली सबका मन हर्षित करती है[4]।

२०- हिन्दुओं का वैदिक विवाह व्यवस्था की विधि इतनी विशद् एवं जटिल है कि काव्य में उसके सभी विस्तारों के संदर्भ पाने की आशा कदाचित् नहीं की जानी चाहिए फिर भी कन्यादान के परचात् पाणिग्रहण अग्नि प्रदक्षिणा, सप्तपदी आदि के उल्लेख मिलते हैं। भगवान् राम के विवाह में ऋषि वशिष्ठ कलश-पूजन करा रहे हैं और महर्षि शतानन्द आदि सम्भवित रूप से सरस शालोच्चार कर रहे हैं[5]। सेनापति ऋतु वसन्त का

---

१- कुंवर पाइ तर मेलि किसोरी, बाधुन ठाढ़ भए कर बोरी ।।
कहिसि सेदु मेहि केरी बानी, मैं संक्षपी दै कुशवानी ।।
ततछन आनि कीन्ह गंठ जोरा, वेद पढ़हिं बाभन चहु ओरा ।।
तरु निन्ह पुनि कलकंठ सुनावा, कौसहिं लाव सुवासनहिं गावा ।।
उस्मान-चि०पृ० १५३-१५४ ।

२- मान०रा०वि०पृ० ८८ ।

३- चौरी नीकी चोर की सुकवि की सवारी नीकी ।
गारी नीकी लागती ससुरपुर धाम की ।।कीर्ति० क०कौ०पृ० ३९० ।

४- फीकी पै नीकी लगै कहिए समय विचारि ।
सब को मन हर्षित करै ज्यों विवाह में गारि ।।वृन्द०क०कौ०पृ० ३९३ ।
निरस बात सोई सरस जहां होय हित हेत ।
गारी हू प्यारी लगत ज्यों ज्यों समधिन देत ।।वृन्द०सा०पृ०पृ०१९३ ।

५- सब भांति पृथिविष्ठ निष्ठभति, तहं वशिष्ट पूजत कलश ।
सतानन्द नन्द मिलि-उच्चरत शालोच्चार सबै सरस ।।
के०कृ०पृ० २५४ ।

रूपक बनाते हुए भी त्रिभुवन से शाखोच्चार की व्यवस्था कराते हैं[1] । लीलावती के व्याह में भी गजमोतिन की चौक पुराकर कंचन कलश धराया गया है । रतिनाथ लीलावती के साथ बैठे हैं उनके सिर पर मणि खचित मौर है विप्र शाखोच्चार कर रहे है । गणपति अग्नि की पूजा के बाद समिधा, सुपारी आदि अपेक्षित वस्तुओं के सहित अन्य कृत्यों का संपादन कर रतिनाथ और लीलावती की भांवर पड़ती है[2]। शास्त्रीय दृष्टि से सप्तपदी अत्यन्त महत्वपूर्ण है इससे ऐश्वर्य, ऊर्जा, भूति, सुख पशु, ऋतु और सख्य इन सात फलों की प्राप्ति होती है । इसी के पश्चात् विवाह वैध समझा जाता है । कभी-कभी सात के स्थान स्थान पर पांच भांवरे पड़ने के उल्लेख भी मिलते हैं । पलटू ने राम-सीता के विवाह का रूपक बांधते हुए पांच भांवरे पड़ने की बात कही है[3] । भांवर पड़ने का उल्लेख प्रसंगात् लछिराम ने भी किया है[4]। भांवर के बाद पलकाचार की व्यवस्था की जाती है । लीलावती के व्याह में रतिनाथ अन्य राजाओं के साथ सहर्ष भोजन करके सबको सप्रेम पान का बीड़ा देते हैं तत्पश्चात् रघुदत्त ने सभी बारातियों को बुलवाया और सभी लोग पलकाचार के निमित्त मंडप में गये । रेशम के बिछावन पर तने वितान की छाया में सब लोग अत्यन्त सुखपूर्वक प्रतिष्ठित है बिच-बिचि "पलका" बना हुआ है और उस पर वस्त्र बिछा है वहां लीलावती और माधव बैठे

---

१- ले०क०र०पृ० ५७ ।

२- गणपति पावक पूजिके समिध सुपारी आन ।
परि भांवर रतिनाथ की बहुविधि बने विधान ।।
बो०वि०बा०पृ० १५४ ।

३- सुरति और सबद मिल पांच भांवरी फिरे ।
पलटू बानी पृ० ४४ ।

४- लछिराम-सा०पु०पृ० १७१ ।

है[1] ।

२१- पक्काचार के उपरान्त दहेज देने के लिए वधूपक्ष वाले बनवासे जाते हैं । दहेज में वधू के पिता की स्थिति के अनुरूप भिन्न-भिन्न वस्तुएं होती हैं । राम के विवाह में विदेहराज ने गज-बाजि के समूह स्वर्ण और हीरों के हार, वस्त्र, वितान अस्त्र-शस्त्र आदि अनेक वस्तुएं दीं । राजा का दहेज होने के कारण उसमें असंख्य दास दासियां भी थीं[2] । सीतावती के विवाह में रघुदत्त भी कुलजनों एवं यजमानों को बुला कर दहेज देते जाते हैं । उनके दहेज में गज-बाजि, रथ, शिविका, मुक्ता, मणि और भांति भांति के वस्त्र आदि सम्मिलित हैं[3] ।

२२- विवाह के अन्य उपचारों में तैल चढ़ाने, लावाहोम, कन्यादान गणेश-पूजन, अर्घ्यदान आदि के भी उल्लेख मिले हैं । विरह बारीश में बीधा ने मंगल गान के साथ तैल चढ़ाने, गणेश-पूजन और अर्घ्यदान का भी उल्लेख किया है[4] । सेनापति ने चतुराव को दूल्हा का रूप देते हुए लाव-होम

---

१- भोजन कर भूषन सहित हरषि चले रतिनाथ ।
समधिन को बीड़ा दियो बड़ी प्रीति के साथ ।।
तब बरात रघुदत्त ने बुलवाई तिहि बार ।
सजि सजि सब मंडप गये करिबे पक्विकाचार ।।
बी० वि० वा० पृ० १५४-५५

२- के० गृ० पृ० २६१

३- कुल यजमान सब को बुलाय । गयो देन दायजो सबको सिराय ।।
गज बाजि, रथ, शिविका विशाल । मणिगन अनेक मुक्तामाल ।।
बी० वि० वा० पृ० १५५ ।

४- मंगलगान नारि सब गावै । पंडित लोग मचार करावै ।।
पूजि गणेश लगन कर धारी । भइ प्रसन्न हिमवान कुमारी ।।
अर्घदीन दूल्ह घर आये । धन समूह बिछुवाने पाये ।।
बी० वि० वा० पृ० १५१-१५२

भगवानी, तेल चढ़ाने और शाखोच्चार के नाम लिये हैं[1] । हिन्दू विवाह बहुत व्यापक समारोह के साथ मनाया जाता रहा है । परजन-परिजन के खाने-खिलाने के अतिरिक्त एक सर्वव्यापी उत्साह का जो वातावरण होता है उस मनोवैज्ञानिक कारण की पृष्ठभूमि में आर्थिक पूरन गौण हो जाते हैं । संपन्न और विपन्न, धनी और निर्धन सभी समान उत्साह से विवाह का आयोजन करते हैं । कुटुंबियों के घर कड़ाहे चढ़ते हैं और आतिशबाजी पर पानी की तरह धन व्यय किया जाता है[2] ।

२१- बारात वधू के घर प्रायः तीन दिन ठहर कर चली जाती थी । प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि वधू को कहीं-कहीं तो वर के साथ ही विदा कर देने का चलन रहा होगा, किंतु वैवाह्य शिरागमन की

---

१- धर्‌यो है रसाल और सरस सिरस रूचि,
उच्चे सब कुल मिले गनत न अंत है ।
सुचि है भवनि बारी भयो हवनहोम तहां,
भाँवरी देखि होत बहि आनंद अनंत है ।
नीकी भगवानी होत सुख जनवासो सब,
सबी तेलताई चैन-मैन भगवंत है ।
सेनापति धुनि सिंध साखा-उच्चरत वेदी,
बनी दुलहिन बनी दुलह बसंत है ।

से० क० र० पृ० ४७ ।

२- सिगरे नगर और सब मांही । आतिसबाजी पूरन जहांही ।
↑ ↑ ↑
फेर प्रभात नगर सब मांही कुटुंबन के घर चढ़ी कड़ाही ।

बी० वि० बा० पृ० १७१ ।

औपचारिक आयोजना के पश्चात ही वधू श्वसुरगृह जाती होगी । उस्मान ने कौशांबती के श्वसुरगृह गमन के पूर्व मायके में ही पति के संग मिलन का वर्णन किया है[1] । बारात लौट कर जब वर के घर पहुंचती है तो वहां भी वर-वधू (यदि वधू साथ आयी हो तो) की आरती उतारी जाती है, टीका और न्योछावर किया जाता है[2] । वधू के वर के साथ विदा न होने की स्थिति में औपचारिक रूप से द्विरागमन की आयोजना की जाती थी जो अपने आप में वैवाहिक उपचारों की एक प्रकार से पुनरावृत्ति होती थी । पंडित से गौने के मुहूर्त-शोधन के लिए कहा जाता था । तिथि, वार, शकुनापशकुन, दिशा, सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों की स्थिति के विचार के उपरान्त वेदविद् पंडित लग्न का विचार करते थे[3] । बाद विवाह की प्रथा

---

१- उ० चि० पृ० १५६

२- मुंहचायन टीका पु करि गौरि गणेश मनाय ।
पुत्रहूसुत निज पूत को माता चली लिवाय ।।

पूत सहित पुतहू घर आई । घरी चार तक चली बधाई ।।
दान बहुत मंगतन्ह कहंदीनी । निमता सबन्ह नमु कहं कीनी ।।

को० चि० बा० पृ० १५५

३- जेसे पंडितन्ह वेद विचारी । बासिय सूक पश्चिम दिसि भारी ।।
मंगल बुद्ध उत्तर दिसि गाढ़ा । समूह काल कटक हो बढ़ा ।

का० छे० व० पृ० १९६ ।

बाजा दीनी गौन की करी साव तिहि योग ।
बनेहिना दोष न लगे भला कहे सब लोग ।
सुनि धनि गौन चल पिअ केरा । गइ तनु सुधि काम भतुपेरा

का० छे० व० पृ० १९५ ।

होने के कारण गौने का व्यापक रूप से चलन होना बहुत कुछ स्वाभाविक था। आठ या नौ वर्ष की वय में बालक बालिकाएं वस्तुतः इस योग्य नहीं होते थे कि वे दाम्पत्य जीवन के सभी विधिवार्य समझ सकें और इनका व्यावहारिक निर्वाह कर सकें। इसलिए गौना विवाह के तीन, पांच या सात वर्ष अथवा सुविधानुसार अन्य कालावधियों के व्यवधान के पश्चात् करने का चलन था जैसा कि आज भी बहुत कुछ देखने को मिलता है। गौने का समय आते-आते वधू सयानी हो जाती थी। इसमें दाम्पत्य जीवन का निर्वाह करने की समझ आ जाती थी। पद्माकर की नायिका पिरागमन का समाचार सुनकर अपने हर्षातिरेक को छिपाने के लिए मुंह टेक कर लेट जाती है[1]। मतिराम की नायिका भी गौने की चर्चा चलने पर प्रसन्नता के आतिशय्य में अर्धोन्मीलित नेत्रों से, गूंथी हुई माला को फिर से गूंथने लगती है[2]। वधू जब विदा होने लगती है तो उसके परिवार की सयानी स्त्रियां, सयानी सहेलियां समवयस्काएं सभी अपनी अपनी भूमिका का निर्वाह करती हैं। उत्सव की नायिका जब विदा होने लगती है तो उसे अपने सयानों से विविध प्रकार के उपदेश मिलते हैं जिसमें नव-परिणीता वधू की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उसे दिन भर कोठरी में रहना चाहिए आंगन में केवल रात में निकलना चाहिए, किसी की दृष्टि के सामने न आना चाहिए, गुरुजनों से डरते रहना चाहिए। किसी की बात का प्रत्युत्तर नहीं देना चाहिए। यही नहीं सलज्जता वधू को

---

१- आवत सैन दुरागमन रमन सुनत यह बानि।
हरष छिपावन सिरभए रही पीढ़ि पट तानि।
प० ग्र० पृ० १३७

२- गौने की चरचा चलें, दिए रहां चित बाल।
अधगूंदी अलियान सों गूंदति गूंदतिमाल॥
म० ग्र० पृ० ४६१

ननद की भी बड़ी कटी सुनकर चुप रह जाना चाहिए[1]। रीतिकालीन कवि की ऐन्द्रिय प्रवृत्ति को गौने से संबंधित चित्र बनाने में अधिक विश्राम और रसानुभूति होती है। कहीं-कहीं तो गौने के चित्र इतने रसनिमग्न है कि कवि की अपनी ऐन्द्रिय लालसा के पुट के कारण पाठक का मन भी उनके डूबने-उतराने लगता है। गौने के दिन रसवन्ती वधू और रसिकवर दोनों चौक पर बैठे हैं सखियों ने वर वधू की गांठ जोड़ कर उन्हें स्नेह के नित्य नवीन पुष्प खिलाने का मधुसिंचित आशीष दिया। मतिराम की नायिका का गौना हो रहा है। सयानी और समवयस्का सखियां आयी हैं। नववधू को आभूषण पहनाते हुए प्रियम्वदा सखी उपहास में यह आशीष देती है कि उसके पांवों का बिछुआ प्रियतम के कानों में सदैव मधुर ध्वनि से बजता रहे[2]। सयानी सखियां अनुभव के आधार पर वधू को शील और आचरण का उपदेश देती है। नववधू के मन को रस भीनी कल्पना के पंख देकर अनदेखे आनन्द लोक में पहुंचा देती हैं। नवोढ़ा को वैसी बातें कहनी चाहिए जो

---

१- अब जो घरि दुइ मांह पिउ, लै गौनहिं गहि बांहि।
बचन दो एक उपदेश हित, कहां परब जिय मांहि॥
-- औचरी मांह रहब दिन गोई, आंगन होबु रात जब होइ।
बैसब सदा बार दै पीठी, परै न सौंह आन की दीठी॥
-- पुनि उर मानब गुरजन केरी, सन्मुख करहु न देखब हेरी।
उतर न देबु कहै जौ कोई, लाजन रहब चरण तर गोई।
ननदी औचर जो कहै, रिसि राखब जिय मारि।
परिहि सीख पर लेब नित सासिनि देइ जो गारि॥
उ०वि०पृ० २२३।

२- गौने के सोंज सिंगारनि की मतिराम सहेलिन की गनु आवौ।
पायन के बिछुआ पहिरावत प्यारी सखी परिहास बढ़ावौ॥
"पीतम सौन समीप सदा जबै'यौं कहिकै पहिले पहिरावौ,
कामिनि कौल चला बन कौकर ऊंचो किधौ पै चल्यौ न चलावौ॥
म०ग्रं०पृ० ३३६।

पति को अच्छी लगे और अपने कथ्य को कहने के लिए उन्हीं शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जो मनभावन के मन को रुचे। उस अननुभूत सुख की कल्पना से नायिका के ओछे उरोजों पर अनुराग के अंकुर उठ आते हैं[1]। गौने के समय की शिक्षाओं में सास-ससुर की सेवा, जिठानी के प्रति सहिष्णुता, ननद के प्रति सहनशीलता, पति से प्रेम और भक्ति नौकर-चाकरों के प्रति सद्भाव आदि अनिवार्यतः सम्मिलित किये जाते थे[2]। बारात जब वधू को लेकर वर के घर पहुंचती है तो वहां हर्षातिरेक, जिज्ञासा और आशंका का अनोखा वातावरण तैयार हो जाता है। मां को अपने पुत्र के लिए जीवन-संगिनी प्राप्त हो जाती है जो उसके कुल की दीपशिखा को भविष्य में भी जलाये रखेगी। जिठानी को दीदी कहने वाली आज्ञा-कारिणी देवरानी मिल जाती है। ननद को हंसने खेलने और लड़ने के लिए समवयस्क भाभी प्राप्त हो जाती है। मुंह दिखाई की रीति पूरी करने के लिए परिजन-पुरजनों की भिड़ आती है[3]।

२४- आलोच्यकाल के काव्य के आधार पर विवाह के संबंध में हम जो चित्र बनाते हैं उसकी रंग-रेखाएं हमारी परम्परागत हिन्दू-विवाह पद्धति से बहुत भिन्न नहीं हैं। तत्संबंधी कर्मकाण्ड, विवाह के पीछे निहित

---

१- गौने के जात चली दुलही, गुरुलोगन भूषन भेष बनाये।
सीख सयान सहीन सिखायो, सबै सुख सासुरे ही के सुनाये।
बोलिये बोल सदा हंसि कोमल, जो मनभावन के मन भाये।
यों सुनि ओछे उरोजनि पै अनुराग के अंकुर से उठि आये ।।दे० द० पृ०८७।

२- नैहर बानि न जाइ कछु गुन औगुन एक मान।
सोइ सुहागिन भामिनी जाकर ससुरे मान ।। उ० वि० पृ० २२१।

३- मानहुं मुंह-दिखरावनी दुलहिंहिं करि अनुरागु।
सासु सदनु मनु ससुर तनु, पगु पुरु दियो सुहागु ।।
वि० र० दो० २८८।

मूल भूतधारणा, पति-पत्नी के संबंध एवं भारतीय समाज में विवाह के स्थान आदि के संबंध में जो प्रश्न उठते हैं और उनके जो उत्तर प्राप्त होते हैं वे हमारी सनातन मान्यताओं के अनुरूप ही है किन्तु यह अवश्य है कि अतीत में नारी के कर्तव्यों के साथ - साथ उसके अधिकारों पर भी समान रूप से जोर दिया जाता था । उसकी स्वाधीनता और उन्मुक्ति पर अत्यल्प प्रतिबन्ध होते थे । वहां मध्योत्तरकाल में नारी की स्थिति प्रायः गौण होने लगी थी । "सहधर्मिणी" नाम उसका अब भी नहीं छूटा किन्तु हमारी कवि की रस शोधपरक उसके रमणीयरूप पर अधिक रमने लगी थी । विदा होते समय वधू को दी जाने वाली सीख की सूची में भी सहिष्णुता के स्थान पर सहनशीलता, उदारता के स्थान पर अधिकारों का सर्वथा त्याग, श्रद्धा और संयम के स्थान पर पर्दा और आतंक का प्रवेश हो गया था । यद्यपि समीक्ष्य काव्य में विवाह सम्बन्धी सभी उपचारों के विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं होते किन्तु इतना आधार तो है ही कि कोई भी सार्थक और महत्व-पूर्ण उपचार पूर्णतः विलुप्त नहीं हुआ था उसका कायाकल्प भले ही हो गया हो । विवाह हमारी सामाजिक रचना की महत्वपूर्ण व्यवस्था है, परिवार का तो वह मूलाधार है ही । विवाह के पश्चात् हिन्दू गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करता है, अपनी सहचरी के साथ जीवन के विविध उत्थान-पतन देखता अपनी जीवन-यात्रा पर गतिशील रहता है । जिस परिवार में वह जन्मा था उसका आधार विवाह था और जिस परिवार में वह अंतिम सांस लेगा उसमें भी विवाह के माध्यम से भावी पीढ़ियों के दीप ज्योतित करता हुआ स्वयं बुझ जाता है ।

अन्त्येष्टि संस्कारः

२५- हिन्दू का जन्म ही नहीं, उसके जन्म से पूर्व और मरण के बाद के उपचार भी शास्त्रीय विधि से नियमित होते रहे हैं । शास्त्र लोकजीवन के धरातल पर पहुंच कर व्यवहारिकता का उपहार पाता रहा है और लोकजीवन की मान्यताएं कालान्तर में शास्त्रीय गरिमा से अभिमंडित होती रही हैं । जन्म-पूर्व से लेकर मरण तक का काल हिन्दू के जीवन में संस्कार व्यवस्था से अनुशासित होता रहा है । इसलिए स्वभावतः हमारे शास्त्रों में मृतक की

अन्त्येष्टि क्रिया की भी विधिवत् व्यवस्था की गयी है। हिन्दू सामान्यतः पुनर्जन्म पर विश्वास रखता है इसलिए परलोक में उसके भावी सुख और कल्याण के हेतु और नवीन जन्मों में सम्यक् अवतारणा के लिए मृतप्राय और मृत व्यक्ति के जीवित संबंधी उसके लिए विभिन्न उपचारों का आयोजन करते हैं। पुनर्जन्म पर विश्वास के कारण हमारी आस्था कर्मफल पर भी टिकती है। कर्मफल पर आस्था होने का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि हम इहलोक में सत्कार्य करने का प्रयत्न करते हैं ताकि परलोक सुधरे और नवीन जीवन में हम अधिकाधिक सुखी हों।

२६- जब कोई व्यक्ति मरणासन्न हो जाता है तो हमारे यहां गोदान और स्वर्णदान कराने की प्रथा है। यह विश्वास किया जाता है कि जीवात्मा को स्वर्ग लोक में पहुंचने के लिए वैतरिणी नामक नदी पार करनी पड़ती है। दान दी गयी गाय की पूंछ पकड़ कर संबंधित जीवन वैतरिणी को पार करता है। प्राणांत के पश्चात् मृतक को शय्या में लिटाया जाता है। उसके विभिन्न सम्बन्धी और पास-पड़ोस या गांव के लोग एकत्र होते हैं। स्त्रियां मृतक के वियोग में जोर-जोर से विलाप करती हैं। पुरजन-परिजन मृतक के संबंधियों को सांत्वना देते हैं। मृतक का शरीर श्वेत नवीन वस्त्र में लपेट दिया जाता है। ये परम्पराएं बहुत कुछ आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। प्रायः तत्कालीन सभी धार्मिकों ने विशेष कर मनुजी ने, मृतक के दाह संस्कार एवं अन्य अन्त्येष्टि क्रियाओं का विस्तृत वर्णन किया है। घर से मृतक का शरीर उस विशेष प्रयोजन से निर्मित शय्या में ले जाया जाता है। कहीं-कहीं मृतक के पीछे बाजे आदि बजने के उल्लेख भी आये हैं[1]। अर्थी में कन्धा देने की प्रथा थी। मृतक के संबंधी या उससे संबद्ध अन्य लोग उस की अर्थी में कंधा देते हैं। हिन्दुओं में मृतक

---

१- चले निशान बजाइ बजेले तहं कोउ संग न साथी।

ना०ब०मा०सा० पृ० १९४।

को जलाने की प्रथा बहुत पुरानी है। आलोच्यकाल में भी यह प्रथा चलती रही। मृतक को जलाने का स्थान, जहां नदियां होती हैं वहां प्रायः नदियों के किनारे, अन्यथा किसी निश्चित सार्वजनिक स्थान में होता है। जलाने के पहले मृतक का शरीर के मार्जन और दाहकर्म के साक्ष्य भी तत्कालीन याज्ञियों ने दिये हैं। चिता के लिए लकड़ी गांव के लोग और मृतक के सम्बन्धी आदि सभी थोड़ी-थोड़ी करके देते है। अर्थी के साथ जाने वाले सभी व्यक्तियों के लिए थोड़ी लकड़ी ले जाने का उल्लेख भी मनूची ने किया है। चिता निर्मित हो जाने के बाद मृतक का श्वेत वस्त्रावृत शरीर चिता पर लिटा दिया जाता है। अग्नि लगाने का कार्य पुत्र या मृतक का कोई निकट सम्बन्धी सम्पन्न करता है। इस प्रकार मनुष्य का शरीर भस्मीभूत हो जाता है। सभी स्नेह सम्बन्धी रुदन करते है। बेटा कपाल क्रिया करता है, शरीर राख हो जाता है। श्मशानघाट आये हुए लोग नहा धोकर मृतक संपर्क का छूत उतारते है[१]। नागरीदास ने कपाल क्रिया करने का उल्लेख किया है[२]। मृत शरीर जल जाने के बाद सब लोग नहा धोकर घर वापस आते हैं। मृत्यु के अधिकांश चित्र हमें आलोच्यकाल के संत कवियों से ही मिलते हैं। वे जीवन की क्षण भंगुरता को प्रतिपादित करने के लिए मानव-शरीर की नश्वरता का सहारा लेते थे और इसके लिए मृतयु या मृत्यु से सम्बन्धित अवसर सर्वाधिक

---

१- तुरुक ले मुर्दा को कब्र में गाड़ते।
हिन्दू ले आग के बीच जारै ।। पलटू - पृ० ४६।

२- ले मसान में आयो सबही कोये काठ इकट्ठे तबही।
अगिन लगाय दियो तन जारी। अहया मानुष बूझ तिहारी।
धिक्कारी सो रावे ठाढ़े किरिया करके सबै हुवे ठाढ़े।
बेटा रोवै ठोकै भुई कपारी ----------।।
भस्म भयो जब दागो दागा प्रेत प्रेत कहि सब भागा।
नहाइ धोइ कर छूत उतारी ----------।। सु०ग्रं०भू १।३२८।

३- लिये हाथ में लट्ठा ताकी फूटै मित्र कपाल।।

नागरी दास- ब्रज०मा०सा०पृ०१९४।

उपयुक्त होता है। चरणदास कहते हैं वह बोलने वाला जीव देखते-देखते काया-रूपी नगरी को छोड़ कर "पयान" कर जाता है। नगरी यानी काया के दसों द्वार अर्थात् इन्द्रियां ज्यों की त्यों रहती है किन्तु जीव के चले जाने से पुर सूना हो जाता है। शरीर गत-प्राण हो जाता है। स्वजन छूट जाते हैं शरीर भस्मीभूत हो जाता है सब कुछ राख में मिल जाता है और एक अनिर्वच शून्यता का वातावरण व्याप्त हो जाता है[1]।

२७- दाह संस्कार के पश्चात् शास्त्रीय व्यवस्था है कि ब्राह्मण का घर दस दिन में, क्षत्रिय का बारह दिन में, वैश्य पन्द्रह दिन में, तथा शूद्र का घर एक माह में शुद्ध होता है[2]। तेरहवीं और वार्षिकी के भी विधिवत् आयोजन की व्यवस्था थी। तत्कालीन यात्री उस समय बड़े पैमाने पर होने वाले भोज आदि के उल्लेख करते हैं। वर्ष में पितृपक्ष पर स्थायी रूप से तर्पण भी किया जाता है। तर्पण का आधार है कि हम समझते हैं कि हमारे परलोकस्थित पितरों को इन सब वस्तुओं की अपेक्षा है और उनके वंशज के रूप में हमारा यह कर्तव्य है कि हम उन्हें तर्पण आदि के माध्यम से ये वस्तुएं पहुंचायें। तर्पण करके सभी पितृजनों को हर्षित किया जाता है[3]।

२८- हिन्दू संस्कारों में हमें भारतीय संस्कृति और जीवन का एक अनोखा किन्तु प्रतिनिधि चित्र देखने को मिलता है। हमारे यहां संस्कृति के सर्वोत्तम पुष्प उन्हीं अवसरों पर खिले हैं जहां लोकमानस के विश्वासों और धार्मिक तत्वों का नीर-क्षीर संयोग हुआ है, जहां धर्म में इतनी नमनीयता आ गयी है कि जनसामान्य के सरल जीवन के निकट पहुंच कर वह अपने संयम

---

१- चरणदास बानी - भाग १, पृ० १०८।

२- कल्याण वृहत्पुराणांक, पृ० ५५५।

३- करैं तिहि पितृन तर्पन नीर।
भए सब हर्षित पितृ सधीर॥
बो०ह०रा०पृ० ७।

कुछ ढीले कर दें और वहां लोक-मानस में इतनी ऊर्ध्वगामी-वृत्ति आ गयी है कि वह धर्म के इस लचीलेपन को अपने अज्ञान या कुतर्क से पाखण्ड के गर्त में न गिरायें । संस्कार इसके अनोखे उदाहरण है । गर्भाधान से लेकर, जन्म और विवाह की मनोरम उपत्यकाओं को पार करता हुआ कवि लोकजीवन के कर्मक्षेत्र में प्रवेश करता है, मानव जीवन के साध्य को सिद्ध करने के हेतु अपनी सामर्थ्य भर प्रयास करता है और अंततः उसकी शक्तियां क्षीण होने लगती है, मृत्यु निकट आ जाती है, प्राण शरीर रूपी आवास छोड़ कर चल देते है । इस प्रकार बीज-वपन से लेकर पल्लवित -पुष्पित होने के साथ ही साथ अंतिम अवस्था तक की यात्रा के सभी महत्वपूर्ण मार्ग-बिन्दुओं पर हिन्दू मनीषा ने जीवन के संस्करण की व्यवस्था की है । लोक ने संस्कारों के वैज्ञानिक आधार को न समझते हुए भी उन्हें इस रूप में अपनाया कि वे संस्करण के स्थान पर दूषण के कारण नहीं बने, मुक्ति के स्थान पर बन्धन के हेतु नहीं बने । संस्कार व्यवस्था का प्रभाव भारत के लोक क्षितिज पर बहुत व्यापक और स्वास्थ्यकारी रहा है । विशेष रूप से, विवाह के माध्यम से मनुष्य की एक अभेद्य समस्या को हल करने की दिशा में हिन्दू चिन्तकों ने समाधान प्रस्तुत किया है और लोकजीवन में व्याप्त नैतिकता के लिए, पति-पत्नी में विवाह से उत्पन्न होने वाली निष्ठा बहुत कुछ उत्तरदायी है ।

## भारतीय पर्वोत्सवों की परंपरा:

२९- ऋजुता मानव संस्कृति का विकास क्रमशः अव्यवस्था से व्यवस्था, से जटिलता और असंयम से संयम एवं नियमन की ओर हुआ है । यह प्रवृत्ति हमें सभी जातियों के इतिहास में देखने को मिलती है । मनुष्य क्रमशः अपने सुख-दुःख सभी की अनुभूति में संस्करण और अभिव्यक्ति में परिष्करण करता गया है । आरंभ में प्रकृत मानव के हर्ष और आह्लाद, विषाद एवं अवसाद, की अनुभूति में एक नैसर्गिकता और अभिव्यक्ति में सहज ऋजुता रही

होगी । स्वभावतः उसमें अभ्युक्ति और असंयम की मात्रा अधिक रही होगी और व्यवस्था का एकान्त अभाव रहा होगा । धीरे-धीरे उसमें अपने हर्ष-विषाद की अभिव्यक्ति में परिष्कार किया जो आज कहीं-कहीं शीघ्रचारिता की सीमा का स्पर्श करता है । उत्सव और पर्व इस सहज आह्लाद की अभिव्यक्ति की व्यवस्था के परिणाम है । भारतीय पर्वों की व्यवस्था में मनुष्य प्रकृति को भी साथ लेता चला है अथवा यह कहें कि प्रकृति ने भी उसका साथ दिया है । यह इसलिए भी स्वाभाविक और संभव हुआ कि भारत मूलतः और प्रमुखतः कृषि प्रधान देश रहा है । कुछ भारतीय पर्व तो प्राकृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप प्रकृति में व्यक्त होने वाले इस उल्लास और आह्लाद से संबद्ध है,जैसे वसन्तोत्सव आदि और कुछ ऐसे समय पर पड़ते है जब भारतीय कृषक अपने कृषि -कार्य से मुक्त होकर समृद्धि की प्राप्ति और विश्राम जन्य सुख का अनुभव करता है । भारतीय पर्वों की संख्या अनन्त है, इससे भारतीय लोकजीवन में व्याप्त चिरंतन उत्फुल्लता का भान होता है । त्योहार अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है कोई धार्मिक दृष्टि से संबद्ध होने के कारण तो कोई प्राकृतिक परिवर्तनों के कारण, किन्तु सबके मूल में कार्य की एकरसता से लोकजीवन में उत्पन्न होने वाली नीरसता को दूर करने का प्रयोजन निहित होता है । इस दृष्टि से भारतीय त्योहारों का क्रम और उनकी व्यवस्था अत्यन्त संगत एवं सार्थक है ।

३०- आलोच्यकाल के काव्य में जीवन की सम्पूर्ण व्यापकता को स्पर्श करने की शक्ति नहीं थी, कवि प्रायः उन्हीं त्योहारों का सार्थक वर्णन और उल्लेख करते है जो उनकी रसिक दृष्टि को तृप्त कर सकते है, इसलिए परिपाणी की दृष्टि से, रीति काव्य में होली की उन्मुक्ति और वसन्तोत्सव के रसरंग का वर्णन अधिक है ।

वसंत और होली:

३१- वर्ष क्रम में प्रथम और अंत में आने वाले वसंत और होली के त्योहार भारतीय लोकजीवन में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है ।वर्णव्यवस्था

के आधार पर होली को शूद्रों के साथ संबद्ध किया जाता है किंतु व्यावहारिक दृष्टि से यह सभी के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण है। "होली एक पर्व, उत्सव और श्रौत-स्मार्त कर्मों का समूह है, जिसमें कालक्रम से रूपान्तर होते-होते भिन्न-भिन्न कर्मों के कुछ चिन्ह-मात्र शेष रह गये हैं। वे सभी कर्म शूद्रों से ही सम्बन्ध नहीं रखते किन्तु अनेक का मुख्य संबंध द्विजातियों से ही है[1]।" यह उन्मुक्तता का पर्व है जिसमें सभी सामाजिक मर्यादाएं शिथिल हो जाती हैं - छोटे- बड़े का भेद मिट जाता है + सभी एक से हो जाते है। वसन्तऋतु स्वभावतः उन्मादक है। शीतकाल में प्रकृति सबको बल देती है। शक्ति संचित होने पर उसका प्रेम रूप से प्रस्फुटित होना स्वाभाविक है। हमारे शास्त्रों में वसन्त को कामदेव का मित्र इसी आधार पर कहा गया है। कवि-कुल-गुरू ने वसन्त का प्राकृतिक चित्र खींचते हुए खग, मृग, वृक्ष, लता, वन आदि का भी इस ऋतु में प्रेमपाश में बद्ध होना चित्रित किया है। इसे प्रेमोन्माद को पूर्ण चरितार्थ करने का हिन्दू जाति में एक विशेष दिन नियत है - चैत्र कृष्णा प्रतिपदा। वसन्तोत्सव और कामदेव-पूजा की भी प्रतिपदा के दिन शास्त्र में विधि है। दक्षिण देश में यह उत्सव "मदन-महोत्सव" के नाम से ही प्रसिद्ध है। स्वच्छ वस्त्र पहन कर स्वच्छ स्थान में सबका बैठना, चन्दन, रोली और गुलाल आदि लगाना और आम्र - मंजरी का आस्वादन करना इस विधान की मुख्यता है। यह चन्दन-गुलाल ही अशिक्षा के कारण कीचड़ उछालने तक पहुंच गया। होलिका की भस्म का वन्दन करना भी शास्त्र में विहित है। इस विधि ने भी राख-धूल उछालने की प्रथा में सहायता पहुंचायी है[2]।

३२- रीतिकालीन काव्य में फाल्गुनोत्सव अथवा होली का जितना विशद् एवं जीवंत चित्रण हुआ, अन्यत्र कदाचित् नहीं मिलेगा। होली

---

१- गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी -वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ० २२८।

२- वही, पृ० २२८।

इस समय केवल सामाजिक उत्सव के रूप मे न होकर राष्ट्रीय त्योहार के रूप में मनाया जाने लगा था और उसमें मुस्लिम शासक तथा मुस्लिम जनता भी भाग लिया करती थी[1]। इस उन्मुक्त के त्योहार में कुछ समय के लिए छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, और ऊँच-नीच का अन्तर नहीं रह जाता, आनन्द उल्लास के मध्य सभी एक समान होकर हिलोरे लेने लगते थे। सामाजिक मर्यादा एवं शील-संकोच की उतने समय तक छुट मिल जाती। फागुन को ही निर्लज्ज करार दे दिया गया है[2] और इस उच्छृंखलता में व्यक्ति का दोष नहीं माना जाता। फाग खेल कर नशे में मस्त कोई फगुहार कीचड़ में पड़ा रहता तो कोई रंग की नदी में[3]।

२३- स्त्री-पुरुष सभी एकसाथ रससिक्त होकर फाग खेलते है। प्रकृत्या रसिक रीतिकालीन कवियों ने नायक - नायिकाओं की फागक्रीड़ा के अनेक चित्र अंकित किये है। नायक द्वारा मारी पिचकारी की बल-धारा से नवोढ़ा भींग जाती है[4]। उसकी आखों में पति ने, फाग खेलते हुए, तक कर जो गुलाल डाला था, वह आंख में पीड़ा होने पर भी उससे निकालते नहीं बनता[5]। देव का नायक फाग खेलते हुए बड़ी

---

१- अली - मुसलमान विन्द १, पृ० २८७-८८।

२- फागुही लोग निलज्ज जानिये। के०वी०दे०व०पृ० २४०।

३- खेलि फागु मानौं फगुहार।
खोइ रहे मद मत्त गंवार ॥
एक बूझि भूतल पर परे।
एक बूड़ि सरिता मंह मरे ॥ के०वी०दे०व०पृ० १३०

४- छिरके नाह नवोढ़-दृग, कर - पिचकी- बल जोर।
रोचन-रंग-लाली भई, पिय-तिय - लोचन-कोर ॥वि०र०दो०१५३।

५- दियौ सु पिय सखि बचनु मैं खेलत फाग-बिसासु।
बाढ़त हूं मति पीर सु न काढ़त बनतु गुलासु ॥
वि०र०दो०२८०।

चतुराई से एक ही समय में दोनों नायिकाओं को प्रसन्न कर लेता है। एक ही भवन में दोनों को एक साथ देखकर वह गुलाल से अपनी मुट्ठी भर कर एक की ओर चलाता है, आँखें बन्द कर जब तक वह दूसरी ओर देखती है तब तक में वह दूसरी को भेंट लेता है[1]। होली के रागरंग में मस्त, सेनापति की नायिका पर नायक केसर का रंग घोलकर, पिचकारी भर कर चलाते हैं। इस भाग दौड़ में उसका आँचल उधर जाता है[2]। वस्तुतः होली राग-रंग का त्योहार है जिसमें गुलाल की आँधी से बादल लाल हो जाते है। श्वेत वस्त्र पहने हुए स्त्रियों पर उड़-उड़ कर यह गुलाल पड़ता है, मानों पुंडरीक की पंखड़ियों पर बाल-सूर्य शोभित हो रहा है[3]। फागुन में अनुराग में पगी नवेली नागरियाँ मतवाली हो गयी है, उनके कोमल हाथों में मेंहदी रची है और वे डफ़ बजा रही हैं[4]। होली की इस छेड़छाड़ में बालाएं भी पीछे नहीं है। पद्माकर की नायिका ग्वालों की भीड़ से कृष्ण को पकड़ लाती है, वह उनका पीताम्बर तो छीन ही लेती है, अबीर और गुलाल

---

१- खेलत फाग सिंगार सरे, अनुराग भरे बड़ भाग कन्हाई।
एक ही भौन में दौउन देखिकै, देख करी एक चातुरताई।
लाल गुलाल सो लीनी मुठी भर, बाल के भाल की ओर चलाई।
वा छिन मूंद उते चितयौ, इन भेटी लई वृषभान की जाई॥
दे०भा०वि०पु० ११७।

२- दौरी बे-संभार, उर-अंचल उघारि गयौ,
उच्च कुच कुंभ मनु, चांचरि मचाई है।
लालनि गुपाल, पीरि केसरि को रंग लाल,
भरि पिचकारी मुंह ओर कौं चलाई है॥ से०क०र०पु० ७२।

३- सित अंबर जुत तियनि में उड़ि-उड़ि परत गुलाल।
पुंडरीक पटलन मनौ बिलसत बालातप बाल॥ म०गृपु० ४९०।

४- बैस नई, अनुराग भई, सु, भई, फिरै फागुन की मतवारी।
कोंवरे हाथ रची मेंहदी, डफ नीके बजाय हरै हियरा री॥
प०गृ० पृ० २०८।

मुख पर मल कर उनकी दुर्दशा भी बनाती है और रोज की छेड़छाड़ का पूरा बदला निकाल लेती है। फिर, नैनों को नचा कर, किंचित् मुस्करा कर कृष्ण को चिढ़ाती है[1]। अनुराग से भरे हुए, मृदंग की ताल के साथ तरंग में गाते-बजाते कृष्ण पर तोष की नायिका ने पिचकारी चलाकर भाग जाने की चेष्टा की। पर कृष्ण ने दौड़ कर उसे पकड़ लिया, फिर क्या था अच्छी तरह मुख में अबीर गुलाल मलकर ही छोड़ा[2]। ब्रज में तो होली की उमंगतरंग के कारण ऊधम-सा मचा रहता है[3]। रंग के बर्तन इत्र से सुगंधित कर दिये जाते हैं। इसलिए होली खेल कर रंग में डूबी गोरी के आने पर सुगंध की झकोरे उठ रही हैं[4]।

१४- सुंदरीतिलक में कवि ने होली का हुड़दंग का सजीव वर्णन किया है। फागुन के पूरे महीने भर बड़ा ही उत्पात रहता है फलतः रात-दिन नींद नहीं आ पाती। नर-नारी सभी परस्पर फाग के नशे में चूर रहते हैं। यदि कोई कुलनारी लज्जावश इस उत्पात से छिपकर दूर रहना चाहे

---

१- फाग के भीर, अभीरन में गहिगोविंद लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितंबर कम्मर तें सुबिदा दई मीड़ि कपोलनि रोरी।
नैन नचाइ कह्यो मुसुकाइ "लला फिर आइयो खेलन होरी"॥प०गं०पृ०१७९।

२- गावत तान तरंगन तोष बजावत, ताल मृदंग सुहायो।
मारि चली पिचकी हरि दौरि गही मुख मेद अबीर लगायो॥
तो०सु०नि०पृ०१०१।

३- ऊधम ऐसो मचो ब्रज में
सबै रंग तरंग उमंगनि सींचैं। प०गं०पृ० ९८।

४- आई खेलि होरी, बरी नवलकिशोरी कहूं
बोरी गई रंग में सुगंधन झकोरै है॥
प०गं०पृ० ८१।

तो उसे भी नहीं छोड़ा जाता । ब्रज में यह "रीत" बुरी है कि लोग घर में घुस कर स्त्रियों को पकड़ लाते हैं[१]। दीनदयालगिरि की नायिका की बरतारी की किनारीदार सारी पर गुलाल शोभित होता है उधर नायक के कश्मीरी चीर की बहार है[२]। ग्वाल-बालों की टोलियां अबीर गुलाल से भरी झोलियां लिये होली-होली चिल्लाती गलियों में घूमती हैं[३]। सुंदरदास ने फाग का वर्णन किया है । फाग का सुहावना मौसम आते ही सब शृंगार करने लगे । इन दिनों चोवा, चंदन, केसर, कुंकुम और अबीर गुलाल की ही बहार होती है[४]। सभी अपने-अपने प्रियतम के साथ चोवा, चंदन, अबीर, गुलाल और कुंकुम से फाग खेल रहे हैं । फागुन में मध्यान का भी उल्लेख सुंदरदास ने किया है । होली खेलने वालों के शीश पर लटपटी पाग बंधी है, शरीर के पीले वस्त्रों पर अबीर लगा है । हर्ष विभोर हो कर लोग परस्पर गले मिल रहे हैं, गुलाल उड़-उड़ कर बादल की तरह छाया है । भवन की अटारियों पर सुंदरियां रंग भरे कलश लिये खड़ी है । ऊपर से रंगीन जल गिर रहा है और वस्त्र की ओट करके गाली गायी जा रही है[५]।

---

१- फागुन मास बड़ो उत्पात रहै निसि बासर नींद न आवै ।
आपस मांझ सबै नर नारि निरंतर चौगुन फाग रचावै ।
को कुल नारि कहूं सरमाय, दुरै तबहूं गुरुनारि बतावै ।
या ब्रज में यह रीति बुरी, घर में धंसि लोग लुगाहन लावै ।।
सुं०ति०पृ० ३६८

२- सारी बरतारी की किनारी में गुलाल राचै ।
छवि छावै उत कारमीर चीर की ।। दी०ग्रं०पृ० २३ ।

३- होरी होरी करत अबीर भरी झोरी लिए,
डोरी डोरी फिरै ग्वालबाल समुदाई है ।
दी०ग्रं०पृ०२२ ।

४- आयो फागु सुहावनों हो सब कोउ करत सिंगार ।
चोवा चंदन केसर कुंकुम उड़त अबीर गुलाल ।। सुं०ग्रं०पृ० ९१९ ।

५- लटपटी सीस पगिया सुहात तन पीरेपट फेंटनि अबीर ।
खिलकरि मारि मिले दौरि दौरि उड़ि उड़ि गुलाल मच परी रौर।।
बिच गाव अटारिन चढ़ी बाल भरि रंग कलश डारत गुलाल ।
ररात नीर भरात नीर गावत गाली दै ओट चीर ।। न०सं०पृ०१०३ ।

ग्वाल कवि ने भी केसर के रंग से भवन की छत और छज्जों को सरोवर बताया है[1]।

१५-ब होली की इस उमंग और भीड़ भाड़ में किसी को झकझोर कर मुखपर रोली मल देना, किसी के अंग-प्रत्यंग को केसर से तर कर देना, अथवा किसी को अंक में भर लेना कुछ अस्वाभाविक और अनुचित न था। इसमें न तो कोई कलंक की बात होती और न किसी प्रकार का दोष ही लगता है क्योंकि होली तो "बरजोरी" का त्योहार है ही[2]। ग्वाल और सेवक ने होली के अवसर पर वारांगनाओं के नृत्य का उल्लेख भी किया है। बोधा ने विरह वारीश में होली के उत्सव का विस्तृत वर्णन किया है। वीणा, मृदंग और झांझ झनक रहे हैं। नाच-गाकर सभी लोग प्रसन्न हो रहे हैं। केसर नीर और अरगजा की वर्षा हो रही है, नर-नारी गुलाल में सने हर्षित हो रहे हैं। कोई होलिका जलाकर जा रहा है, कोई भांति-भांति के स्वांग बना कर है, कोई गधे पर चढ़ा है तो कोई हड्डियों की माला पहने है, कोई धूल उड़ाता हुआ मनमाना गीत गा रहा है। कोई नशे में गोबर और कीचड़ पर पड़ा है, कोई हाथ में लट्ठ लिये है और उसकी लटें बिखरी हैं। कूड़ों के ढेर पर पड़े लोट लपट-लपट कर गीत गाते हैं - यह

---

१- केसर के रंग बहे छज्जन औ छत पर।
ग्वाल- रत्नावली पृ० ४१।

२- डारयो जो गुलाल रंग केसर के अंग - अंग।
आन झकझोरयौं मीड़ो दौर मुख रोरी में।।
अंक भरि लीनो तो कलंक की न संक कीबै।
आज बरजोरी को न दोष होत होरी में।।
ठाकुर-ठसक पृ० २१।

है फागुन मास का धूम-धड़क्का[1] ।

३६- फागुन में फगुआ मांगने की प्रथा प्रचलित है । नंद के धाम पर फाल्गुनोत्सव हो रहा है, वृषभान की गालियां गायी जा रही है । एक ओर बरसाने के लोग खड़े है । नंदगांव की सभी नारियों ने मिलकर फाग खेला फिर फाग देने की रीति समाप्त होने पर गोपराज को पान आदि देकर सम्मान के साथ विदा किया गया और वह दुंदुभी बजाते हुए अपने भवन की ओर चले गये[2] ।

---

१- वीणा मृदंग झांझ धुमकावै । नाच गाय सब लोग रिझावै ।।
केसर नीर अरगजा बरसै । सने गुलाल नारि नर हरषै ।।
एकै फूंक होलिका आवै । भांति भांति के स्वांग बनावै ।।
गधा चढ़े बारा रि बावै । हाड़न की माला बरावै ।।
धूर उड़ावत गावत सोई । अनहोनी जो जग में होई ।
गोबर कीच सनैये बनै भरू कीन्हे कुंकुमि सराव के नल्सा ।
हाथ में लड्डू लटै बिखरी उन्मादी सोना करे खमस्सा ।।
चूरन पर लपटे झपटे सने इत्तत गावे खासर फस्सा ।
को बरने जो लगे इन बांछिन फागुनमास को धूसर धस्सा ।।

बो० वि० वा पृ० १४४ ।

२- वृषभानहिं गारी देत गाय है रहे कुतूहल नंदधाम ।
इत ठाढ़े बरसानियां समधी लोग निहार ।
धाई एकहिं बेर बुर नंद गाय की नारि ।
पुनि किये विदा श्री गोपराव सम्मान पान दै दै सयान ।।

नागरी गु० -- पृ० १०५

छैल छबीली गुवालिन फगुवा मांगने आ रही है। उसकी ओढ़नी केसर के रंग से सराबोर है, कानों में फूल लगे हैं, मस्तक पर गुलाल है, देखने वालों को अपने इस अनुपम मस्तव्यस्त सौंदर्य से प्रभावित करती, छलती चली आ रही है। कवि पूछता है फाग में मनमोहन कृष्ण का मन से चुकी, अब फगुवा में क्या लेना शेष रह गया है जिसे मांगने आ रही हो[1]। घनानंद ने बसंत की होली की सरसता का वर्णन करते हुए दिखाया है कि गुवाल बधुएं यशोदा के घर फगुवा मांगने जा रही है, सभी उफ मचाकर गालियां गा रही है[2]।

३७- बसन्त का उत्सव एवं उल्लास होली से मिलता जुलता है। हिन्दू तो बसन्त को अत्यन्त धूम धाम से मनाते ही थी, मुस्लिम अदालतों में भी बसन्त के त्यौहार पर आनन्द एवं उल्लास आ जाता था। श्रृंगारीक्य कालीन काव्य में बसन्तोत्सव के अनेक सरस प्रसंग उपलब्ध होते है। मतिराम ने बसन्त के उत्सव का वर्णन किया है। ललित बसंत का

---

१- केसर रंग रंगी सिर ओढ़नि काननि कीन्हें गुलाब कली है।
भाल गुलालभर्यो पद्माकर अंगनि भूषित भाती भली है॥
औरन कौं छलती फिरै तुम बाती औरन सो कछु छली है।
फाग में मोहन को मन लै फगुवा में कहा अब लैन चली है।

प० ग्रं० पृ० ११२

२- छैल नागरी फगुवा मांगन आई बसोमति धाम।
गावत गारी दै दै तारी गति सो उफहि मचाय॥

घ० ग्रं० पृ० ४५४

१- अली- मुसलमान्स- वित्द २ पृ० २८७।

उत्सव सभी रुचि पूर्वक मनाते है। आसमान में गुलाल उड़ रहा है, दिशाएं मुगमद, और फुलेल से पूरित है, कुंकुम, गुलाल, अबीर के घने बादल से छाए है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजाभाव सिंह का प्रताप एवं यश ही विभिन्न प्रकार के रंग-रूप रख कर दसों दिशाओं में फैला हुआ है[1]। वसन्त के आगमन पर ऋतु-परिवर्तन के साथ ही प्रकृति में नवीन सौन्दर्य आने लगता है, व्यक्ति का हृदय भी प्रकृति की तरह नवीन उमंगों से भर जाता है। वन उपवन में वर्ण-वर्ण के तरु-पुष्प खिल उठते है, पुष्पों के गन्ध से लदी शीतल मंद, सुगंध वायु चलने लगती है, कोयल कूकने लगती है और भ्रमर गुंजार करने लगते है। ये सभी आयोजन ऋतुराज के स्वागतार्थ होते है[2]। विविध पुष्पों के साथ ही मन में काम भी पुष्पित होने लगता है। सुरनर मुनि सभी तरुणी के संग की कामना करने लगते है। यौवन एवं शोभा संपन्न कंत-कामिनी भी मनोज के वशीभूत हो जाते है[3]।

---

१- बासव की राजै रुचि सहित बसंत खेल,
खेलत विज्ञान बलाबंध सुल्तान मैं।
कहै मतिराम कवि मुगमद पंक छवि
छावत फुलेल औ गुलाल आसमान मैं।
कुंकुम गुलाब घनसार औ अबीर उड़े,
छाय रहे सघन अवनि आसमान मैं।
मेरे जानि रख भावसिंह को प्रताप बस,
रूप धरे फैलि रहे दसहू दिसान मैं।

सं० ग्र० पृ० ३८९।

२- से० क० र० पृ० ५५

३-तरु नीके फूले विविध, देखि भए मधमंत।
परे विरह बस कंत के, लागे सरस बसंत॥
तबै सकुच के भाउ, भाउ तबि मान मनी के।
सुर, नर, मुनि, सुख संग रंग राचे तरुनी के॥
यौवन सोभावंत कंत कामिनी मनोज बस।
सेनापति मधुमास, देखि बिलसत प्रमोद रस॥

सं० क० र० पृ० ५७।

देव ने भी वसंत ऋतु के आगमन के साथ ही काम के प्रभाव का वर्णन किया है[1] । हृदय के इस हर्ष और उन्माद की अभिव्यक्ति गायन, वाद्य एवं विविध क्रीड़ाओं के माध्यम से होती है । वसंत पंचमी के आते ही सखियां एक दूसरी को वसंत के स्वागतार्थ मिलकर गाने बजाने को आमंत्रित करने लगती है[2] । सरस वसंत के आगमन पर लोग रंग रलियां कर रहे है, घर घर मंगलगीत गाये जा रहे है, मृदंग आदि वाद्यों की ध्वनि से वातावरण गुंजरित हो रहा है[3] । इस प्रकार सभी वसन्त के आगमन पर हर्ष एवं उल्लास मनाते है ।

३८- दीपावली- होली के उपरान्त दूसरा महत्व पूर्ण त्योहार दीपावली है । कार्तिक मास की अमावस्या को दीवाली का उत्सव बड़े समारोह से मनाया जाता है । दीपावली उन विशेष पर्व-उत्सवों में एक है (सर्वश्रेष्ठ कहने पर भी अत्युक्ति न होगी), जो भारत वासियों में मुख्य, एवं प्राणशक्ति के संचारक कहे जाते है । वर्णक्रमानुसार वैश्यों का यह प्रधान उत्सव है । वैश्य वर्ग के साथ मिल कर सब वर्ण-जाति के लोग इस दिन भावती कमला की उपासना के आनन्द में मग्न हो जाते है । मनुष्यों की मुखकान्ति पर, उनके वस्त्राभूषणादि पर और उनके निवास-भवनों में विचर देवी उपर लक्ष्मी माता अपना प्रभाव प्रकट करती हैं । सब दुख व द्वन्द भुला कर, सब प्रकार की चिन्ता बाधाओं को दूर कर, इस दिन भारतवासी लक्ष्मी माता के

---

१- देवसुधा पृ० ५७

२- बावरी मिलित गावो बजावो वसंतव पंचमी है आई ।

ब० गृं० पृ० ४६६

३- सुंदर कोइ रलियां करी गावो सरस वसंत ।
घर घर मंगल होत है बाजे ताल मृदंग ।।

सु० गृं० पृ० ६८४

स्वागत के लिए एकप्राण होकर रहते हैं[1] । रीति-कालीन काव्य में दीपावली का उल्लेख बराबर है किंतु उसका पूर्ण एवं विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं होता । घनानंद की नायिका दीवाली आने पर जीतने के लिए दाँव लगा कर जुआ खेलती है[2] । दीवाली के दिन जगमगाती दीपमालिकाओं के प्रकाश पुंज से अमावस्या की काली रात्रि प्रकाशित हो उठती है । देव ने मणि-रत्नों की आभा से प्रकाशित नायिका की उपमा दीवाली से दी है । नायिका के चन्द्र-मुख के पास जगमग करती बड़ालू मणि-मोतियों ने चन्द्रमंडल-सा बना दिया है । मेंदी, बड़े पन्नों तथा हीरा के नगों के प्रकाश में, आभूषणों की झमक के साथ ज्योति की बड़ी भीड़-सी दिखायी पड़ती है । अंग-अंग पर नव यौवन का ऐसा उजाला मानो चाँदनी रह ही न गयी हो । ऐसी नायिका राह-राह में अंगों की जगमगाहट आगे फैलाती हुई स्वयं वह दीवाली सी चमकती हुई चली आ रही है[3] । सुंदरदास ने दीवाली की रात में जागकर मंत्र जाप

---

१- गिरिधर शर्मा- वै० वि० और भा० इ० पृ० २२३

२- आई है दिवारी बीते कातिन बिचारी प्यारी,
सैल मिलि जुवा खेल पूरे दाँव आवहीं ।
हारहिं उतारि दीते मीत धन सज्जन सौं,
बोध चढ़े नैन बैन चुहल मचावहीं ।।
घ० ग्रं० पृ० १६

३- जगमगी जोतिन बड़ालू मनि-मोतिन की
चंद-मुख-मंडल पै मंडित किनारी-सी,
मेंदी बर बीरन गहीर नग हीरन की
देह झमकनि में झमक भीर भारी-सी ।
अंग-अंग उमह्यौ परत रूप रंग नव-
जोबन अनूपम उज्यास न उज्यासी-सी,
डगर-डगर जगरावति नगर मंग,
बगरमगर आपु आवति दिवारी-सी ।।
देवमाया पृ० ९१ ।

करने का वर्णन किया है[1] । दीपावली पर जहां तहां दीप जल रहें, उनकी दीप्ति को देख कर लगता है मानों संजीवन बूटी के पौधे लगा दिये गये हैं[2] । बोधा के काव्य में कार्तिक मास में होने वाले त्योहारों में दीपावली तथा अन्नकूट का उल्लेख आया है । दीवाली में घर में दिये जला कर सजाये जाते हैं, बालाएं वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर दीपक राग गाती है । मिलकर जुआ भी खेला जाता है[3] । नायिकाएं अटारी पर चढ़ कर दीपावली की शोभा देखती है ।

गोवर्धनपूजा-

४०- दीपोत्सव के दूसरे दिन अर्थात कार्तिक शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को अन्नकूट अथवा गोवर्द्धन पूजा का उत्सव मनाया जाता है । सामान्यतः इस त्यौहार का प्रचलन समस्त भारतवर्ष में है, किन्तु ब्रज में, विशेष करके गोवर्द्धन-ग्राम में यह बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है । इसी कार्तिक शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को श्रीकृष्ण ने गोप एवं ग्वाल-बालों से गोवर्धन की पूजा करायी थी । इसमें स्त्रियां गोबर से गोवर्द्धन की मूर्ति बना कर उसकी पूजा करती है । आलोच्यकालीन काव्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इस समय भी गोवर्द्धन पूजा का पर्याप्त प्रचार था । क्योंकि रीतिकालीन काव्य में स्त्रियों द्वारा गोधन अथवा गोवर्द्धन की पूजा के विविध प्रसंग आये है । घनानंद के अनुसार गोधन पूजा के दिन ब्रजवासी अति प्रसन्न होते है और सपरिवार गोवर्धन की पूजा करते है ।

---

१- दीवाली की रात बागे मंत्रादी मंत्र बाप ।
सु० ग्रं० पृ० ६१०

२- जहां तहां दीपन की दीपति दिपति दूनी ।
ज्यों धरी सजीवन के पौधा लगाए है ।।
ना० स० ११६

३- खेलै दिवा आकाश को गृह वार दीपक पूर ।
गावैं सुवासा राग दीपक सबै भूषण भूर ।।
बो-वि० बा० पृ० १४९ ।

इस दिन दीपदान भी किया जाता है, इन दीपमालाओं की दीप्ति सलोनी होती है[1] । दीपावली के उपरान्त गोवर्धन की मूर्ति की पूजा अथवा अन्नकूट का उत्सव मनाने का वर्णन बोधा ने किया है । इस दिन बाई बनाने के बाद गोवर्द्धन की मूर्ति के पास गूजरिनें हर्षोत्फुल्ल हो नाचती है, अन्नकूट शैल की विशाल प्रतिमा बनाकर नर-नारी उठाते है । गणगौरी को मनाकर विवाह और गौने के साथ सजाये जाते हैं[2] । गोवर्धन पूजन का उल्लेख सुंदरी तिलक में भी है[3] ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- गिरि गोधन पूजन को दिन आयो,
जुजवासिन को मन अति भायो ।।
घर घरनी सुसज्जित कुसलात,
गोधन पूज लहत सुख सात ।।
दीपदान औसर की दीपति,
सब दिसि को दीपति सों दीपति ।।

प० गृ० पृ० २४७ ।

२- जैसे जुजा बाई बनावे शैल गोधन धार ।
मदमत्त नाचै गूजरिया हंकरत लहत बार ।
करि अन्नकूट विशाल शैल उठाय नर नारीय ।
साजै सुगौन विवाह मंगल गाय गनगौरीय ।।

बो० वि० वा० पृ० १४२ ।

३- बलि गोधन पूजन को उमह्यो जुजवारिहं चढ़ी तप सोगन तें ।

बेनी- सुं० ति० पृ० ७४ ।

विजयादशमी:

४१- विजयादशमी अथवा दशहरा को हिंदू - परंपरा में अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण माना गया है। प्रथमतः वर्षा की फसल आश्विन महीने में पक कर तैयार होती है। संपूर्ण देश धनधान्य एवं समृद्धि से पूर्ण हो जाता है। साथ ही आश्विन मास में व्याधियों की भी प्रधानता रहती है। इस प्रकार एक ओर संपन्नतावन्य सुख की अभिव्यक्ति, एवं दूसरी ओर व्याधि-व्याधियों के प्रकोप से बचने के लिए महाशक्ति की उपासना की दृष्टि से विजयादशमी के पर्व की प्रतिष्ठा की गयी। इसके अतिरिक्त चातुर्मास्य में (क्षत्रियों की) विजय-यात्रा स्थगित रहती थी, वे घर पर विश्राम करते थे। आश्विन मास आते ही "वर्षा विगत शरद ऋतु आई" होते ही वह शक्ति की उपासना करके फिर विजय-यात्रा का आरम्भ कर देते थे, इसलिए आश्विन मास का नवरात्र शक्ति की उपासना के लिए सबसे प्रधान है और इसके पूर्ण होते ही विजय-यात्रा (विजयादशमी) का दिन आता है[1]। शक्ति के भी सौम्य-क्रूर आदि नाना रूप है और अपने - अपने अधिकारानुसार सिद्धि भी विभिन्न प्रकार की प्रत्येक मनुष्य चाहता है। अपनी-अपनी इच्छा और अधिकार के अनुसार ही रूपों की उपासना होती है। "सत्व, रज और तम के श्वेत, रक्त और कृष्ण (काला) रूप शास्त्र में माने गये हैं। स्वच्छता, संयम और आवरण का बोधन कराने के लिए ही इन रूपों की कल्पना है। उन्हीं गुणों के रूप में यहां भी महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती की उपासना होती है। गुणों के अनुकूल ही उनके हाथों में आयुध या चिन्ह भी रखे जाते है। इनकी उपासना से अपने-अपने कार्य में सबको विजय प्राप्त होती है, यही

---

१- गिरिधर शर्मा- वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ० २२१।

विजयादशमी का लक्ष्य है[1] । आलोच्यकाल के काव्य में शक्ति अथवा दुर्गा, काली आदि की स्तुति मिलती है इनकी पूजा के भी उल्लेख है किंतु रीति-कालीन काव्य में विजयादशमी के त्यौहार का नाम अधिक नहीं आया है । मान ने राजविलास में दशमी का दिन शुभ विचार कर सरोवर की प्रतिष्ठा करने का वर्णन किया है[2] ।

रक्षाबंधन-

४२- श्रावण मास की पूर्णिमा को श्रवणी पूर्णिमा या रक्षाबन्धन का त्यौहार मनाया जाता है । यों तो सभी हिन्दू इसमें भाग लेते है और महत्व की दृष्टि से देखते है किंतु मुख्य रूप से यह ब्राह्मणों का त्यौहार कहा जाता है । प्राचीन काल में इस अवसर पर आर्य पुरोहित तथा ऋषिगण अपने-अपने आश्रम में यज्ञ किया करते थे, जिसमें उनके यजमान तथा देश के नृपति भी भाग लिया करते थे । मन्त्र पढ़कर ब्राह्मण लोग अपने-अपने यजमानों के हाथ में रक्षा (रंगीन सूत) बांधते थे, जिसका तात्पर्य यह था कि जिन्होंने महाबली दानवेन्द्र बलि राजा को बांधा वही तुम्हारी रक्षा करें । काल चक्र ने पलटा खाया जिससे देश के कतिपय प्रान्तों में रक्षाबन्धन लड़कियों का मुख्य त्यौहार माना जाने लगा[3] । वर्तमान समय में राखी भाई-बहन का मुख्य त्यौहार है । रक्षा बन्धन का प्रसंग भी रीति कालीन काव्य में अत्यल्प है । ठाकुर[4] तथा घनानन्द[5] के काव्य में इनका नामोल्लेख हुआ है । रक्षाबन्धन के प्रचलन के साक्ष्य इतिहास में मिलते है ।

---

१- गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी - वैदिक विज्ञान एवं भारतीय संस्कृति -पृ० २२३

२- क्षमी रविवार विचारि विजयदिन सर प्रतिष्ठयौ हुअ सुख ।
रवि कनक तुला राजन मन रंगहि दूरि करन दारिद्र दुरत ।।
मा० रा० वि० पृ० ९८

३- हिन्दू पर्व प्रकाश - पृ० २५

४- ठाकुर ठसक- पृ० १२५,१२६ ।

५- द्रुपद सुता की लाज राखी महाराज तुम ।
ऐसी यही राखी मैं तिहारे हाथ राखी है ।
घ ग्रं० पृ० ३२६

मुसलमानी त्यौहार-

४३- बनता मुसलमानी त्यौहारों - ईद, शबेबरात आदि को भी उपेक्षा नहीं करती थी । सांस्कृतिक संगम की प्रक्रिया में एक दूसरे के त्यौहारों में भाग लेना बहुत ही महत्वपूर्ण था । महादजी तथा उनके अन्य सरदार ताजिया में मुहर्रम के दिनों में भाग लेते थे[1] । इसी प्रकार मुगल सम्राट विजयादशमी पर हाथी घोड़ों का प्रदर्शन देखते थे । रक्षा-बंधन के दिन हिन्दू सरदार और ब्राह्मण सम्राट की कलाई में राखी बांधते थे । शिवरात्रि का पर्व भी सम्मिलित रूप से होता था[2]। इस प्रकार के संपर्क के कारण हिन्दू और मुसलमान परस्पर निकट आ रहे थे । ब्राउन के मत से हिन्दुत्व के प्रभाव से भारतीय मुसलमान संसार के अन्य देशों के मुसलमानों से पृथक हो गये थे[3] । जो भी हो आलोच्यकालीन काल में इस प्रकार के संकेत नहीं के बराबर हैं ।

तीज-

४४- रीतिकालीन काव्य में उल्लिखित पर्वों में होली के उपरान्त सबसे अधिक चर्चा तीज की आयी है । यह त्यौहार मुख्य रूप से स्त्रियों के द्वारा मनाया जाता रहा है । काव्य में इसका वर्णन स्त्रियों के द्वारा सजने-संवरने अथवा धार्मिक पूजन के प्रसंग में किया गया है । तीज के पर्व पर सभी सौतें सुन्दर वस्त्राभूषणों से अपने शरीर को सुसज्जित करती हैं परन्तु बिहारी की नायिका अपनी गिचमिची साड़ी में ही, स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण सबको हतप्रभ कर देती है[4] । कवीना के

---

१- (श्री रघुवंशी के शोध प्रबन्ध से)

२- हिन्दी आफ जहांगीर पृ० १००

३- ब्राउन- लेटर्स पृ० २०५

४- तीज पर्व सौतिन सबै भूषण बसन शरीर ।
सबै सरगबे- मुंह करी यहीं सरगबै बीर ।।
बि० र दोहा ३१५ ।

वृक्ष के नीचे कंचन राधा देखकर पद्माकर सखी ही कह देते है कि कोई स्त्री तीज की तैयारी करके गयी है[1] । गुवाल कवि ने सावन की तीज का वर्णन किया है । सावन की तीज के दिन नन्हीं-नन्हीं फुहारों में प्रियतम भीग रहे है । नायिका ने अंग पर सुन्दर रंग की चूनरी ओढ़ रखी है । ऊंचे स्वर में मल्हार गाया जा रहा है जिसमें झिल्ली की झनकार और भी प्रभाव उत्पन्न करती है[2] । ठाकुर ने अक्षय-तृतीया का उल्लेख किया है । वैसाख मास के शुक्लपक्ष की तृतीया को अक्षय तृतीया का पर्व मनाया जाता है । इन दिनों ग्रीष्म का प्रकोप बढ़ने लगता है अतः पूजन के साथ ग्रीष्म में सुख देने वाली वस्तुएं दान की जाती है । अक्षय तृतीया के दिन मनभावते को घेर कर सभी सहेलियां वट के निकट एकत्र है[3] भानकवि ने राव विलास में सभी स्त्रियों के द्वारा चैतसुदी तीज के दिन शृंगार करने की चर्चा की है[4] ।

---

१- कंचन खंभ भदेक तरे करि, कोऊ गई करि तीज तयारी ।
प गुं० पृ० १८९

२- सावन करि तीजै पिय भीजै वारि-बूंदन सौ,
अंग-अंग ओढ़नी सुरंग-रंग बोरे की ।
गावन मलारै सुनि मुख की पुकारे बोर,
झिल्ली झनकारे मन करे सहजोर की ।।
गुवाल-री० गु० पृ० २२८

३- अखती की तीज तबलीज के सहेली जुरी,
वट के निकट ठाढ़ी भावते को घेर के ।। ठाकुर ठसक पृ० १७

४- चैत सुदी तीज नौदीह सौ चारूयं ।
सकल सुहव तिया करिय सिंगारयं ।।
भा० रा० वि० पृ० १७

## गनगौर-

४५- "गणगौर" पूजन प्राचीन समय से होता ह आया है और अब भी प्रत्येक हिन्दू-परिवार में अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ गौरी तथा गणेश की पूजा विधिपूर्वक की जाती है। यह त्यौहार प्रमुखतः स्त्रियों का है। "गनगौर" के दिन गिरिजा गोसाइन की पूजा के लिए अत्यन्त आनन्द के साथ स्त्रियाँ जाती हैं[1]। कुमारमणि के रासिक रसाल तथा सुंदरी तिलक में भी हर्ष के साथ गणगौर के पूजन का प्रसंग है[2]। तोष की नायिका गनगौर पूजन के लिए पुष्प चयन हेतु वाटिका में जाती है[3]। पद्माकर की नायिका बहुत सवेरे ही स्नान करके बस भर लाती है, फूलों को चुन चुन कर उनकी डेरियाँ बना कर जगदम्बा की स्तुति हेतु मंत्रों का जाप करते हुए प्रार्थना करती है कि उसने सदा से अपने प्यारे मन में जिस गोविंद को बसा रक्खा है गौरी माता उसे उसी के चरणों की चेरी बना दें[4]।

## अन्य त्यौहार-

४६- यत्र-तत्र अन्य पर्वों के नामोल्लेख भी उपलब्ध होते है। नागरीदास के काव्य में सलोनों, सांझी तथा गोपाष्टमी के पूजन एवं

---

१- लक्खन-क बीस गुनगौर के स गिरिजा गोसाइन की,
आवत रहाई मति आनंद इसे रहे।
पं गृ० पृ० २००

२- प्रातहि गनपति पूजिहौ निशा अकेली जाय
कु० म० र० र० पृ० ५

३- + + +
पूजन जाय कहे गनगौर को-- सु० ति० छन्द ११७४

३- आजु गई गनगौर के काज।
तहाँ तरुन फूलन के भल है गो ।। तो० सु० नि० पृ० ७८

४- न्हाई बड़े तड़के भरिके बस फूलनि की चुनिके पुनि टेरी।
त्यौ पद्माकर मन्त्र मनोहर वै जगदंब अदंब जप्त री।
या डर वारि कुमार पने भरि पूजन पूजा करी बहु तेरी।
चेरी गुविंद के चरन की करिए गनगौरि गुसाइन मोरी।।
प० गृ० पृ० ३२५

उत्सव का प्रसंग है। सलौनी की तिथि पर सभी सहेलियां मिलकर प्रेम पूर्वक सरोवर की ओर जाती है[1]। सांझ के समय फूल चुनते समय सभी परस्पर आने वाली सांझी की चर्चा कर रही है[2]। गोपाष्टमी का उत्सव देखने के लिए स्त्रियां घूंघट डाले गीत गाती हुई जा रही है, इनसे गली में इतनी भीड़ हो गयी है कि कहीं निकलने का रास्ता नहीं है[3]। बिहारी लाल ने एक पर्व के उपलक्ष में अर्घ्य देने का उल्लेख किया है। सम्भवतः यह त्यौहार गणेशचौथ (सकट) का है जिसमें चन्द्रमा को अर्घ्य दिया जाता है। नायिका की सखियां उसे समझती हैं कि अर्घ्य दिया जा चुका है, अब नीचे चलो। वहां चलकर सकट का व्रत तोड़े, जिससे अन्य स्त्रियां भी दुविधा को छोड़ कर चन्द्रमा का दर्शन कर सकें क्योंकि तुम्हारे ऊपर अटा पर रहने के कारण उन्हें दो चन्द्रमा का भ्रम हो सकता है। इसी प्रकार अर्घ्य दान के निमित्त चन्द्रमा को देखने जाने को भी उसे मना किया जाता है। सखी उसे वर्जित करती हुई कहती है तू अटा पर मत चढ़। मैं ही चन्द्रमा देख आऊंगी क्योंकि तेरे अटा पर चढ़ने से बिना चन्द्र के उदय हुए भी, तेरे मुख को चन्द्रमा समझ कर स्त्रियां अर्घ्य दे देंगी[4]।

---

१- जब भई सलौनी तिथि सलोन। कियो प्रेम सरोवर सबन गौन॥

ना० स० पृ० ९४

२- वह फूलनि बीनन समय सांझ। इहि सांझी की सब कहत बात॥

ना० स० पृ० ९८

३- चलि गान करत सब बधुन संग लिये बदन अर्ध घूंघट सुरंग।
अति भीर गली निकरयो न जात, छकि छूट छाक भा में अपार॥

ना० स० पृ० १००

४-(क) दियौ अरघु नीचे चलौ, संकटु भानै बाइ।
सुखिलौ है औरी सबै ससिहिं बिलोकै आइ॥

बि० र० दो० २६९

(ख) तू रहि, हौंही, सखि सखी, चढ़ि न अटा, बलि, बाल।
सबहिनु बिनुहीं ससि उर्छै, दीजतु अरघु अकालु।

बि० र० दो० २६८

गृहण-

४७- भारतीय सामाजिक जीवन में धर्म की व्याप्ति इतनी प्रबल है कि लोकजीवन की हर प्रक्रिया का मूल स्रोत उसमें ढूंढा जा सकता है। किसी भी धार्मिक पर्व अथवा त्यौहार के दिन गंगा, यमुना अथवा किसी अन्य नदी में स्नान-दान करने की प्रथा अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है। समीक्ष्यकाल में भी यह प्रथा थी और गंगा-यमुना तथा त्रिवेणी की स्तुति प्रायः सभी कवियों ने की है[1]। इन्हें सभी मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाली, पापों को नष्ट करने वाली तथा स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त करने वाली कहा गया है। गृहण के दिनों में इन इन नदियों के किनारे विशेष भीड़ होती थी। गृहण के दिन स्नान सभी के लिए अत्यावश्यक कृत्य होता था। कभी-कभी तो घर के

---

१(क) राम पद संगिनी, तरंगिनी है गंगा तातै,
याही पकरे तै पाइ राम के पकरिये ।।
से० क० र० पृ० ११३

(ख) दुरित दावागन दूर करन को याको पावन पानी ।
हरिपद रति गति मति अति दायनि कीरत विशद बखानी ।।
च० गं० पृ० ४६९

(ग) तैसे दीनदयाल गंग महिमा विसाल माप,
पाप के कलाप पै प्रताप ही प्रचंड है ।।
दी० गृ० पृ० १९७

(घ) पापन को तापन को छैनी अति पैनी बनी,
सुरग नसैनी सुख दैनी यह त्रिवेनी है ।।
गुवाल० र० पृ० १८

सभीत लोग नहाने चले जाते हैं, अकेली नायिका घर में रह जाती है, फलस्वरूप उसे नायक से मिलने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हो जाता है[1] । वस्तुतः रीतिकाल के कवि की दृष्टि इस प्रेमालाप और लुकाछिपी पर इतनी अधिक केन्द्रित हो गई थी, इन्द्रियों का आकर्षण इतना प्रबल था कि सूरदास के जहाज के पंछी की भाँति इनके मन का पंछी भी लौट-लौट कर इन्द्रिय लिप्सा के आस्पद में ही शरण लेता है ।

४८- ग्रहण के समय दान देने का बड़ा महत्व माना गया है । बर्नियर के समय पड़े ग्रहण के मेले का वर्णन उसकी यात्रा में विस्तार के साथ मिलता है । "ग्रहण के समय यमुना में हिन्दू कमर तक पानी में खड़े रहते थे कि ज्योंही ग्रहण शुरू हो वे चटपट स्नान कर लें । अमीर सरदार आदि सपरिवार यमुना के दूसरे पार चले जाते थे और स्त्रियों सहित नहाने, पूजा पाठ करने के लिए कनातें लगा दी जाती थीं[2] । बड़ा से नर नारियों द्वारा ग्रहण के समय कुरुक्षेत्र के पावन वन में स्नान के लिए जाने का उल्लेख रत्नकुँवरि ने प्रेम रत्न में किया है[3] ।

मेले

४९- रीतिकालीन काव्य में विभिन्न मेलों का विशद् वर्णन नहीं प्राप्त होता । यत्र-तत्र बाजार-हाट के उल्लेख मिलते हैं जिनमें अनेक प्रकार के सिले और बिना सिले वस्त्र, आभूषण, बर्तन, खाद्य-सामग्री तथा दैनिक आवश्यकता की अन्य वस्तुएं बिकती हैं । विशेष पर्व-उत्सवों पर इनमें भीड़ हो जाना स्वाभाविक है और इस भीड़-भाड़ के मध्य नायक

---

१- सु० ति० पृ० ७४ तथा १११

२- बर्नियर की भारत यात्रा - पृ० ९२

३- इक दिन ग्रहण भयो जब, बहु नरनारी जात चले तब ।
जानि परम कुरुक्षेत्रहि पावन, सकल चले तहँ ग्रहण नहावन ।।
र० प्रे० र० पृ० ५

## निष्कर्ष

५०- इस प्रकार रीतिकालीन काव्य में वर्णित उत्सवों, पर्वों और मेलों का वर्णन देखने से ज्ञात होता है कि राजनीतिक पराजय और सांस्कृतिक पराभव ने भी भारत के लोकजीवन की परम्पराओं को विशृंखलित नहीं किया था यद्यपि कवि की दृष्टि एकांगी थी और वह विशेषतः ऐसे त्यौहारों के वर्णन में रमता था जहां उसके रसिक मन को विराम मिल सके। मेले के वर्णन में भी कवि जीवन के विभिन्न अंगों का प्रतिनिधित्व और सार्वभौम उल्लास पर दृष्टि नहीं डालता उसकी दृष्टि प्रायः रमणियों के साज-शृंगार और हाव-भाव पर ही जाती थी। किंतु यह स्पष्ट है कि लोक जीवन में त्यौहारों और मेलों का अत्यन्त व्यापक महत्व था और वे जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र का स्पर्श करते थे। होली केवल इसीलिए महत्व पूर्ण नहीं है कि उस समय कुछ मनचले लोगों को सुंदरियों के साथ कबीर गुलाल का खेलने का अवसर मिल जाता था। या, कोई गोरी किसी "सखा" को फगुहारों की भीड़ से खींच कर भीतर ले जाकर मनमानी कर लेती थी वरन् इसलिए अधिक महत्वपूर्ण था कि वह त्यौहार स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े हीन और समर्थ सभी प्रकार के कृत्रिम भेदों को मिटा कर समानता और उन्मुक्ति का वातावरण प्रस्तुत करता था। उसमें कृत्रिम वर्जनाओं और नियमों-विनियमों का अस्तित्व समाप्त हो जाता था। इसी प्रकार वसन्तोत्सव नायक-नायिका के काम की अभिव्यक्ति का ही अवसर नहीं था, उस समय समस्त प्रकृति जीर्ण-शीर्ण और पुरातन को त्याग कर नया जीवन धारण करती थी। खेत की फसल कटकर घर पहुंचती थी, लोक में समृद्धि और सम्पन्नता का उल्लास रहता था। रक्षाबन्धन या ईद और शबेबरात जैसे त्यौहार हिंदू-मुसलमानों को एक दूसरे के त्यौहारों में भाग लेने का अवसर प्रदान कर सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया में ठोस योगदान भी करते थे।

अध्याय ६

# नारी

## अध्याय ६

## नारी

### आधार सामग्री

नारी चित्रण की दृष्टि से रीतिकाल अत्यन्त समृद्ध है। रीतिकालीन काव्य में नारी चित्रण संबंधी आधार सामग्री हमें रीति कवियों में प्रचुरता के क्रम से केशव (१५५८-१६७४) बिहारी (१६६०-१७२०) मतिराम (१६७४-१७४८) के काव्यों में से प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त रीतिकवियों में सेनापति (१६४६) भिखारीदास (१७४५) पद्माकर (१८१०-१८९०) बेनीप्रवीन (१८७४) गुमान (१८८९) के काव्यों से भी पर्याप्त सहायता मिलती है। यह तथ्य भी रोचक होगा कि जिन रीतिमुक्त एवं रीतिमुक्त कवियों से नारी संबंधी सामग्री मिलती है उसमें (उपलब्ध सामग्री में) केशव से अपेक्षाकृत कम सहायता मिली है। सूफी कवियों में इस संबंध में सर्वाधिक सामग्री उस्मान (१६७०) के काव्य से प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त नूरमुहम्मद (१८०१) और बोधा (१८०४) के काव्यों से भी पर्याप्त सहायता मिलती है। संत कवियों में मलूकदास (१६३१) सुंदरदास (१६५३) दरिया साहब (१६९१) तथा दादू से सहायता प्राप्त होती है। वीर कवियों में मानकवि (१७१७) और बोधराव (१८७५) के काव्यों में भी उल्लेखनीय सामग्री प्राप्त होती है। नीतिमुक्त कवियों में घाघ (१९५३) और दीनदयाल (१८८८) की लोकोक्तियां और सूक्तियां आधार भूत सामग्री देती है। कृष्णभक्त कवियों में केवल नागरीदास ही उल्लेखनीय सामग्री देते है। रीतिकवियों के अधिकांश काव्य में नारी को कामिनी रूप में चित्रित किया गया है। इस संबंध में सर्वाधिक व्यापक क्षेत्र में चित्रण करने की शक्ति का परिचय केशव के काव्य से मिलता है। सूफी कवियों की नारी संबंधी दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक उदार और सूक्ष्मदर्शी है। संत कवि नारी को योगसाधन के लिए बाधक रूप में ही प्रायः देखते रहे हैं। घाघ का काव्य प्रायः लोक दृष्टि से परिचालित है।

हिंदू समाज में नारी-

२- कहा जाता है कि सृष्टि के आरंभ में परमात्मा ने अपने को दो रूपों में विभक्त किया, आधे से वे पुरुष और आधे से नारी हो गये[1] । भारतीय चिन्तन परम्परा में अर्ध-नारीश्वर के रूप में भगवान् की कल्पना भी इस तथ्य की ओर संकेत करती है । इसीलिए जब यह कहा जाता है कि नारी प्रकृति तत्व है और नर पुरुष तत्व, तो उसका तात्पर्य यह होता है कि नर और नारी दोनों मिलकर मानव सृष्टि को पूर्ण बनाते हैं । इसलिए मनुष्य ने विशेष कर पुरुष ने जितना चिंतन किया है उसमें नारी का स्थान और नारी संबंधी विषयों का महत्व इतना है कि कभी कभी वह आवश्यकता से अधिक प्रतीत होने लगता है । भारतीय चिंतन में नारी के प्रति दो परस्पर नितान्त विरोधी और पूरवर्ती विचारधाराएं देखने को मिलती रही हैं । एक ओर यदि यह समझा गया है कि जहां नारी की पूजा होती है वहां देवता वास करते हैं[2] या यह समझा गया है कि नारी अपने विविध रूपों के द्वारा लोक, समाज एवं राष्ट्र को जीवन देती है, विकास के पथ पर निरन्तर अग्रसर रखती है और पूर्ण मानव जीवन को पूर्णता के साध्य शिखर तक पहुंचाने की परिस्थितियों का सृजन करती है, जीवन का सारा रूआपन और सौंदर्य उसकी छाया पड़ते ही सरस और सहज हो जाता है, तो दूसरी ओर उतने ही विश्वास और दृढ़ता के साथ नारी को नरक का द्वार[3] बताया गया है[4] ।

---

१- स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह ।
स्त्रीरूपं वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः ।।

२- यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ।।
मनु ३।५६-६०

३- वीर्यं भवस्य, नरक मार्गद्वारस्य दीपिका ।
शुचा कंदः कलेर्मूलं दुःखानां खनिरंगना ।।
योगशास्त्र २-८७ ।

समझी गयी है। वह सभी कल्पनीय दूषणों से मुक्त, विषयगमन की प्रेरणादात्री, कर्मपथ की अवरोधिका और अपवित्र समझी गयी है। भगवान् बुद्ध जैसे अनतांत्रिक चेतना युक्त धर्म के व्यवस्थापक ने भी बहुत कठिनाई के बाद नारी को अपने धर्म की अधिकारिणी माना था, वह भी इस भविष्यवाणी के साथ कि यदि मेरा धर्म स्त्री की अनुपस्थिति में १००० वर्ष तक अक्षुण्ण रहता तो अब ५०० वर्ष में ही नीच पथ पर प्रवृत्त हो जायेगा। वस्तुतः नारी-रचना ऐसे रहस्य का विषय रही है जिसे कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक सभी अपने अपने दृष्टि कोण से अनावृत्त करते का प्रयत्न करते रहे हैं। इसकी प्रेरणा, इसे उघाड़ कर देख लेने की इच्छा सनातन ही नहीं, चिरन्तन भी है।

१- कवि के साथ एक विशेष कठिनाई यह और है कि वह अनुभूतियों का उद्गाता होता है और अनुभूति का संबंध इंद्रिय एवं मन से है। उसमें बौद्धिक अनुशासन और विवेक जन्य संयम की अधिकता नहीं है फलतः यह अन्तर्विरोध उसकी वाणी और चिंतन में सबसे अधिक मुखर हो उठता है। कवि एक ओर यदि उसे शुचिता, मधुरिमा और सर्वमंगलविधायिनी शक्ति की प्रतिमा समझ उसका प्रशस्ति-गान करता है तो दूसरी ओर किसी तात्कालिक अनुभूति के आधार पर उसे संयम, अनुशासन और साधना के मार्ग में बाधक कह कर उसका तिरस्कार करता है। अपनी मानसिक विवशता और दुर्बलता के लिए उसे उत्तरदायी ठहराता है। यही नहीं, कवि के भाव लोक में नारी का सबसे अवांछनीय और गर्हित रूप तब देखने मिलता है जब वह नर-नारी (प्रकृति-पुरुष) के नैसर्गिक आकर्षण का आधार छोड़कर नारी को केवल इन्द्रिय उपभोग का माध्यम समझ लेता है। उस समय, उसकी दृष्टि में नारी का वही पक्ष महत्वपूर्ण रह जाता है जो उसके इस लक्ष्य को सिद्ध करता है। उसके उन्हीं कार्यों और चेष्टाओं में कवि का मन रमता है जो उसकी उपभोग वृत्ति को अधिक से अधिक तृप्ति देती है। वासोपकास के साथ यह कठिनाई विशेष रूप से है।

४- रीतिकाव्य में नारी का जितना अधिक चित्रण हुआ है उतना संसार के किसी एक साहित्यिक युग की कविता में इतने व्यापकत्व से हुआ है या नहीं, यह संदिग्ध है। किन्तु रीतिकालीन काव्य की नारी की एक बहुत बड़ी सीमा है और वह यह कि उसमें नारी के प्रमदा या रमणी रूप का चित्रण ही अधिक है। रीतिकालीन कवि नारी के लिए जिन उपमानों का प्रयोग करता है वे उसकी मनोवृत्ति के साक्षी हैं। सेनापति ने नारी को रावमाला, मेंहदी, मोहर, वाटिका, तलवार, क्षमादान, अमरावती, चौपड़, महाभारत की सेना, सौंग, काम की पाग कहा है। अतः रीतिकाव्य के आधार पर नारी की प्रतिनिधि प्रतिमा निर्मित करने पर वह इन सीमाओं से अवश्य होगी। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नारी के अन्य रूपों की सर्वथा उपेक्षा की गयी है किन्तु यह अवश्य है कि नारी को रीतिकालीन कवि ने जिस दृष्टि से देखा है वह पूर्ण और समग्र तो है ही नहीं, ग्राह्य भी नहीं है।

नारी के प्रति तत्कालीन समाज का दृष्टिकोणः

५- भारतीय समाज की जीवन दृष्टि में नारी संबंधी दृष्टिकोण के मूल तत्व सभी कालों में प्रायः एक से ही रहे हैं किन्तु तत्सम्बन्धी धारणा में यत्किंचित् परिवर्तन होता रहा है। मित्र सखा सहचरि के रूप में नारी वैदिक युग में पुरुष की समतुल्या रही है। कुछ प्राकृतिक वैशिष्ट्यों के कारण नारी का जीवन पुरुष से कुछ न कुछ भिन्न अवश्य रहा है किन्तु आरम्भ में स्त्री को भी जीवन की व्यापक भूमि में आने के और सक्रिय होने के लिए पुरुष के समान अवसर थे। किसी बड़े सामाजिक पैमाने पर उन्हें हीन ठहरा कर उनका शोषण नहीं किया जाता था किन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रह सकी और बौद्ध काल तक आते आते नारी की ह्रासोन्मुखी स्थिति के असंदिग्ध प्रमाण मिलने लगते हैं। उसे साधना के मार्ग में बाधक और जीवन के व्यापक क्षेत्र के लिए अकाम समझा जाने लगा था। तथागत ने अपने धर्म में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध कर रखा था और आनन्द के पर्याप्त प्रयत्न

करने के बाद ही इस नियम में छूट दी जा सकी । स्मृतियों आदि में तो जो भी विधि और आचार संहिता निर्धारित की गई है वह मानव जाति में पुरुषों को और पुरुष जाति में ब्राह्मणों को अतिशय महत्व प्रदान करती है । शूद्र और स्त्री विरोधी स्वर तो प्रायः मिल जाते हैं । नारी के प्रति इस प्रकार के दृष्टिकोण का विकास आरंभ में उसे कोमल, जीवन की यथार्थ परुष भूमि में अवतरण के लिए अक्षम प्रकृत्या अशक्त आदि मान्यताओं के रूप में सामने आया होगा । धीरे-धीरे उसका मार्दव और उसकी सुकुमारता, अबलत्व का रूप धारण करने लगी होगी । उसका सौन्दर्य क्रमशः रमणीय और अन्ततः उपभोग्य बन गया होगा । उसकी क्षमाशीलता और सहिष्णुता को उदात्त औदार्य न समझकर विवशता का बोधक मान लिया गया होगा । इस प्रकार नारी अपने ही भुवन में सीमित और निर्माण में आबद्ध हो गयी होगी । आलोच्यकाल अनेक दृष्टियों से जीवन-दृष्टि की व्यापकता और उसके स्वास्थ्य के अभाव का युग है इसलिए तत्कालीन समाज का विशेष रूप से तत्कालीन काव्य में अभिव्यक्त समाज का नारी संबंधी दृष्टिकोण संकीर्ण और अस्वस्थ है । व्यक्ति की दृष्टि में वह उपभोग्या हो गयी है । उसका अस्तित्व पुरुष की सत्ता के लिए बनी है । इसलिए आदर्श नारी के गुणों में प्रायः वे ही तत्व सन्निवेशित किये जाते है जिनसे वह पुरुष के संदर्भ में सुशील सलज्ज, सरस और आज्ञाकारिणी सिद्ध हो । बलदेव कवि के अनुसार ही सौंदर्य और सुलक्षणों से युक्त लज्जावती व मधुरभाषिणी, पति-प्रेम से पुत, चतुर किंतु अवंचक युवतियाँ ही संसार में सुखदायक होती हैं[१] । उस्मान के विचार से

---

१- सील सुरूप सुलक्षण लाज में शुद्ध सुभाव है मन भावक,
प्रेम पतिव्रतहीं परिपूरण, संपति साज सबै सब लायक ।
चातुरि चंचलताको तबै गति, मंद निरालस बीगुण लायक ।
भाग्यभरे पतिभाव सराहत हैं युवती जग में सुखदायक ।

स्त्री तत्व स्थिरता का विधायक और प्रतीक है। वे उसकी देहरी से उपमा देते हैं[१]।

६- भारतीय समाज में स्त्री की अबला, अतएव रक्षणीय समझा जाता रहा है। शास्त्रकार का वचन है कि स्त्री की रक्षा करने वाला पुरुष अपने संतान की, सदाचार की, कुल की, तथा धर्म की भी रक्षा कर लेता है[२]। बालोच्यकाल का इतिहास इसका साक्षी है कि भारतीय और विशेषकर शिवाजी अपने शत्रुओं तक की स्त्रियों के प्रति सम्मान और सहिष्णुता की भावना रखते थे, उनकी मर्यादा के विपरीत आचरण नहीं करते थे। मुसलमान इतिहासकारों ने भी इसकी साक्षी दी है। अबला को सभी परिस्थितियों में अवध्य समझा जाता था[३]। सेनापति के अवधपुरी की स्त्रियाँ स्वयं अपने अवध्य होने के संबंध में आश्वस्त हैं[४]। हम्मीर रासो में वहां एक स्थान पर शेख के स्वामी की पत्नी उससे प्रणय याचना करती है और शेख उसकी याचना को अस्वीकार कर देता है वहां स्त्री यह बताती है कि स्त्री की मांग को ठुकराना पुरुष को शोभा नहीं देता। उसका यह धर्म है कि वह अबला की हर इच्छा की पूर्ति करे[५]। रूप नगर की राजकुमारी ने

---

१- कहै सुजान अनहु वर नारी, तुम समानि को बूझनि हारी।
मेहरिन्ह कहँ लोग सब देहरी, धरै बसन अस्थिर सोइ मेहरी॥
छ० वि० पृ० १७९।

२- स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।
स्व च धर्म प्रयत्नेन नारी रक्षन् हि रक्षति॥

३- बान तनि राम पै, नारि बानि छाड़ि दई।
के० मृ० पृ० २३९।

४- बीती है अवधि, हम अबला अवध, ताहि
वधि कहा है हौ, दया कीजे बीरबंत की॥
के- क० र० पृ० ५९

५- पुरुष धर्म यह पूर न होई।
तिय याचत को नाटत कोई॥
बो० छ० रा० पृ० ५२

दिल्लीश्वर के वैवाहिक प्रस्ताव को ठुकराकर रावसिंह से विवाह के लिए उसे पत्र भेजते हुए अपने अबलात्व की रक्षा की याचना की थी[1] ।

## आदर्शनारी की धारणा

६- भारतीय चिंता-धारा में स्त्री के लिए लज्जा और मर्यादा आदि गुण अत्यन्त महत्वपूर्ण है । वृहद्धर्म पुराण के अनुसार घर की शोभा कन्या से होती है, सम्पत्ति की शोभा पंडितों से होती है, पुरुष का भूषण सद्बुद्धि है और स्त्री का भूषण लज्जा[2] । कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्री के लिए सद्बुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं और पुरुष के लिए निर्लज्ज होना कुछ आवश्यक-सा है । आलोच्य-काल में भी यह दृष्टि विकसित होती रही और उसे अपेक्षाकृत अधिक व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ । लज्जा सौन्दर्यवर्धक ही नहीं, अपने आपमें सौन्दर्य बन गयी जिसकी चरम परिणति आधुनिक युग में प्रसाद की, "रति की प्रतिकृति" के रूप में दिखायी पड़ती है । नूर मुहम्मद के विचार से लज्जा के बिना सौन्दर्य निरर्थक है[3] । मंजन कवि कुलवधू के लक्षणों में लज्जा को

---

१- लहि औसर सुन्दर पत्र लिखे, चित्र कोट बनी अवरूख रखे ।
हरि ज्यों सु रुक्मनि लावरखी, अबला यों राखहु दास-मुखी ।
मान० रा० वि० पृ० १०७ ।

२- गृहेषु तनया भूषा, भूषा सम्पत्सु पंडिता:
पुंसां भूषा तु सद्बुद्धि, स्त्रीणां भूषा सलज्जता ।।
वृहद्धर्मपुराण

३- सुंदर मुख की आंखिन चाही लाज ।
लाज बिना सुंदरता कौने काज ।।
नूर मुहम्मद- अनु वां पृ० ७२

अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। उसे किसी ने बोलते हुए नहीं सुना, गुरुजनों की ओर देखती नहीं, मन सदैव पति की कामना में रत रहता है, [illegible] नम्रमुखी सदैव अपना मुंह घूँघट से ढके रहती है, हृदय में लज्जा का वास होता है, घर के आंगन में भी कभी वही आती सूर्य को उसका दर्शन कभी न मिला होगा, शिव से नख तक वह वस्त्र से आवृत्त है, यदि थोड़े से भी पैर खुल जाते ही चिंतित हो जाती है[1]। तोष की नायिका को देहरी तक दौड़ कर जाने को मना किया जाता है क्योंकि ऐसा होने से "कुल की कानि" चली जायेगी[2]। यह लाज भी ऐसी है कि विदेश से आये हुए प्रियतम से जी भरकर मिलने भी नहीं देती। मतिराम की नायिका के प्रियतम विदेश से आकर घर के आंगन में परिजनों के बीच बैठे है, नायिका भीतर द्वार पर खड़ी है, उसका शरीर प्रेमातिरेक से कम्पित हो रहा है रोमे-रोम प्रियतम से मिलने के लिए आतुर हो रहा है, वह घूंघट के पट की ओट से प्रियतम का दर्शन करती जाती है[3]

---

१- बोलत न सुनै कोऊ, देखती न गुरु जन,
मन पति ही को सदा लिये मन तरसै।
नीचिये रहित मुख घूंघट सहति महा,
कहा कहौं जैसी लाज हिय बिच तरसै।
गंजन सुकवि कहे ऐसे निबहै, घर
आंगन न आवै नैन सूरज न दरसै
पग उघरत पीर नखसिख चीर सोहै,
परपति मान हियो मोनहूं न परसै।
गंजन० सा० पु० पृ०२६०

२- पौरि लौं दौरि न आहि भटू सुनतै सिगरी कुल कानि टरैगी ।।
तोष- सु० नि० पृ० १०५

३- आए विदेस तै प्रानपिया, मतिराम अनंद बढ़ाय अघैबै,
लोगन सो मिलि आंगन बैठि, धरी-ही-धरी सिगरी घर घैबै।
भीतर भौन के द्वार खड़ी, सुकुमार तिया तन कंप विसेखी
घूंघट को पट ओट दिये पट ओट किए पिय को मुख देखै ।।
म- ग्रं० पृ० ३१८।

बेनी प्रवीन की नायिका की भी यही स्थिति है। प्रियतम विदेश से आकर आंगन में खड़े अंगना का मन मोह रहे हैं नायिका अन्तःपुर में है और कुटुंबियों का संकोच उसे मनभावन से मिलने से रोक देता है[1]। और यह लज्जा विदेश से आये प्रियतम से मिलने में ही कठिनाई नहीं प्रस्तुत करती, अधिक सामाजिक कठिनाइयां तो तब आती है जब किसी "राधा" का किसी "गोपाल" से मन लग जाता है। ब्रज की स्थिति तो विचित्र ही है आनन्दकन्द को देख-देख गोपिकाएं तन मन और जीवन न्योछावर करती हैं। कन्हैया की छितवन उनके मन में ऐसी गड़ी है कि निकलती ही नहीं। वस्तुतः वे गोपियां धन्य है जो ब्रजराज को देखने, घर के काम काज संभालने, और लज्जा की रक्षा का काम एक साथ कर लेती है[2]। अतिशय प्रेमातिरेक के क्षणों में भी गुरुजनों से लज्जा करना भारतीय नारी के लिए आवश्यक-सा है। मतिराम की छबीली नायिका गुरुजनों की भीड़ में संकोचवश मनमोहन को नहीं देखपाती, देखती भी है तो भयवश औरों की दृष्टि बचा कर वह प्रियतम से मिलने के लिए अटारी में चढ़ती है किंतु गुरुजनों की लज्जावश यह प्रयत्न

---

१- आयो विदेश ते बेनी प्रवीन खरे अंगना अंगना मन मोहै।
भीतर भौन ते प्रानपिया सुकिते चहै पै न धरै न अगोहै।
सोच विमोचन सोहै भये पै सकोचन लोचन होत न सोहै।

बेनी प्रवीन- न० ग्र० त० पृ० २९।

२- बारन छितौनि चुभी मतिराम हिए मति की० गहि ताहि निकारै।
ते धनि वे ब्रजराज लखै गृह काज करैं अरु लाज सभारैं॥

ग्र० पृ० १९८

३- बैठे हुते साल मनमोहन छबीली बाल,
छिनक सकोच राखो गुरुजन भीर को,
कवि मतिराम दीठि और की बचाय देखै
देखत ही भौरे भयेराखत अब धीर को।

म- ग्र० - पृ० ३४२

करती है कि किसी प्रकार की अभाव न हो[1] । देव की नायिका के सामने भी दुरन्त समस्या है । उसके आभूषण कहीं बज न उठे और देवर सोते से जग न जाय इसलिए वह धीमे-धीमे चलती है फिर ननद का भी तो डर है वह इन सब के संबंध में अधिक सजग और सतर्क है[2] । यह समस्या मायके में अधिक जटिल हो जाती है, वहां तो गुरू लोगों की लज्जा और भी बड़ी होती है । उनकी उपस्थिति में प्रियतम से मिलना अधिक अवांछनीय है इसलिए नायिका दबे पांव केलि मंदिर की ओर जाती है । मायके में मनभावन से मिलना अमृत से आचमन करने के समान कठिन है[3] । इस लज्जा संबंधी धारणा, ने पर्दा प्रथा को प्रोत्साहन दिया है । वैदिक साहित्य में पर्दा का कोई उल्लेख नहीं मिलता और स्त्री के लिए लज्जा को भी व इतना महत्व नहीं दिया गया । पुराणकाल में इसका आरंभ होता है कालिदास के काव्यों लज्जा का स्थान महत्वपूर्ण तो है परन्तु पर्दे का अभाव सा है । विक्रम

---

१- चढ़त अटारी गुरू लोगन की लाज प्यारी
रसना रसन दाबै रसना झनक है ।
म० गृ० पृ० २१३

२- नेवर के बजत खलेवर कंपत देव,
देवरू जगै न लग सोवत तनक ते ।
ननद न छीछी त्यौरी तोरत तिरीछी सखि,
कीछी कैसी विधु बगरावैगी झनक ते ।।
दे० द० पृ० १४२

३- लाज बड़ी गुरू लोगन की पर्दा चांपि के केलि के मंदिर जैबो ।
माइके में मनभावन को मिलिबो सखी सांच अमी को अचैबो ।
मतिराम सुं० लि० पृ० २४२

का तीसरी शताब्दीतक पर्दा प्रथा लोक प्रिय नहीं थी । डा० राधाकृष्णन के अनुसार आरम्भ में स्त्रियों का विलगाव और पर्दा प्रथा: अज्ञात था । तरुणियां उन्मुक्त जीवन बिताती थीं । पर्वादि के अवसर पर युवतियां सम्पूर्ण सज्जा और अलंकरण के साथ उपस्थित होती थीं[1] । मुस्लिम आक्रमण के पश्चात पर्दाप्रथा का सर्वांगीण और व्यापक प्रचार हुआ और आलोच्यकाल तक आते-आते वह प्रायः सर्वविधीय बन चुकी थी जिसके संबंध में अन्यत्र विचार किया जायेगा ।

८- स्त्री पुरुष की सब प्रकार से सहचरी होती है । वह अर्धांगिनी है, सहधर्मिणी भी है । आरंभ में धार्मिक कार्योंमें और उनके फलाफल में स्त्री पुरुष दोनों का समान समान भाग रहता था किंतु कालांतर में यह स्थिति बदलने लगी थी । निर्णयामृत के आदेशानुसार पत्नी को पति का व्रत करना चाहिए और पति को पत्नी का[2] । किंतु धर्मशास्त्र में यह कहा गया है कि स्त्रियों का कोई पृथक यज्ञ नहीं होता और उन्हें किसी प्रकार के व्रतादि की आवश्यकता नहीं है । केवल पति-परायणता द्वारा ही वह उत्तम गति प्राप्त कर सकती है[3] । इस प्रकार पति ही स्त्री का धर्म और इष्टबन गया । स्त्री के लिए पति की सेवा ही परमसाध्य समझा जाने लगा किंतु हिंदू परिवार में बिना स्त्री के, विवाहित पुरुष के धार्मिक अनुष्ठान अधूरे और निष्फल समझे जाते हैं[4] ।

---

१- राधाकृष्णन, रिलीजन एण्ड सोसाइटी पृ० १४२

२- भार्या पत्युर्व्रतं कुर्याद् आर्याणाञ्च पतिर्व्रतम् ।
(निर्णयामृत) ।

३- नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो, न व्रतं नाप्युपोषितम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ।।
(धर्मशास्त्र)

४- धर्म कर्म कछु कीजई, सकल तरुणि के साथ ।
ता बिन जो कछु कीजई, निष्फल सोई नाथ ।।
के० का० २।२३६

९- आलोच्यकाल में परस्त्री प्रेम और बहुविवाह किसी व्यापक रूप में प्रचलित थे ऐसा तो नहीं कहा जा सकता किंतु तत्कालीन काव्य में इनके पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध है जो कवि की रसिक मनोवृत्ति के साक्षी है। कहीं कहीं तो इसकी संस्थिति एक साथ मिल जाती है। बिहारी की नायिका ने नायक को सौत की पारी में परस्त्री विहार करते सुना है जिसके कारण उसके मन में विभिन्न विरोधी भाव उठते हैं[1]। बेनी प्रवीण की परिणीता नायिका के प्रियतम किसी अविवाहित परस्त्री के प्रेम में पड़े है अपनी परिणीता पत्नी की ओर ध्यान नहीं देते और वह उलाहना देती है[2]। भिखारी दास की नायिका को अपनी सौतों से उतनी ईर्ष्या और अपने सम्मान का उतना ध्यान नहीं है जितना उसमें पति प्रेम है। वह अपनी सखी से कहती है कि अब तो यही जी में आता है कि सौतों के भी घर जाना पड़ेगा, मान घटने से क्या घटेगा, प्रियतम को देखने का अवसर तो मिल जायेगा। उनके प्रियतम की परकीया संभवतः घर की सपत्नी नहीं बाहर की कोई स्त्री है जिससे उनका मन लग गया है[3]। नन्दकुमार घर आकर अपना प्यार प्रदर्शित करने के लिए नायिका के पैर छूते है किंतु उनके मस्तक पर लगी लीक अपना दोष अपने आप प्रकट किये दे रही है[4]।

---

१- बालमु बारै सौति के सुनि पर नारि-बिहार।
भौ रसु अनरसु, रिस रली, रीझ खीझ इक बार॥
बि० र० दो० १८७

२- हम एक क्या ही अनब्याहियें से प्रेम करें।
धन्य नेम उनके वे धन्य-धन्य नारी है॥
बेनी० न० र० त० पृ० २०

३- आवै यही अब जी में बिचार सखी चलि सौतिहु के गृह जैये।
मान घटै तें कहा घटिहै, जुपै प्रानपियारे कौं देखन पैये॥
भि० ग्रं० पृ० ३१

४- पाइन प्रेम बनाइ बन परिवै नंदकुमार।
अनख लाख पग लखत है बायक लीक लिलार॥
म० ग्रं० पृ० ४८

ताके पग लागौ लिख जागि जाके डर लागै,
मेरे पग लगि डर जागिन लगाइए॥
म० ग्रं० पृ० ३२६

१०- नारी के अन्य रूप महत्वपूर्ण है अवश्य किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी समस्त जीवन यात्रा मातृत्व के शिखर पर पहुंच कर अपना गन्तव्य प्राप्त कर लेती मानों वह इसी की तैयारी में रहती है। हिन्दू धर्म शास्त्रों में माता के महत्व का भूरिशः वर्णन किया गया है। वह अपने मातृत्व के द्वारा सृजन की परंपरा को अक्षुण्ण बनाये रखती है। वह सृष्टि के संचलन में योग देती है। हम अपने अस्तित्व के लिए उसके ऋणी है और यदि मानव जीवन का मूल्य है तो उसमें मां का स्थान अद्वितीय है। इसीलिए हमारे यहां "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति" की परंपरा रही है। बौधायन धर्म सूत्र में पति और दुराचारी पिता को त्याग देने की अनुमति दी गयी है किंतु मां दुराचारिणी भी हो तो परित्याज्य नहीं[1]। माता के समान स्नेहांचल की शीतल छाया के समान अन्यत्र दुर्लभ है, माता के समान गति भी अन्यत्र नहीं है और न उसके समान त्राणदाता और प्रिय ही अन्य कोई है[2]। नारी के अन्य रूपों का महत्व कालानुसार घटता बढ़ता रहा है किंतु उसका मातृत्व सदैव गरिमावान् रहा है। पुत्र के लिए मां का आदेश पिता के आदेश से बड़ा है। तुलसी जैसे आदर्श और मर्यादापूर्ण कवि के राम की मां कौशल्या तो विमाता को भी इतना महत्वपूर्ण स्थान देती है कि उनके आदेश के बिना पिता का आदेश अधूरा और अमान्य है[3]। आलोच्यकाल में भी माता का महत्व

---

१- पतितः पिता परित्याज्यो माता तु पुत्रे न पतति।
बौधायन धर्मसूत्र - १२-४७

२- नास्ति मातृसमा छायाः नास्ति मातृसमा गतिः।
नास्ति मातृसमं त्राणं, नास्ति मातृसमा प्रिया॥
शांति० २६७-३१

३- जौ केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़िमाता॥
जौ पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥
रामचरितमानस -(गुटका) पृ० २११

१०- नारी के अन्य रूप महत्वपूर्ण है अवश्य किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी समस्त जीवन यात्रा मातृत्व के शिखर पर पहुंच कर अपना गन्तव्य प्राप्त कर लेती मानों वह इसी की तैयारी में रहती है। हिन्दू धर्म शास्त्रों में माता के महत्व का भूरिशः वर्णन किया गया है। वह अपने मातृत्व के द्वारा सृजन की परंपरा को अक्षुण्ण बनाये रखती है। वह सृष्टि के संचलन में योग देती है। हम अपने अस्तित्व के लिए उसके ऋणी है और यदि मानव जीवन का मूल्य है तो उसमें मां का स्थान अद्वितीय है। इसीलिए हमारे यहां "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति" की परंपरा रही है। बौधायन धर्म सूत्र में पति और दुराचारी पिता को त्याग देने की अनुमति दी गयी है किंतु मां दुराचारिणी भी हो तो परित्याज्य नहीं[1]। माता के समान स्नेहांचल की शीतल छाया के समान अन्यत्र दुर्लभ है, माता के समान गति भी अन्यत्र नहीं है और न उसके समान त्राणदाता और प्रिय ही अन्य कोई है[2]। नारी के अन्य रूपों का महत्व कालानुसार घटता बढ़ता रहा है किंतु उसका मातृत्व सदैव गरिमावान् रहा है। पुत्र के लिए मां का आदेश पिता के आदेश से बड़ा है। तुलसी जैसे आदर्श और मर्यादापूर्ण कवि के राम की मां कौशल्या तो विमाता को भी इतना महत्वपूर्ण स्थान देती है कि उनके आदेश के बिना पिता का आदेश अधूरा और अमान्य है[3]। आलोच्यकाल में भी माता का महत्व

---

१- पतितः पिता परित्याज्यो माता तु पुत्रे न पतति।
बौधायन धर्मसूत्र - १२-४७

२- नास्ति मातृसमा छायाः नास्ति मातृसमा गतिः।
नास्ति मातृसमं त्राणं, नास्ति मातृसमा प्रिया॥
शांति० २६७-३१

३- जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥
रामचरितमानस -(गुटका) पृ० २३३

अनुष्ण है। छत्रसाल की माता को पुण्य की मूर्ति कहा गया है[1]। माता अपना स्तन्यपान करा कर, हमें वपुष्मान बलवान बनाती है। उसकी ममता हमें आत्मिक बल प्रदान करती है। सेनापति ने सुत को स्तन्यपान कराने का सुंदर वर्णन किया है। मंयकमुखी अपने वत्स को गोद में लेकर उसके मुंह की ओर स्नेह भरी दृष्टि से देखती जाती है और बायें हाथ से पुत्र का शीश पकड़े दाहिने हाथ से स्तन्यपान करा रही है[2]। यही नहीं मां पुत्री को अपने गार्हस्थ्य जीवन के अनुभव से और पुत्र को लौकिक ज्ञान से कर्मक्षेत्र में मार्गदर्शन भी करती है। छत्रप्रकाश में चंपत की माता द्वारा पुत्र को उचित सलाह देने का उल्लेख आया है[3]। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय होगा कि और कहां, पति के संदर्भ में अनेक पत्नियों और प्रेमिकाओं के होने के कारण सौतों से संबद्ध विवरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते है वहां विमाताओं के चित्र प्रायः नहीं है। रीतिकाल का रसिक कवि रस-सृष्टि में तीव्रता लाने के लिए बहुविवाह का अस्तित्व लोक जीवन में व्यापक न होने पर भी, बायोजित कर लेता है किन्तु उस स्थिति को युक्तसंगत परिणति तक नहीं पहुंचाता। कदाचित् इसलिए कि उसके रसिक मन को उसमें साथ नहीं मिलता और अकारण ही द्वेष या कलह की सृष्टि वह काव्य में अनावश्यक समझता है। केशवदास की विज्ञान गीता में विमाताओं के परम्परागत वैर का उल्लेख अवश्य मिलता है[4], संभवतः इसका कारण केशव का राजकुल के

---

१- त्यौंही छत्रसाल की माता बग में एक पुन्य की भाता।
गोरे- छ० पृ० ६०

२- कीने नत नैन, देखे मुख-चंद नंदन कौं,
अंक से मंयक-मुखी तादि मलहावति है।
बाएं कर हौरिल की सीस रखि दाएं कर,
गहे कुच प्यारी पयपान करावति है॥
से० क० र० पृ० ५१

३- यह सुन के चंपति की माता। दानविधान ज्ञान गुन दाता।
निकट आपने पुत्र बुलाए। सुखद मंत्र के बचन सुनाए॥
गोरे- छ० प्र० पृ० ३७।

४- वैर विमातनि में चलि आयो। बाधु नयो इनहीं न उपायो॥
के० गृ० पृ० ६५१

अधिक निकट होना और राजकुल में उत्तराधिकार के लिए राजमाताओं का अधिक मुखर होना हो, किंतु यह सत्य है कि रीति काव्य में विमाताओं का उल्लेख किसी बड़े पैमाने पर नहीं है।

कामिनी रूप -

१९- रीति कालीन काव्य में नारी की अवतारणा अनेक रूपों में हुई है किंतु रीति कवि का रसिक मन नारी के रमणी और प्रमदा रूपों पर स्वभावतः अधिक रमता था। गृहिणी और पत्नी आदि रूपों में भी रीतिकवि के लिए प्रमदात्व और रमणीत्व का ही आकर्षण अधिक प्रबल था। केशवदास भामिनी को भोगों का परम आस्वाद मानते हैं स्त्री के बिना संसार छूट जाता है और संसार छूट जाने पर सुखों का योग समाप्त हो जाता है[1]। विज्ञान गीता में ही केशवदास एक अन्य स्थान पर काम के मुख से स्त्री को काम के शस्त्र के रूप में संबोधित कराते हैं। उसके देखते ही धैर्य छूट जाता है, नियम और संयम टूट जाते हैं, संसार के सारे ज्ञान-विज्ञान और समस्त विवेक शक्ति उससे पराजित हो जाती है। समस्त संसार को जीतने के लिए काम ने अपने युवती रूपी शस्त्र का निर्माण किया है[2]। राजा बबसिंह के दरबार में पहुंचने पर उनकी स्थिति को देखकर बिहारी लाल को उद्बोधन में जो दोहा लिखकर भेजना पड़ा था वह तत्कालीन उच्च वर्ग में व्याप्त कामपरकता का प्रतीक है। कवि स्वयं तो नारी के प्रति

---

१- जहां भामिनी भोग तंह भामिनि बिन कहं भोग।
भामिनि छूटे जग छूटे जग छूटे सुख जोग॥
के० वि० गी पृ० १५४।

२- शील विलास सबै सुमिरे अवलोकत छूटत धीरज भारो।
हासहि केशवदास उदास सबै वृत संजय नेम निहारो।
भाजण ज्ञान विज्ञान छिपै चिरी को बपुरा जो विवेक विचारो।
या सिगरे जग जीतन को युवतीमय अद्भुत शस्त्र सवारो॥
के० गृ० पृ० ६५०

आकृष्ट रहता ही था, कामी स्वतः परवति के अनुसार नारी की मनोवृत्ति में भी काम का गहरा रंग भर देता है। सुखदेव मिश्र की नायिका किसी नन्द के कन्हैया से अपनी गैया दुहने का आग्रह इसलिए नहीं करती कि उसे वस्तुतः गाय दुहाने की जरूरत है। वह तो अत्यन्त अर्थगर्भ आमन्त्रण है। नायक को बुलाने के साथ वह सूनेपन और एकान्त का विज्ञापन करना भी नहीं भूलती। उसकी भाभी झगड़ा करके बाहर चली गयी है, जिसके बिना उसे अपना घर बिल्कुल नहीं अच्छा लगता (अर्थात् बहुत अच्छा लगता है)। पड़ोसिन अन्धी तो है ही, पुकारने पर सुनती भी नहीं, माँ मायके गयी है भैया भी गाँव घर में नहीं है। किसी कन्हैया को आमन्त्रण देने के लिए इससे उपयुक्त और कौन सा अवसर हो सकता है[1]। किसी नायिका के घर के सब लोग तीर्थ स्नान के लिए चल पड़े है और सास (अनबाने ही) बहू पर कृपालु हो जाती है, घर में कोई रहने के लिए तैयार नहीं है इसलिए वह बहू को घर में ही रहने का आदेश देती है। सुंदरी इस अयाचित अनुकम्पा से आनंदित हो जाती है। उसे नन्दोई के साथ रहने का मनचाहा अवसर मिल जाता है[2]।

---

१- न्यारी है रही है घिन छैक ही से भाभी लरि,
तो बिन न भावै भौन कहौ कहा कीजिये।
नेकहु न सुने बैर से कहूं को टेरियत,
आँधरी परोसिन यह दुख कैसे जीजिये।
-। † †
मैया गई माइके सु भैया घर नहिं आवु,
नन्द के कन्हैया मेरी गैया दुहि दीजिए॥
सुखदेव मिश्र- सा० प्रभा० पृ० १५९।

२- द्वै दिन के पथ तीरथ-स्नान को लोग चले मिल के सिगरोई।
सासु बहू से कह्यो कि रहो तुम और रहे नहिं राखत कोई।
सुंदरी आनंद सो उमगी हिय चाहत ही सो भई अब सोई।
प्रेम से पूरन दोऊ बने घर आप रही कि रह्यो ननदोई॥
रघुनाथ सुं० सिं० पृ० १११-१२

१९- बिहारी को समालोचकों ने गागर में सागर भरने का श्रेय दिया है। उन्हें लोक जीवन का अत्यन्त व्यापक और गहन अध्ययन था। जीव के अन्य कवियों की भाँति, अपितु उनसे कहीं अधिक, उनको इस सामर्थ्य का परिचय वहाँ मिलता है जहाँ वे नारी को कामिनी रूप में प्रस्तुत करते हैं। संभव है, जैसा कि बिहारी ने लिखा है, किसी परम सुंदरी का सर्वांगीण बखानता हुआ रूप चित्रकार की सामर्थ्य के बाहर हो गया हो किंतु बिहारी का कलाकार इतना सजग है, उनकी दृष्टि इतनी पैनी है कि शृंगार और काम के क्षेत्र में मानवमन के प्रत्येक उत्थान-पतन को उनकी तूलिका एक ही हल्के से स्पर्श से मूर्त कर देती है। वहाँ उनके समकालीन कवित्व और सवैया लिखने वाले कवियों को एक चित्र देने के लिए अनेक बार और कहीं-कहीं अनावश्यक रूप से अपनी कूंची का प्रयोग करना पड़ता था, इतने रंग भरने पड़ते थे कि सहृदय उन रंगों में ही खो जाय और प्रकृत बिम्ब उसके हाथ बहुत कम आये वहाँ बिहारी को एक दोहा भाव को मूर्त करने और चित्र को सुंदर करने के लिए पर्याप्त होता है। उनकी नायिका के नेत्र रूपी तुरंग लज्जा रूपी लगाम को नहीं मानते। विचित्रता तो यह है कि घोड़े को लगाम खींची ही नहीं जानी चाहिए। वरना वह और तेज चलने लगता है यहाँ भी नेत्र रूपी तुरंग लज्जारूपी लगाम के कड़ी करने पर और भी तीव्र गति से अपने गन्तव्य अर्थात प्रिय की ओर प्रयाण करते हैं। एक अन्य स्थान पर प्रियतम के ध्यान में मग्न नायिका दर्पण देखती है और अपने ही रूप पर रीझती और खीझती है[1]।

---

१- लाज-लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहिं।
ए मुँहजोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं॥
बि० र० ६१०

पिय के ध्यान गही गही रही वही है नारि।
आपु आप ही आरसी लखि रीझति रिझवारि॥
बि० र० ७८१

फ्रायड ने काम को मानव स्वभाव की मूलवृत्ति माना है। भारतीय चिंतन परम्परा के संदर्भ में यदि काम शब्द की व्याख्या की जाय तो अपने व्यापक अर्थ में वह कदाचित फ्रायड की मान्यता का समर्थन करेगा। संभवतः इसीलिए फ्रायड को बिना जाने ही बिहारी फ्रायडीय परम्परा का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उनकी नायिका प्रियतम के द्वारा चुंबित शिशु मुख को इसलिए चूमती है कि उसे पियमुख के चुंबन का सुख प्राप्त होता है[1]। मतिराम में ऐन्द्रिय प्यास और तृप्ति का अभाव अपेक्षाकृत अधिक मिलता है और उनकी सौन्दर्य दृष्टि भी अपेक्षाकृत अधिक रसस्नात है। प्रियतम के नेत्र मयंकमुखी की मृदु मुस्कान का पान करते रहते हैं किंतु उनकी प्यास रंचमात्र नहीं बुझती। उनकी नायिका के मुस्कराने पर सौन्दर्य-शशि बिखर पड़ती है, ऐसा प्रतीत होता है मानों पुष्पित चम्पक लता में से चमेली के पुष्प झड़ने लगे हों[2]। मतिराम के इस दृश्य में चक्षुरिन्द्रिय की प्रधानता है, चित्र का संबंध उसी से है किन्तु बिहारी में रसना की ललक है। जब तक उनकी नायिका नहीं बोलती तभी तक पीयूष आदि में माधुर्य रहता है उसके बोल इतने मीठे हैं, उसकी बातें इतनी सरस हैं कि उसे सुनने के बाद "अलि-मधुर-पियूष" की भूख नहीं रह जाती[3]। पावक शिखा की भाँति वह

---

१- विहँसि बुलाइ, बिलोकि उत मोर तिया रसभूमि।
पुलकि पसीजति, पूत की पिय-चूम्यौ मुँह चूमि॥
बि० र० ६१७

२- पियत रहत पियनैन यह तेरी मृदुमुसकानि।
तऊ न होत मयंकमुखि तनिक प्यास की हानि॥
† † †
खेलत बाल के बदन में यौं छवि कहू बसूत।
फूलो चंपक बेलि तें झरत चमेली- फूल॥
म- ग्रं० पृ० ४०४-४०३

३- खिलकु, छबीले लाल, यह नहिं यौ लखि चतराति।
अलि, मधुर, पियूष की तौ लौं भूख न जाति॥ बि० र० ५०४

ज्यौं ज्यौं पावक-लपट सी सिय छिय सी लपटाति।
त्यौं त्यौं छुही गुलाब सै छतिया अति सियराति॥
बि० र० दो० २६४

प्रियतम के हृदय से लिपट जाती है (पावक शिखा में सौन्दर्य के साथ साथ आभा के दहन की क्षमता और मनोभावों की ऊष्मा भी है) किंतु वैचित्र्य यह है कि पावक शिखा से जलन के स्थान पर बन्तस् को अनिवर्च शीतलता की अनुभूति होती है। सेनापति की नायिका के तिरछे कटाक्षों की वेध शक्ति प्रबल है। वे उद्दिष्ट व्यक्ति की छाती में गड़ कर ही रह जाते हैं[1]। घनानन्द की नायिका का गौरवर्ण और सुंदर भाल ऐसा प्रतीत होता है मानों श्री का आवास स्थल हो। उसकी मीठी मृदु मुस्कान से रस स्रवित होता है[2]। मतिराम की नायिका अपने पड़ोसी के घर-आग लेने गयी। इस प्रक्रिया में आँखें मिलाकर मुसकाते हुए होकर, किंचित स्नेह व्यक्त कर आग लेने के साथ उसने पड़ोसी के हृदय में आग लगा दी और चली गयी[3]। रीतिकाल का शृंगारी कवि आग लग जाने पर उसे बुझानी ठीक नहीं समझता। रमणी रूप की प्यास उसे बनी ही रहती है।

---

१- सेनापति प्यारी तेरे तन से तरल तारे
तिरछे कटाछ गड़ि छाती में रहत हैं॥
से० क० र० पृ० ३३

२- छवि को सदनु गोरो बदन रुचिर भाल।
रस निचुरत मीठी मृदु मुसकान तै।
घ० ग्रं० पृ० ४८५

३- नैन चोरि, मुख मोरि, हँसि, नैसुक नेह जनाय।
बागिलेन आई, चिते मेरे गई लगाय॥
म० ग्रं० पृ० ३२६

असत् पक्ष-

१- रीतिकाल के रसिक कवियों ने नारी के कामिनी रूप का चित्रण करने में अपनी अधिकांश काव्य शक्ति का नियोजन किया । स्त्री के संबंध में अतिशय प्रशस्ति और आकर्षण तथा अत्यन्तिक निन्दा और विकर्षण दोनों ही पुरुष मन की अस्वस्थ प्रवृत्तियां है । पहली मनोवृत्ति का व्यक्ति उसके आकर्षण में जीवन की व्यापकता को समग्र रूप से देखने में असमर्थ रहता है तो दूसरा स्त्री को नरक का द्वार समझ कर उसके प्रति एक अस्वाभाविक विरक्ति और आक्रोश पाल लेता है, जीवन की नैसर्गिक योजना के प्रतिकूल आचरण करता है । इसलिए रीतिकाल में कामिनी की कामकला की अतिशयता के साथ साथ उसके संबंध में गर्हित और कुत्सित दृष्टि भी देखने में आती है । संत नागरीदास के अनुसार नौ, दस वर्ष की होने के साथ ही स्त्री को कामकला रुचिकर लगने लगती है[1]। सुंदरदास कामिनी की देह सघन वन की भांति बताते है, जहां जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति भ्रमित हो जाता है । उसकी गति कुंजर के समान है, कटि में केहरि का भय है, वेणी नागिन के फन की तरह है, उसके वक्षस्थल पर्वत शिखरों की भांति दुर्गम्य है जहां काम रूपी चोर बैठे हुए कटाक्ष रूपी बाण ताने प्राण-हरण को उद्यत है[2] । दरिया साहब के विचार से कनक

---

१- नौ दस बरस निकट जब आवै, कामकला तबही ते भावै ।
नागरी- पृ० ४५

२- कामिनी की देह अति कहिए सघन वन,
जहां सुतौ जाइ कोउ भ्रमि के परत है ।
कुंजर है गति कटि केहरि को भय मानैं,
वेनी कारी नागिन सी फन को धरत है ।
कुच है पहार जहां काम चोर बैठो तहां,
साधिके कटाक्ष बना प्रान को हरत है ।
सुंदरदास कविता- कौमुदी पृ० ३३१-३३२

और कामिनी के फन्द में पड़कर लालची मन माता-पिता, सुत और बान्धवों सभी को बिलखता छोड़ देता है[1] । कनक और कामिनी बटमार की तरह है । इन्होंने सारे संसार में "टंटा" खड़ा कर रखा है[2] । दरिया साहब एक अन्य स्थान पर कहते हैं कि नारी के साथ केवल रस-भोग संभव है भक्ति, योग आदि में उससे बाधा पड़ती है । नारी विकार का स्वरूप है उसकी ओर जाना जानबूझकर आग में पांव रखना है[3]। दीनदयाल की दृष्टि में नारी एक शिकारी की भांति है[4] । पुरुष जिस दिन से वासनारूपी व्यभिचारिणी के हाथ में फंस जाता है उसका विवेक और उसकी सद्बुद्धि समाप्त हो जाती है । माता-पिता और बन्धु बान्धवों का निरादर-तिरस्कारादि कर पुरुष ने वैर का बंकुर बढ़ा लिया है इसलिए कविवर दीनदयाल के अनुसार अन्धकार रूपी स्त्री को छोड़ देना चाहिए

---

१- कनक कामिनी के फंद में लालची मन लपटाय ।
माता पिता सुत बांधवा सब मिलि करै पुकार ।।
दरिया गं० पृ० २५

२- एक कनक और कामिनी यह दोनो बटमार
कनक कामिनी कलह का भंडा इन ठानिन सारा जग टंटा ।
मलूक बानी - पृ० १२-१७

३- नारी संग होवे रसभोगा, भक्ति भाव होवै नहिं जोगा ।
नारी रूप है संग विकारा, जानि के पांव अगनि में डारा ।।
दरिया० गं० पृ० २५५

४- दीन० ग्र० गं० पृ० १४९ (प्रमदा दूषण)

क्योंकि उसके संसर्ग में कोई सुख नहीं प्राप्त होता[1]।

१४- रीतियुग का सामान्य कवि नारी के प्रति जितना ही तीव्र आकर्षण का अनुभव करता था रीति युग का सन्त कवि उसके प्रति उतनी ही गहरी और तीखी विरक्ति रखता है। न तो रीति काल के रसिक कवि का स्त्री के प्रति आकर्षण ही स्वाभाविक और सहज है न संत कवि की विरक्ति ही। ये दोनों ही अतिवादी और अवास्तविक है। रसिक कवि में प्रेम की उस आग का अभाव है जो सृजन और निर्माण का कारण बनती है जो, सृष्टि के प्रकृति और पुरुष तत्व में एक दूसरे के प्रति सहजरूप से उत्पन्न होती है और संतकवि जीवन की सामाजिकता से भागता है, उसकी यथार्थ भूमि छोड़ देता है वह वैयक्तिक स्तर पर सत्य का संधान करता है। सामाजिक समाधान की अपेक्षा उससे नहीं की जा सकती वह किसी भी समस्या का हल सामाजिक स्तर पे देता ही नहीं। किंतु स्त्री के कामिनी रूप के साथ साथ उसके व्यक्तित्व के अन्य पक्षों की निन्दा हमारे यहाँ परम्परागत रूप से चली आयी है। योगशास्त्र में स्त्री के आठ स्वभावज दोष बताये गये है जिन्हें आगे चल कर महाकवि तुलसी ने भी मान्यता दी थी। इनमें अनृत, साहस (अपने पुराने क अर्थ में जबकि उसका भाव दुःसाहस से था) माया, मूर्खत्व, अतिलोभ, अशौच, निर्दयता नामक

---

१- जा दिन ते बासना कुकरि बिभिचारिन की
आनि देह गेह बीच चित को लुभायो है
ता दिन ते सांति औ विवेक मात पित दूं को
तोहि ते निरादर लिखाय बिलगायो है
संजमादि प्रात बड़े तोरन सजा के अनूप
तिन सों है तैर रूप अंकुर बढ़ायो है
तातें कवि दीनबाल तमा तिय को उताल
देखिये कृपाल संग कौन सुख पायो है ।।६९।।

दोषों को गिनाया गया है[1] । मनु महाराज के अनुसार भी पुरुषों को विकार ग्रस्त कर देना स्त्रियों का स्वभाव है इसलिए उससे बचना चाहिए । महात्मा सुंदरदास के अनुसार कामिनी का अंग-अंग मलिन और रोम रोम अशुद्ध होता है । वह हाड़ मांस मज्जा और रक्त आदि का भंडार स्वरूप है, उसमें मूत्र पुरीष आदि विविध वे विकार है, इसलिए उनके विचार से, ऐसी नारी के शिख-नख की जो प्रशस्ति करता है वह अत्यन्त गंवार है[2] । संत सुंदरदास के इस कथन में भृतहरि के विचारों की समानता दिखाई पड़ती है । शृंगारशतक में नारी शरीर के प्रत्येक अवयव की अत्यन्त नग्न और वासना जनक चर्चा करने के पश्चात् भृतहरि अपने वैराग्यशतक में संभवतः उस अति की प्रतिक्रिया स्वरूप ही दूसरे छोर पर जा पहुंचते है । दादू दयाल की दृष्टि में नारी और पुरुष दोनों एक दूसरे के वैरी है[3] । संत नागरीदास भी स्त्री की छोटी काया, छोटी और खोटी बुद्धि, महाअशुद्ध तन मन, के प्रति अपना आक्रोश प्रकट करते है । स्त्री ने लेना ही सीखा है, देना नहीं । दानकुबेर की संपत्ति भी स्त्रियों को तृप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं

---

१- अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभिता ।
अशौचित्व निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ।।
योगशास्त्र

† † †
अवगुन आठ सदा उर रहहीं नारि सुभाव सत्य कवि कहहीं ।
मानस पु० ७-५१५

२- कामिनी को अंग अति मलिन महाअशुद्ध
रोम रोम मलिन मलिन सब द्वार है ।
हाड, मास, मज्जा, मेद चर्म सु लपेट राखे,
ठौर ठौर रक्त के भरयु भंडार है ।
मूत्र हू पुरीष आंत एकमेक मिल रही,
और हूं उदर मांहि विविध विकार है ।
सुंदर कहत नारी नखसिख निंदा रूप,
ताहि जो सराहै, सो तो बड़ो हि गंवार है ।। क० की पृ० ३३१-३२

३- नारी वैरागी पुरुष की पुरुषा वैरी नारि ।
अन्त काल दून्यू पचि मुए कछू न आया हाथ ।।
दादू-बानी पृ० १७२

है[1] । स्त्रियाँ बुद्धिहीन होती हैं, उनमें सूझ-बूझ नहीं होती[2]। इसलिए उनकी सलाह मानने वाले का कल्याण नहीं होता । जिस घर में साला सारथी हो, स्त्री की सीख मानी जाय, और सावन में जो बिना छत रहे, ये तीनों भीख माँगते है । इसी प्रकार दूसरे के घर में रहने वाला, स्त्री की सीख मानने वाला और दूर देश में ईख बोने वाला तीनों ही हानि उठाते है[3]। स्त्रियाँ बुद्धिहीन ही नहीं कायर भी होती है[4]। किंतु इस अबला जाति में विनाश की प्रबल सामर्थ्य होती

---

१- छोटी काया छोटी बुद्धि छोटी तनमन महा बजुद्ध ।
लोभी महा लोभ चित बड़ी लैते ही की पाटी पटी ।
धन कुबेर को जो धन भरै तऊ तियन का त्रिपत न करै ।
नागरी- प० ४४

२-तुम कामिनी मतिहीनी, भोग सुपावहु भौंहि ।
प्रेम सीख है मौकहं, सूझ बूझ नहिं तोहि ।।
नूर-इन्द्रा० (हिन्दी के कवि - काव्य पृ० ८७)

३- जिहि घर साला सारथी तिरिया की हो सीख ।
सावन में बिन छत रहै तीनों मागि भीख ।। पृ० ६७
† †
घर बिराने जो रहै मानै तिरिया सीख ।
तीनों ही यों जायेंगे पाही बोवै ईख ।।
पाच- भ० पृ० ७१

४- कायर जाति तिया हम जानी, तातै यह हम प्रथमहिठानी ।।
हम्मीर रासो- पृ० ४८

है। कवि जोधराज एक स्थान पर कहते हैं कि अबला क्या नहीं कर सकती? जिस प्रकार अग्नि में हर वस्तु भस्म हो जाती है, सिंधु में सभी कुछ समा जाता है और काल समस्त संसार को खा लेता है उसी प्रकार स्त्री भी तन्वंगी होते हुए भी पुरुष के लिए सर्वग्रासिनी सिद्ध होती है। सारी कवियों ने स्त्री को अबला कहा है किंतु कवि जोधराज उसे सबला कहने के पक्ष में हैं[1] स्त्री का चरित्र ऐसा कि सारा संसार मुग्ध हो जाता है, वह पानी में आग लगाने और सूखे में नाव चलाने जैसे असंभव कार्य संपन्न कर लेती है[2]। स्त्री पुरुष के पैर की जूती के समान है इसलिए पुरुष को अपनी राह चलना चाहिए "पनही" तो पांव में रहेगी ही[3]। इस प्रकार जब स्त्री का कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है तो उसे किसी प्रकार की स्वतंत्रता भी नहीं दी जानी चाहिए। नारी को पराधीन रखने का दृष्टिकोण हमारी भारतीय संस्कृति में और बाहर भी बहुत प्राचीन है। कामिनी, अबला, मतिहीन, और दुराचारिणी समझी जाने के नाते, उसे आकर्षण का केन्द्र, रक्षणीय और दण्डनीय माना गया है।

---

१- का नहिं पावक जर सकै, का नहिं सिंधु समाय।
का न करै अबला प्रबल किहि जग काल न खाय।
कवि लक्षन अबला कहत, सबला बोध कहंत।
दुबला तन मैं प्रगट बिहि, मोह्यो संत असंत॥
जो० हम्मीर रा०- पृ० ३२

२- तिरिया चरित न कीन्ह विचारा। तिरिया मते बूड़ संसारा॥
तिरिया बस मंह आग लगावै। तिरिया सूखे नाव चलावै॥
का० के

३- जैसे पनही पांव की, तैसे तिया सुभाउ।
पुरुष पंथ चलु आपने, पनही तजै न पाउ॥
ड० वि० पृ० १७९

तुलसीदास ने भी ढोल गंवार शूद्र एवं पशु के साथ स्त्रियों को भी ताड़ना का अधिकारी समझा था । कवि बोधा के अनुसार भी स्त्रियों को भय दिखाकर और समझाकर कैद रखना चाहिए[1] ।

१५- जिस प्रकार भारतीय कवियों ने पारिवारिक परिवेश में स्त्री का अद्वितीय महत्व बताया है, उसे पतिव्रता, सद्गृहिणी, सुलक्षणा, ममतामयी मां और भाभी, बहन आदि अनेक रूपों में देखा और उसका गुण गान किया है, उसी प्रकार पारिवारिक संदर्भ में ही स्त्री में अनेक प्रकार के दोषों का भी वर्णन किया है । वह सास को देखने पर सिंहनी की भांति बम्हाई लेती है, ससुर को देखकर बाघिन की तरह मुंह फैलाती है, ननद को देखकर नागिन की भांति फुंफकारती है और देवर को डाकिनी की तरह डराती है । ऐसी कर्कशा, कुशील, कुबुद्धि और कुलक्षणी स्त्री उसी के घर पहुंचती है जिसका भाग्य फूटा होता है[2] । संत नागरीदास एक ऐसी स्त्री का चित्र खींचते हैं जो माता पिता की सेवा नहीं करती, सास ससुर का कहना नहीं मानती, सुत, पिता माता भाई और बहन में कलह कराती है और पति से भी झगड़ती है[3] । कवि जगलाल की पूर्त नारी प्रियतम को सदैव नये-नये

---

१-राखौ कैद नारीन को भय दिखाय समुझाय ।
बो० वि० बा० पृ० ३९

२- सासु के बिलोके सिंहिनी सी बमुहाई लेइ,
ससुर के देखे बाघिनी सी मुंह बावती ।
ननंद के देखे नागिनी सी फुंफकारे बैठी,
देवर के देखे डाकिनी सी डरवावती ।
भनत प्रधान मोछ बारती, परोसिन की,
खसम के देखे डाढ़-डाढ़ कर भावती,
करकसा कलाइन कुबुद्धिनी कुलच्छनी ये,
करम के फूटे पर ऐसी नार आवती ।।
प्रधान- सा० र० पृ० ३२१

३- मातु पिता की टहल न करै, सास ससुर को अनुहरै ।
करै कलहुत पति सन मात, करै कलह भगिनी और भ्रात ।
नागरी - पृ० ४७

तुलसीदास ने भी ढोल गंवार शूद्र एवं पशु के साथ स्त्रियों को भी ताड़ना का अधिकारी समझा था । कवि बोधा के अनुसार भी स्त्रियों को भय दिखाकर और समझाकर कैद रखा जाना चाहिए[1] ।

१५- जिस प्रकार भारतीय कवियों ने पारिवारिक परिवेश में स्त्री का अद्वितीय महत्व बताया है, उसे पतिव्रता, सद्गृहिणी, सुलक्षणा, ममतामयी मां और भाभी, बहन आदि अनेक रूपों में देखा और उसका गुण गान किया है, उसी प्रकार पारिवारिक संदर्भ में ही स्त्री में अनेक प्रकार के दोषों का भी वर्णन किया है । वह सास को देखने पर सिंहनी की भांति बम्हाई लेती है, ससुर को देखकर बाघिन की तरह मुंह फैलाती है, ननद को देखकर नागिन की भांति फुंफकारती है और देवर को डाकिनी की तरह डरावती है । ऐसी कर्कशा, कुशील, कुबुद्धि और कुलक्षणी स्त्री उसी के घर पहुंचती है जिसका भाग्य फूटा होता है[2] । संत नागरीदास एक ऐसी स्त्री का चित्र खींचते हैं जो माता पिता की सेवा नहीं करती, सास ससुर का कहना नहीं मानती, सुत, पिता माता भाई और बहन में कलह कराती है और पति से भी झगड़ती है[3] । कवि जगजीवन की पूर्व नारी प्रियतम को संदेश नये-नये

---

१-राखौ कैद नारीन को भय दिखाय समुझाय ।
बो० वि० वा० पृ० १९

२- सासु के दिखौके सिंहिनी सी बमुहाई लेइ,
ससुर के देखे बाघिनी सी मुंह बावती ।
ननंद के देखे नागिनी सी फुंफकारे बैठी,
देवर के देखे डाकिनी सी डरवावती ।
भनत प्रभाव मोछ बारती, परोसिन की,
खसम के देखे डाढ़-डाढ़ कर भावती,
करकसा कलाइन कुबुद्धिनी कुलच्छनी मे,
करम के फूटे पर ऐसी नार आवती ।।
प्रधान- सा० र० पृ० ३२१

३- मातु पिता की टहल न करै, सास ससुर को अनुसरै ।
करै कलहसुत पति सन मात, करै कलह भगिनी और भ्रात ।
नागरी - पृ० ४७

आदेश देती रहती है। अन्न, धन, भूषण, वस्त्र अगिन, शाक आदि लाने के नये-नये दुरूह पतिदेव को मिलते रहते हैं। कभी लड़के को खिलाने का आदेश होता है तो कभी अपने ही लिए अंगिया सिला लाने का फरमान। जैसे बाजीगर बंदर को नचाता है वैसे ही वह स्त्री निशिवासर अपने पति को नाच नचाती है[1]। घाघ लोक जीवन के और भी निकट पहुंचे हैं, उनके विचार से जो स्त्री सांझ होते ही खाट पर पड़ रहती है "भरी-भड़ेहर" को "बारह बाट" कर देती है। सारा घर आंगन दुर्गंधित रहता है, ऐसी स्त्री परिवार को रसातल पहुंचा देती है[2]।

१६- नारी के कामिनी रूप पर अतिशय बल देने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि रीतिकालीन कवि उसके प्रति एक अवांछित दुर्बलता का अनुभव करने लगा। पारिवारिक परिवेश में, जहां भवन की आधारशिला ही मर्यादा पर रखी गयी थी, रीति कवि अमर्यादित संबंधों की कल्पना करने लगा। देवर-भाभी, ससुर-पतोहू के और पड़ोसी-पड़ोसिन के अवांछनीय संबंधों के उदाहरण रीतिकालीन काव्य में मिल जाते हैं। बिहारी की नायिका के देवर का ब्याह हो रहा है। घर के सभी लोग प्रसन्न हैं। विविध प्रकार के संगीत-गायन आदि का आयोजन हो रहा है किन्तु वह इससे दुखी है। उसे यह सब भला नहीं लग रहा है।

---

१- अन्न लाउ, धन लाउ, भूषन बसन लाउ।
अगिन लाउ, साग लाउ, लाउएं बड़ी रहे॥
खरिका खेलाय लाउ, अंगिया सिलाय लाउ।
लाउ लाउ करिबे में चूक न घटी रहे॥
बाजीगर बंदर को जाविधि नचावत है।
सिए लकड़ी निसिवासर बढ़ी रहे॥

बगलाल- सा० र० पृ० १८८

२- सांझै से परि रहै जो खाट, भरी भड़ेहर बारह बाट।
घर आंगन सब छिन छिन होय, घूघा गहिरे देय डुबोय॥

घा० क० पृ० ६२

क्योंकि देवर से उसका अनुचित संबंध है और विवाह हो जाने के बाद देवर अपनी वधू के स्नेह में पड़ जायेगा, उसका स्मरण नहीं करेगी[1] । कवि ठाकुर की नायिका पातिव्रत भंग के कारण कुख्यात हो चुकी है इसलिए अब तो उसे और भी कोई डर नहीं रह गया[2] ।

१७- स्त्रियों की सामान्य चरित्र हीनता के साथ गणिकाओं के भी उल्लेख रीति काव्य में मिलते हैं । परम्परानुसार गणिका का दर्शन मांगलिक और स्पर्श पापमय समझा जाता रहा है । गणिका या वेश्यावृत्ति के माध्यम से बौद्धिकोपार्जन, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और गणिका या वेश्या से मनोरंजन आभिजात्य संस्कृति के अभिशाप है । आलोच्यकाल में राजनीति और प्रशासन की अवस्था कुछ ऐसी थी जिसमें संपत्ति और शक्ति दोनों एक ही स्थान पर केन्द्रित थे । धन और राजशक्ति की साझेदारी बहुत भयावह परिस्थिति उत्पन्न करती है । एक ओर धन-शक्ति एवं राजशक्ति संपन्न वर्ग की अपने ऐश-अवैध इच्छाओं और वासनाओं की तृप्ति के लिए शोषण करता है और विविध प्रकार के साधन जुटाता है दूसरी ओर इन दोनों शक्तियों से रहित सामान्य वर्ग विवश होकर उन परिस्थितियों को स्वीकार कर लेता है और अपना तन, मन सब कुछ शक्ति संपन्न वर्ग के हवाले करने को तैयार हो जाता है । वेश्या-प्रथा का चलन बहुत कुछ ऐसी ही परिस्थितियों में संभव होता है । आचरण अर्थात् गति तो मनुष्य का स्वभाव है । पतन और उत्थान, सदाचरण और दुराचरण दोनों ही स्थितियां उसके लिए सहज है इसलिए कामिनी और कंचन जैसे आकर्षणों के प्रति उसका स्खलन अस्वाभाविक नहीं किंतु उन्हें एक व्यवस्थित प्रथा का रूप देना

---

१- और सबै हरबी छतिं गावतिं भरी उछाह ।
तुही, बहू, बिलखी फिरै क्यों देवर के ब्याह ।।

वि० र० दी० ६०२

२ - अबका समुझावति को सखे बदनामि को बीज तो बो चुकी री ।
कवि ठाकुर यों रसरीति रंगी, सब बात तें पतिव्रत खो चुकी री ।

ठाकुर० सा० र० पृ० २२४ ।

प्रायः ऐसे ही समय में संभव होता है जब सासनों के बंटवारे में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। गुवाल कवि एक गणिका का वर्णन करते हैं। रति का रूप धारण किये हुए वह पीली कुर्ती और फेरदार इजार पहने कुर्सी पर बैठी है[1]। उसकी वेशभूषा पर मुसलमानी प्रभाव है। गुवाल कवि एक अन्य स्थान पर गणिका वर्णन करते हुए उसकी प्रकृति पर प्रकाश डालते हैं वह किसी एक से बात करती है दूसरे को आंखों के इशारे से अपना मंतव्य समझा देती है। इस प्रकार मन को फंसा कर धन का अपहरण करती है[2]। तोष की सामान्धा अपने नायक से मुक्ताओं की माला और हीरों की पहुंची मांगती है[3]। मतिराम की गूजरी स्वयं तो उन्मत्त है साथ में लाल इजार और गले में हार पहने हुए बाजार में बैठी इजारों के मूल्य हरती है[4]। वेरसावृत्ति

---

१- लाल लाल पांयन में कीने जरकसी हैं।
फेरदार पायचे इजार मखमली तापै।
पैन्हि पीत कुरती रती को रूप लीने है।
चंद की चिरी सी दीसी बैठी कुर्सी पै है॥
गुवाल र० पृ० ५८

२- बैन कहे काहू सो अचल करे काहू सो।
बैन करे काहू सो बतावे सैन सेवे से।
काहू को इजार आंखियान को इशारे करे।
फांसि लेत मन धन हांसि के भये से।
गुवाल र० पृ० ५७

३- तोष सु० नि० पृ० ६१

४- लसत गूजरी कुंवरी बिलसत लाल इजार।
हिए हजारनि के हरे बैठी लाल बजार॥
मं० गृ० पृ० २९९।

इस स्थिति तक प्रचलित हो गयी होगी कि गुलाब कवि को उससे होने वाली हानियों का विशद् उल्लेख करना पड़ा । उनके अनुसार गणिका-प्रसंग से रूप, धन, काम, उत्तम कर्म और कुलधर्म की हानि होती है । गुरुजनों की लज्जा चित्त से निकल जाती है, ईश्वर के प्रति स्नेह और भक्ति नहीं रह जाती, मरणोपरान्त स्वर्ग प्राप्ति की आशा नहीं रह जाती, हृदय से भक्तिभावना विरोहित हो जाती है और सभी प्रकार के पुण्यों का नाश हो जाता है[1] । उसके लिए गहने गढ़ा लाने वाला ही सब कुछ है, धन समाप्त होने पर वह अकारण ही रूष्ट हो जाती है[2] ।

नारी की दिनचर्या-

१८- भारतीय समाज में नारी का कार्यक्षेत्र और लीलाभूमि प्रायः घर ही रहा है चाहे वह पिता का हो या पति का । केशवदास की नायिका प्रातः काल उठ कर दातौन करती है तत्पश्चात् सौन्दर्य प्रसाधन की अन्य प्रक्रियाएं भी संपन्न की जाती है और इनके संपादन के समय वह अत्यन्त मनोहारिणी प्रतीत होती है । नागरीदास ने भी प्रातः उठने के पश्चात् क्षौरमंजन करने, वेणी गूंथने, अंजन लगाने और अन्य प्रकार के विविध शृंगार करने का वर्णन किया है[3] । बोधा ने विरह वारीश में स्त्रियों की दिनचर्या का वर्णन करते समय किसी को

---

१- काया सो काम जात गांठहु सो दाम जात ।
मित्रन सों प्रीत जात रूप जात अंग से ।
उत्तम करम जात कुल के धरम जात ।
गुरु की सरम जात निज चित भंग से ।
रागरंग रीति जात ईश्वर से प्रीति जात ।
पुण्यन को नाश जात गणिका प्रसंग से ।।

गुलाब, रत्नावली पृ० ८०

२- म० गृ० पृ० १४२-१४३

३- दांत मंजन करत लगी मेचुक दी पलिया--
गदर पीठि अभिराम स्याम गहि गूंथन वेनी
तिय फिर अंजन देत कमल नैनहि मृग नैनी ।
ना० स० पृ० २६७

आँख में अंजन लगाते दिखाया गया है तो दूसरी को पाँव में महावर देती । कोई उत्साहपूर्वक स्नान करने के लिए गई है और लौटने पर उसके वस्त्रों से पानी चू रहा है, कोई पान का बीड़ा लिये है किंतु उससे खाया नहीं जा रहा है । विरह बारीश के नायक का आकर्षण इतना प्रबल है कि उसके आने की आवाज सुनकर स्त्रियाँ अपने विविध गृह कार्य छोड़ देती है । किसी का शीश खुला रह जाता है, कोई हाथ में मथानी लिये हुई ही रह जाती है, तो कोई सनी हुई मिट्टी छोड़ कर चल देती है । एक हाथ में सोई लिये हुए चली जाती है तो दूसरी के हाथ गोबर से भीगे हुए हैं, जो स्त्री नदी में नहाने गयी थी वह निर्वसना ही उठ जाती है । इस चित्र में कवि ने भारतीय नारी के विभिन्न कार्यों का उल्लेख किया है । भारतीय नारी को घर में विविध प्रकार के कार्य करने पड़ते है । अपने शरीर के साज-शृंगार, खान-पान, घर की सफाई और लिपाई के पोताई, खाना बनाना, कण्डे पाथना, और मकान के ध्वस्त भागों की मरम्मत का काम उसके जिम्मे रहता है[१] । रीतिकाल के कवि प्रधानतः नगर-संस्कृति और सामन्तवर्ग के जीवन के निकट थे इसलिए ग्रामीण वातावरण अपने यथार्थ कठोर धरातल पर उन्हें उतना नहीं रूचता रहा होगा किन्तु अपनी रसिक मनोवृत्ति के कारण उन्हें गृह कार्य में लगी ग्राम-युवतियों के सरल सौन्दर्य में एक विशेष प्रकार की मनोहारिता दिखायी पड़ी

---

१- दुग एक अंजन आँख के एकै महावर देत बिसरे ।
एकै अन्हात उमाह बाढ़ी चली बसन चुवात ।
एकै लिए कर में फिरी तेहू बने नहिं खात ।
† † †
एकै कर मे लिए मथानी एकन छोड़े माटी सानी ।
एकै सोई कर में लीने एकन के कर गोबर भीने ।
एकै नदी तीर जो नारी बसन त्याग उठ चली उघारी ।

रही होगी । इसी का परिणाम है कि रीति कालीन कविता में जहां एक ओर उच्च वर्ग की स्त्रियां अनेक प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनों में लिप्त दिखायी देती है, दिन के चौबीस घंटे साज-सिंगार और ऐश-आराम मे लगी रहती है वहां ग्राम्य युवतियां सहज और निरक्ष रूप से अपने घरेलू काम-धन्धों में रत रहती है । रीति-काल के कवि पर सामंतीय जीवन का प्रभाव इतना गहरा है कि ग्राम्य वातावरण की सहज रमणीयता में भी वह नागरिक जीवन की कृत्रिमता और भास्वरता का आरोप करता है । किंतु उतना मौसत निकाल देने पर रीति काल का कवि नारी के गृह कार्य का जो चित्र देता है वे उसके जीवन की समग्रता को न समेटते हुए भी मधुर और मनमोहक हैं, उनमें रस है, वे मन पर एक प्रकार का स्निग्ध एवं तरल प्रभाव डालते है । बिहारी की नायिका तत्काल धोई धोती पहने है उसके मुख में ज्योति और दीप्ति है किंतु यह सौन्दर्य किसी प्रदर्शिनी के लिए नहीं, वह घरेलू स्त्री है और रसोई से बाहर आते आते उसकी एक झलक ही मिल पाती है । धोती के तत्काल धुले होने में हिंदू स्त्री की स्वच्छता की दृष्टि, चटकीली मुख-ज्योति में उसकी सौन्दर्याभा और रसोई में होने में उसका सहज घरेलूपन साकार हो गया है[1] । सच्चा भारतीय नारी के व्यक्तित्व के साथ इस प्रकार तदाकार हो गयी है (प्रसाद तक आते-आते भी भारतीय कवि उसका मोह नहीं छोड़ पाया) कि वह गलत ही नहीं सही काम करने में भी लजाती है । पद्माकर की नायिका घर के काम करने में भी लज्जा का अनुभव करती है[2] । देव की नायिका के प्रियतम विदेश चले गये है वह विरह की अग्नि में जल रही है फिर भी सलज्जा बिना किसी से कहे सुने घर के काम काज में लगी

---

१- चटकी धोई धोवती, चटकीली मुख-ज्योति ।
लसति रसोई के बगर, बगर-बगर दुति होति ।।
बि० र० दो० ४७७

है[1] । रसखान के कन्हैया तो गोपियों का गृह-कार्य ही बंद करा देते हैं । उनकी वंशी की धुन सुनते ही गोपियाँ घर के काम काज छोड़ कर बाहर निकल पड़ती हैं, किसी ने दूध दुहा कर रखा था और वह रखे रखे ही ठंडा हो गया वह उसे जमा नहीं पायी, यदि किसी में इतनी संज्ञा और चेतना शेष भी थी कि वह जामन दे सकी तो जामन रखा-का-रखा रह गया और दूध रखे-रखे ही खट्टा हो गया[1]।

१९- इन गृह-कार्यों के विवरण से यह तो प्रायः स्पष्ट है कि रीति कालीन काव्य में चित्रित समाज में नारी की क्रीड़ा भूमि घर, कुटुंब, पड़ोस और घर के खेत के खलिहानों तक ही सीमित थी । उसके कार्यक्षेत्र में पहले जैसी व्यापकता नहीं है । किंतु तत्कालीन परिस्थितियों में, समसामयिक कवि से इसकी अपेक्षा करना दुराशा मात्र है क्योंकि भारतीय नारी के जीवन की परिधि आरंभ में व्यापक अवश्य थी पर उसका विकास सीमासंकोच की ओर ही हुआ है । प्रगतिशीलता के आवेश में इस सीमारेखा को संकीर्णता बताने का एक फैशन-सा चल गया है किंतु "घर के बाहर पुरुष और घर के भीतर स्त्री" का यह समझौता ठोस चिंतन पर आधारित था । नारी और पुरुष की शारीरिक एवं मानसिक रचना के वैषम्य को ध्यान में रख कर संभवतः यह विभाजन किया गया था । यह अनुचित है कि यह विभाजन रूढ़ होने के परचात् संकीर्णता और गतिरोध के कारण वर्जनीय हो गया किन्तु यह दोष तो मनुष्य-कृत प्रत्येक योजना में आ जाता है । वस्तुतः भारतीय नारी के संबंध में मूल प्रश्न उसके जीवन की व्यापकता और पूर्णता के संघर्ष का है और इनमें से हमें एक का चुनाव करना है । रीतिकालीन कवि ने नारी की दिनचर्या का जो चित्र दिया है उसका अभाव यह नहीं है कि उसमें संकीर्णता या शृंगार है, अपितु उसका अभाव है कवि की रसिक एवं अलंकरणप्रिय मनोवृत्ति जो उस चित्रण में सर्वत्र सहजता नहीं रहने देती ।

---

१- लाज तजे तुम नागरबू, बहुभाँति बरी बिरहानल ही मैं ।
जाय भरी गृहकाज करैं, कहि देख परैं न कहूं कल ही मैं ।
रै० भा० वि० प० ८९ ।

बनता है[1] । घाघभड्डरी की कहावतों में कन्या जन्म और तत्संबंधी फलाफल पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है । रवि, गुरु और मंगल के एक ही रेखा पर होने, कृत्तिका, भरणी और मघारेखा में, द्वितीया, सप्तमी और अष्टमी तिथियों में पुत्री उत्पन्न होने पर नितान्त अमंगलकारिणी होती है । या तो उसी की मृत्यु हो जाती है या वह अपनी माता की मृत्यु का कारण बनती है । पराये घर जाकर वह वहां भी सम्पत्ति के क्षय का कारण बनती है । जो चमारिन उसकी नाल काटने आती है उसके ज्येष्ठपुत्र की मृत्यु हो जाती है और के कार्य सम्पन्न करने वाली नाइन साल भर के भीतर अपनी रोजी खो देती है, इसके अतिरिक्त भांवरे पड़ने के साथ साथ ही उसके पति का मरण भी अवश्यम्भावी होता है[2] । तथापि कन्या के लालन पालन में कोई कोर-कसर नहीं रक्खी जाती । माता पिता का पुत्री के प्रति अगाध प्रेम होता है । विशेषरूप से "कन्या परकीय एव" की परंपरा वाले इस देश में अवांछित होते हुए भी धीरे धीरे पुत्री स्नेहभाजन बन जाती है । शकुन्तला के विदा होते समय कण्व का विलाप कालिदास जैसे समर्थ स्रष्टा की लेखिनी का लाघव या अमर

---

१- बेटी ब्याह बोझ घर माहीं जो भूखे सब दिन सो नाहीं

सखी- स० पृ० पृ० ५१

२- रवि गुरु मंगल एकै रेखा कृतिका भरनी जो अस लेखा ।
दूज सप्तमी आठे तिथा तामें भई विष कांकर तिथा ।
बाप मरै कि माते आप, धन छीजै जो पर घर जाय ।
जौन चमाइन नर कटिया करै बेटपुत्र वाहू के मरै ।
जौने नाउन और कमाय करिस बिना रोजी से जाय ।
ब्रह्मा विष्णु उतर जो आवै भौंरि देत विधवा ही जाय ।।

घाघ- भ० पृ० ७५

हो गया किंतु इसी प्रकार का विलाप तो हर हिन्दू पिता का है। कन्या ज्यों बढ़ने लगती है, माता-पिता उसके प्रति अधिक स्नेह-शील एवं चिंतित होने लगते है। उस्मान ने चित्रावली में माता-पिता के प्रेम का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किया है। पुत्री की विदा के समय राजा और रानी की आखों में स्नेह के आंसू आ जाते है[1]। मातृगृह में वह अनेक प्रकार की क्रीडाओं एवं आमोद-प्रमोदों में स्वच्छन्दता पूर्वक भाग लेती है। अनुशासन और नियम ढीले रहते है। ससुराल के अवांछित भावी संयम की प्रतीक्षा में वह स्वतंत्रता और भी मधुर हो जाती है[2]। यही नहीं माता मायके चली गयी और भैया को घर आने में देर हो गयी तो वह निःसंकोच किसी "नंद के कन्हैया" से "गैया दुहने" का भी आग्रह कर लेती है[3]। मातृ-गृह की स्वच्छन्दता और वहां का स्नेह ससुराल जाने पर भी कन्या को स्मरण रहता है। उसके मन का पंछी बार बार मायके रूपी बहाव पर ही पहुंचता है। यहां उसके लाड़ प्यार के दिन बीत गये है, और होते ही कोई उठकर क्लेश देने वाला भी नहीं रहा। माता-पिता से पाये सुख स्वप्न बन गए है और वह कर्तव्य एवं दायित्व के सागर में डूब-उतरा रही है[4]।

---

१- विनती करैं राउ और रानी बरखहिं नैन सेवाती पानी।

उ० चि०- पृ० २२५।

२- खेलहु कूदहु बाबुहि प्यारी, पुनि यह खेल कहां तुमका री।

कुंवर कली- पुरुषावती

३- भैया गई मायके तो भैया घर नहीं आये।
नन्द के कन्हैया मेरी गैया दुहि दीजिये।

सुदेश- सा० प्र० पृ० १५९

४- माता पिता को लाड़ लड़ैहै को उठ और क्लेश दैहै।
मात पिता दीन्हैं सुख जैसे ते कीते सुख सपने जैसे॥

लाल- छत्र प्रकाश पृ० ६९

मायके में तो यह स्वतंत्रता है कि श्वसुरगृह से आने वाले लोगों या पति के सामने भी वह बिना पर्दा किये रह सकती है, केवल सासवह मां के पीछे छिप जाती है[1]।

२१- ससुराल में स्त्री को सारे सुख उपलब्ध हों, घर का सम्राज्य और प्रियतम के हृदय-देश का राज्य भी, किंतु वह मायके के लिए व्यग्र हो उठती है। पद्माकर की नायिका की मां उसके अभाव में खाती नहीं, भाभी भी संज्ञा-शून्य है, भइया लेने आये हैं पर प्रियतम उसे भेजने को तैयार नहीं। सब सुख उपलब्ध है किंतु दुःख केवल यह कि प्रियतम उसे मायके जाने की अनुमति नहीं देते[2]। मतिराम की नायिका निद्रा का त्याग किये योगिनी सी बनी रहती है पूछने पर कहती है कि उसे मायके की याद आ रही है[3]। ससुराल जाने के बाद भी आपत्काल में कन्या मां का स्मरण करती है। सर्वकन्या के एक प्रसंग में जब पुत्री को पति के लिए पैसे की आवश्यकता पड़ती है तो वह जाकर अपनी मां से मांगती है। मां के पास दो-सौ रूपये हैं इसलिए वह पुत्री से उदासी दूर कर प्रसन्नचित्त रहने को कहती है। वह मां है, अतः पुत्री की लज्जा की रक्षा भी करेगी, किसी से बतायेगी भी नहीं और दो-सौ रूपये भी दे देगी[4]। कन्या मां के साथ साथ गृहकार्य में सहायक सिद्ध

---

१- पं० गुं० पृ० १३

२- मो बिन माइ न खाइ कछू पद्माकर त्यों भई भावी अचेत है।
बीरन आए लिवाइबे कौं तिनकी मुख बानिहुं मानि न लेत है।
प्रीतम कौं समुझावति क्यों नहिं ए सखी तूं तु पैराखति हेत है।
और तौ मोहि सबै सुख री दुखरी यह माइके जान न देत है॥
पद्- गुं० पृ० १०८

३- सोवत न रैन-दिन खोवति रहति बास,
बूझै तै कहत मायके की सुधि आई है॥
म० गुं० पृ० ३१६

४- कहे माई जिनि होइ उदास है से मुद्रा मेरे पास।
गुपत देहुं तेरे कर मांहि। जो वै बहुरि मागरि चाहिं।
पुत्री कहै धन्य तू माइ। मै उनको निशि बूझा जाइ।
व० म० क० पृ० ४२

होती है। दिन डूबते समय नायिका अपनी मां से पूछती है कि और क्या क्या काम रह गये हैं उन्हें पूरा करले क्योंकि सूर्यास्त हो रहा है और घर के काम पड़े रह जायेंगे[1]। सयानी होते ही वह माता-पिता के लिए चिन्ता का कारण भी बन जाती है। मां उसके विवाह के लिए विशेष चिंतित हो जाती है। रानी अपनी बेटी चित्रावली के विवाह के लिए राजा को उद्बोधित करती है क्योंकि वह अब सयानी हो गई है और विवाह के योग्य है। उसके लिए ऐसा वर खोजा जाना चाहिए जो उसके कुल के दीपक को प्रकाशित कर सके[2]। हिंदू संस्कृति में कन्यादान का अलौकिक महत्व माना गया है। वैसे भी हिंदू समाज का दृष्टिकोण इतना नीतिप्रधान है कि वह "कन्या निष्काषिता ज्येष्ठा वधू व विनिवेशिता" के सिद्धान्त को मान कर चलता है। इसीलिए सामाजिक दृष्टि से बेटी का विवाह आवश्यक हो जाता है। पारलौकिक दृष्टि से भी उसे महत्वपूर्ण और सुफल देने वाला बताने का आधार भी शायद यही हो। इन्द्रावती में नूर-मुहम्मद यह बताते है कि कन्या का जन्म कुल को प्रकाशित कर देता है और कन्या दान से मुक्ति प्राप्त होती है[3]।

---

१- अबै फिर मोहि कहहिगी, कियो न तूं गृह-काज।
कहे सु करि आऊं अबै, मुंदयो बात दिनराज॥
पि० गुं० २।१७

२- रानी कहा सुनहु नर नाहा, मोहि पुनि खरक उठी जिय मांहा।
चित्रावलि संयोग सयानी। बै सोई रहे कुल पानी॥
खोजिय कतहुं एहि लगि बीरा, जेहि दीपक कुल होइ अंधेरा॥
इ० वि० पृ० १८४ अ

३- बातनवा को होत एक, होत सदन उजियार।
कन्यादान दिहे से होत मुकुति हमार॥
नूरमुहम्मद हिन्दी के कवि और काव्य पृ० ८२

२- मां- मां कन्या के विवाह की ही चिन्ता नहीं करती, उसे दांपत्य जीवन के लिए तैयार भी करती है। दांपत्य जीवन की सफलता के लिए जो कुछ अपेक्षित है, वह उसकी भूमिका प्रस्तुत करती है। जब कन्या श्वसुर गृह जाने के लिए प्रस्तुत होती है तो उसे तत्संबंधी आवश्यक जानकारी दी जाती है। ससुराल का "रहना" बड़ा कठिन है, वहां तभी कुशल है जब प्रियतम का स्नेह मिलता रहे। गुरुजनों के प्रति लज्जा और उनका डर उसे दिन रात कठोर अनुशासन में रखेगा। वह किसी की भी बात का प्रत्युत्तर नहीं दे सकेगी। जोर से बोलने पर सास उसे गाली देगी, ननद भी बुरा भला कहेगी। इस प्रकार ससुराल की परिस्थितियां ऐसी होंगी, जहां उसे एकमात्र प्रिय के स्नेह का आधार प्राप्त रहेगा। अतएव उसे प्रियतम के हृदय को जीतने का सतत् प्रयत्न करते रहना चाहिए[1]। नैहर में तो पिता का राज्य था इसलिए हर प्रकार की छूट थी किसी प्रकार के बन्धन नहीं थे किंतु ससुराल में वह स्वच्छन्दता और प्रसन्नता का वातावरण नहीं रह जाता। मायका तो कुछ थोड़े दिनों की ही क्रीड़ा-भूमि है, जब जो है वह कल नहीं रहेगा इसलिए समझ बूझ कर चलना चाहिए। प्रियतम जब अपने देश से जायेंगे तो वहां लाज, संकोच और भय के मारे कुछ कहते नहीं बनेगा[2]। विद्यापति में ससुराल का चित्र और भी विकट है।

---

१- कठिन रहन ससुरे कर बाहे, सबहीं कुसल कंत जब चाहे।

लाज आस पुनि गुरुजन केरी, सींह न सक्य काहु न तरेरी।

बोलत लोग सासु देइ गारी, ननदी नीच बोल बेवहारी
रिसि आइहि राजय बिध मारी, रिस कीन्हें आवै कुल गारी।
सबक दुख सुख जो पै पिउ चाहा, ना तरु बनम अकारथ आहा।

उ० वि० पृ० ४५-४६

२- है नहिं माइकी मेरी भटू यह सासुरी है सबकी साहिबी करी।

प० ग्र० पृ० १०९

और भी ——— उ० वि० पृ० ४५

वहाँ माँ अपनी बेटी को यह बताती है कि पुत्री सोने की तरह है और ससुराल अग्नि की भाँति, सास संडासी (शलाका) की भाँति है और कन्त का स्थान आभूषण निर्माता स्वर्णकार का है, ननंद उस नली की तरह है जिससे फूंक कर अग्नि को प्रज्वलित करते है। इनके वाग्य रूपी घन पल-पल पर आघात करते रहते है इस प्रकार इस प्रक्रिया से होकर स्त्री रूपी स्वर्ण की विशुद्धता सिद्ध होती है, वह कुन्दन बनती है। माता पिता के लाड़ प्यार के कारण स्त्री के गुण-अवगुण मायके में नहीं ज्ञात होते। सुहागिन स्त्री तो वह होती है जिसका ससुराल में मान हो। इसलिए प्रत्येक स्त्री को ऐसे कार्य करने चाहिए जिनसे श्वसुर गृह के लोग प्रसन्न रहें, वहीं उसकी अग्नि परीक्षा होती है[१]। कालिदास ने जब कहा था कि "प्रिय के संबंध में सौभाग्य रूपी फल देने वाला ही सौंदर्य कहलाता है तो सौंदर्य (चारुता) के अन्तर्गत महाकवि उन सभी गुणों को अन्तर्भुक्त करता है जो प्रिय के संबंध में सौभाग्य फल के विधायक है। सुंदरी तिलक की हठधर्मिणी नायिका अपना समय दिन रात गुड़ियों के खेल में लगाना चाहती है, उसकी उपेक्षा और अवज्ञा के बाद भी उसकी धाय उसे नारिजनोचित गुणों की शिक्षा प्रदान करती है। किंतु यह नायिका हठीली ही नहीं अहंकारिणी भी है। उसे यह विश्वास है कि बड़ो की अवज्ञा करके भी वह अपने श्वसुरालय में सबके आकर्षण का केन्द्र बनी रहेगी और

---

१- दुहिता सोन अगनि ससुरारा, सास संडासी कंत सोनारा।
ननद नाल फूंकत नित रहई, सुहागि सिया कोइला बिनि दहई।
बाउ बोल घन छिन छिन लाई, ठाउं न घाउ बानि निहाई॥
तब तिरिया कुंदन की नाई, मैटे अंक मैं भरि नग लाई॥
मैहर जानि न बाद कछु, गुन औगुन एक मान।
सोइ सोहागिनि भामिनी, जाकर ससुरे मान॥

उ० वि० पृ० २२१।

उसे कभी मायके जाने की आवश्यकता नहीं होगी[1] । चित्रावली में ही, एक अन्य स्थान पर सौतों से ईर्ष्या न करने, प्रियतम का डर मानने, मान कम और सेवा अधिक करने, मन मार कर रहने की सीख दी गयी है । जिसमें यह गुण होते हैं वही स्त्री सौभाग्यवती होती है[2] ।

बहिन

२४- बहिन के रूप में, भारतीय परिवार में, आरंभ से ही नारी का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है । भाई-बहन का स्नेह अत्यन्त पुनीत माना गया है । साथ-साथ बालन पोषण होने और प्रायः समवयस्क होने के कारण उनमें एक मनोवी स्नेह-ग्रन्थि का विकास होता है जो धीरे-धीरे दृढ़ से दृढ़तर होती जाती है । यह विचित्र है कि भाई-बहन के संबंध इतने स्नेह संवलित होने पर भी साहित्य में उन्हें वह स्थान नहीं प्राप्त हो सका, जो होना चाहिए था । रीतिकालीन कवि के मन की रसिकता को इसके लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है किंतु यह समस्या तो अन्य साहित्यिक युगों के संबंध में भी है । भाई-बहन के संबंधों का अपेक्षाकृत अधिक उल्लेख लोक गीतों में प्राप्त होता है । वहाँ भी बहन ससुराल जाकर भाई की याद करती दिखायी गयी है या भाई उसे लिवाने के लिए ससुराल जाता है । चंद्राकर की नायिका ससुराल में है तभी उसका भाई उसे लेने जाता है । माँ,

---

१- ही जब ली तब हीं सिगरो दिन मैं गुडियान से खेलि खिलैही ।
बाप सिखाय मरै कितनी गुन सीखिबे के मैं नजीक न बैहौं ।
पै इतनी कहे राखत हौं धनि सोतन में रघुनाथ कहे ही
गीनेहिं बाय के ऐरो भट्ट सुनि मायके केरि न आवन पैहौं ।।
रघुनाथ सु० सि० पृ० १५०

२- सौतिन्ह कर डरवा नहिं करना, साईं संग सदा चित डरना ।
अलप मान सेवा अधिक रिसि राखब चित मारि ।
येहि धन मई मे तीन गुन, सोई सोहागिनि नारी ।।
ह० चि० पृ० २२४

भाभी, तथा नैहर के सभी लोग उसके बिना व्याकुल है किंतु पति इतना स्नेह करता है कि उसे मायके नहीं जाने देता[1] । भाई बहिन और बहिन-बहिन के रूप में नारी की उपेक्षा का कारण यह कहा जा सकता है नियमित संबंध सोपान में उनका स्थान नहीं है, विकास के साथ-साथ उनके सामाजिक हित अलग होते चले गये हैं, बाल्यावस्था के पश्चात् वह अधिक समय तक साथ नहीं रह पाते । देवर-भाभी के संबंध भी नियमित संबंध-सोपान के अन्तर्गत नहीं आते, किंतु उनका आरंभ उस अवस्था में होता है जब दोनों मानसिक स्तर पर अपेक्षाकृत परिपक्व हो चुके होते है, दोनों प्रायः साथ रहते है, मनसा जागृत रहते हैं, इसीलिए कदाचित् रसिक रीतिकवियों ने ही नहीं, गोस्वामी तुलसीदास जैसे संत-स्वभाव के कवि भी इस रूप में नारी की उपेक्षा नहीं कर सके । भाई बहन का संबंध मानसिक अपरिपक्वता की वय में होता है, अपेक्षाकृत अपरिपक्वता के समय में ही समाप्त हो जाता है, बाद में दोनों प्रायः दूर रहते है, इसलिए एक मधुर संबंध की स्मृति मात्र शेष रह जाती है जिसे वे वहन करते रहते है ।

पत्नी के रूप में-

२४- भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा में नायिकाओं के अनेक भेदोपभेद किये गये है । रीतिकालीन काव्य रसिक कवियों की सृष्टि है और परकीया नायिका में उसका मन स्वभावतः अधिक रमता था, किंतु भारतीय समाज की प्रकृति और रचना ऐसी है कि उसमें परकीया और सामान्या नायिकाओं को नैतिक मान्यता का बल प्राप्त नहीं है । ये कवि रसिक अवश्य थे किंतु समाज की सार्वभौम मान्यताओं के प्रति विद्रोह करने की शक्ति इनमें नहीं थी । फलस्वरूप इन

---

१- पं० ग्र० पृ० १०८

कवियों ने भी स्वकीया नायिका को ही शृंगार का आदर्श पात्र माना । वस्तुतः परिवार, विवाह, स्वकीया (पत्नी), संतान आदि के महत्व एक दूसरे पर आश्रित है । पद्माकर ने स्वकीया का लक्षण बताते हुए कहा है कि जो मन, वचन, और तन से अपने पति के प्रेम मे पगी रहे, जो स्वभाव से ही लज्जाशीला है- उसे स्वकीया कहते हैं[१] । मतिराम के अनुसार भी लज्जावती, पति का प्रेम प्राप्त करने वाली, सुशीला नायिका को स्वकीया कहेंगे[२] । देव भी स्वकीया में निज नायक के प्रति तन, मन और वचन से प्रीति होना आवश्यक मानते है, किंतु उन्होंने एक निषेधात्मक विशेषता को भी सम्मिलित किया है- उसके लिए परपुरुष से विमुख होना भी आवश्यक है[३] । वह हर प्रकार के कष्ट सहकर भी प्रियतम को सुखी रखती है, "सहीविधि" से बातें करती है, निर्मल हृदय से सर्वमंगलादिक कार्य करती है, स्वयं तप्त रहकर, भी दूसरो को शीतलता और सुगंध प्रदान करती है । ऐसी ही सर्वगुण

---

१- निज पति ही के प्रेममय जाको मन वचकाइ ।
कहत सुकीया ताहि कौं लज्जासील सुभाइ ।।
पद० ग्र० पृ० ८२

२- लाजवती निसिदिन पगी निज पति के अनुराग ।
कहत स्वकीया सीलमय ताको पति बडभाग ।।
म० ग्र० पृ० २७४

३- जाके तन मन वचन करि निज नायक सौं प्रीति
विमुख सदा पर पुरुष सौं सो स्वकिया की रीति ।।
दे० भा० वि० पृ० १०३

संयुक्ता नायिका की कीर्ति संसार में प्रसरित होती है[1] । इन सबके साथ ही रीतिकाल का रसिक कवि स्वकीया नायिका के केलिमंदिर में रासरंग की भी विधिवत् व्यवस्था कर लेता है । रीतिकालीन काव्य का नायक हर प्रकार से नायिका का सहचर और सखा होता है वह उसका साज-शृंगार भी कर लेता है । लाल ने नायिका की वेणी फूलों से बना कर गूंथ दी है, भाल में मृगमद की बिंदी लगा दी है, अंग-प्रत्यंग का शृंगार करने के उपरान्त पान का बीड़ा खिला दिया है, किंतु रस के वशीभूत होकर ज्योंही वह महावर लगाने के लिए नायिका के चरण पकड़ता है, नायिका नाथ का हाथ पकड़ कर उन्हें बरजती है । भारतीय नारी की दृष्टि में पति से चरणास्पर्श कराना अति अनुचित है, अतः उनका हाथ चूम कर वह बाहों से लगा लेती है, स्वयं प्रेमातिरेक से उद्रेक्ति हो जाती है । भारतीय नारी काम के वश में होकर भी संयम और आचरण-संहिता का त्याग नहीं करती[2] । इसी प्रकार पद्माकर की नायिका भी अन्य अंगों में अंगराग पाँव में मेंहदी लगवाने का निषेध कर देती है[3] । रीति कवि परकीया के प्रेम की तीव्रता और गहनता का भी अभाव स्वकीया में नहीं देखना चाहता । बिहारी की नायिका की स्थिति अपनी सहेलियों के बीच में विचित्र सी है । उसकी अन्य सहेलियाँ अपने प्रियतमों के प्रेम का वर्णन करती हैं- प्रीति कथाएं सुनाती हैं, किंतु वह कैसे कहे? कहा-सुना तो उसके विषय में जाता है जो मन में न हो यहाँ तो प्रियतम अहर्निश ही उसके हृदय में वास करते

---

१- देति सुकीया तू पी को सुखै निजु लेखो बगारतहूं मति भैली ।
दासबू ये गुन हैं जिनमें तिन ही की रहै जग कीरति फैली ।
बात सही विधि कीन्हों भलो तिहि यों ही भलाइन सों निरमैली ।
काढ़ि अंगारन में गहि गारहूं देति सुवासना चंदन-पैली ।।
भि० ग्रं० २।८०

२- सेनापति- क० र० पृ० ४१

३- अंगराग औरैं अंगनि करत कछू बरबी न ।
पै मेंहदी न लिखावहीं तुम सौं पगनि प्रवीन ।
प० ग्रं० पृ० १२८

है इसलिए वह उनकी क्या कहे तो कैसे[1] ? आदर्श स्वकीया नायिका की वाणी में मार्दव, बड़ों के प्रति सम्मान के भाव, सखियों से स्नेहपूर्ण मधुर व्यवहार, शील, लावण्य और आकर्षक दृष्टि जैसी विशेषताएं होती है । साथ ही उसमें सौन्दर्य और रमणीत्व, यौवन और काम भी पर्याप्त मात्रा में होते है जो सपत्नियों के हृदय में वेदना उत्पन्न करते हैं[2] । केशव की नायिका सुशील है, सभी से मधुरवार्तालाप करती है, गुरुजनों एवं वन्दनीयों के संमुख लज्जाशील और विनयावनत रहती है, उसके कोमल कपोलों पर हल्दी की पीत-आभा है, मुस्कान में मनोहरी मधुरिमा और संकोच है, नेत्र रक्ताभ है, किंतु यह सौंदर्य और संपन्नता बाह्य स्तर पर ही नहीं है, उसका अन्तर भी स्नेह समृद्ध है[3] ।

---

१- और तिया बतियां पिय प्रेम की,
नीके सखी सखियान सुनावै ।
केशव के जान कहैं हमसी,
वे छिनौं छतियां से न छूटन पावैं ।।
अकबर- पृ मं० पृ० ८२

२- कोमल बानि, बड़ेन की कानि हरे मुसकान सनेह सनीची ।
सील सलौनी सखिन्ह खिलौनि खिलै ससलौनी सुभाइ बनी थी ।
केशव पै सौति कलेवन साल मनोज के ओज समेव बनी थी ।
के० ग्र० र० पृ० ६१

३- सील भरी बोलत सुबोल बानी सबही सों,
केशव गुरुजननि की लाज सों लची रहै ।
कोमल कपोल पै दीपै हरदी सी दुति
चूनी सी सकुच मुसुकानि में मची रहै ।
लालन की लाली बानियान में दिखाई देत
अन्तर निरन्तर ही प्रेम सों पची रहै ।।
के० क० पृ० १२६

२५- हिंदू समाज में विवाह को एक स्थूल सामाजिक आवश्यकता ही नहीं समझा गया अपितु जीवन की पूर्णता और पारलौकिक फलों की प्राप्ति के लिए उसे एक आवश्यक साधन माना गया है। कहा गया है कि जब तक पुरुष सुविधि भार्या को नहीं प्राप्त करता तब तक उसका जीवन और व्यक्तित्व अधूरा रहता है[1]। हमारे यहां कुछ ऐसे ऋण माने गये हैं जिनसे मुक्त होने के लिए विवाह एक अनिवार्य उपाधि है, विशेषकर स्त्री के जीवन की सार्थकता ही सुवन में निहित है और सुवन प्रकृति पुरुष-संयोग (विवाह जिसका स्वीकृत सामाजिक रूप है) के बिना संभव नहीं है। विवाह के माध्यम से स्त्री अपने जीवन का साध्य प्राप्त करती है। वही सृष्टि में सुवन शृंखला को अविच्छिन्न रखती है। इसीलिए हिंदू विचार धारा में आरंभ से ही पत्नी का स्थान बहुत महत्वपूर्ण रहा है। संसार की अन्य किसी भी जातीय संस्कृति की परम्परा में नारी को पत्नी-रूप में इतना आदर मिला है, इसमें संदेह है। हिंदू गृहिणी अपने पति की अर्धांगिनी कही गयी है, मंत्रदात्री दासी, माता के समान स्नेहमयी और अप्सरा के सदृश सौन्दर्य विधायिका होकर वह अनेक प्रकार से उसके जीवन को सार्थक, सरस और सुगम बनाती है। पश्चिम के मनीषियों के चिंतन में भी नारी के ये रूप मिलते हैं, बर्नार्ड शॉ की नायिका कैन्डिडा के व्यक्तित्व में प्रायः वह सभी आदर्श गुण उपलब्ध है किंतु हिंदू संस्कृति और भारतीय समाज में इन रूपों को जितनी समग्रता से अभिव्यक्ति मिली है वह अन्यत्र प्रायः कम ही देखने को मिलती है। यहां गृहिणी गृह का और लोक भाषा में घरनी घर का पर्याय बन गयी है। गृहिणी के अभाव में गृह के सारे मूल धर्म नष्ट हो जाते हैं, वह

---

१- यावन्न विन्दते जायां तावद् अर्धो भवेत पुमान्।
यन्न वाप्तः परिवृतो रण्यान इव तद् गृहम्॥

श्रीहीन ही नहीं हो जाता निष्प्राण भी हो जाता है[1]। लोक जीवन में यही परम्परा और दृष्टि कोण "बिनु घरनी घर भूत का डेरा" के रूप में अभिव्यक्त पाते है। भारतीय संस्कृति के उषः काल से काफी समय बाद तक पत्नी का स्थान प्रायः पति के समकक्ष ही रहा। पति और पत्नी, स्वामी और स्वामिनी आदि एक ही अर्थ को देने वाले शब्द भी यही ध्वनित करते है। ऋग्वेद की एक ऋचा में नवोढ़ा को श्वसुर गृह में साम्राज्ञी का पद प्राप्त करने का आशीर्वचन दिया गया है[2]। वैदिककाल मे पति, पत्नी को परिवार समान आर्थिक अधिकार प्राप्त थे किंतु यह स्थिति अधिक दिन तक नहीं चल सकी और गौतम बुद्ध के समय से ही उसका स्थान बहुत कुछ ह्रासोन्मुख दिखायी पड़ता है। किन्तु आर्थिक अधिकार खोकर भी पत्नी अन्य रूपों में अपने महत्वपूर्ण स्थान को अक्षुण्ण बनाए रही। महाभारत के आदि पर्व में कहा गया है कि पत्नी का मधुर वार्तालाप दुख के क्षणों में पति के लिए मित्र का सा आनन्द देता है, धार्मिक कृत्यों के समय वे पिता स्वरूप होती है, व्याधि और पीड़ा के क्षणों में उनके स्पर्श में माँ की ममता सजग हो उठती है[3]। पद्मपुराण में एक स्थान पर यह कहा गया है कि यदि स्त्री अनुकूल है तो त्रिदिव से क्या प्रयोजन, यदि वह प्रतिकूल है तो नरक की क्या आवश्यकता। सुख के लिए ही गृहस्थाश्रम है और उस सुख का मूल पत्नी है[4]। आलोच्यकाल में भी पत्नी का

---

१- न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं तु गृहिणी हीनमरण्यसदृशं मतम् ।।
शांति०, १४४-६६ ।

२- सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननांदरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु ।।
ऋ०१०.८५.४६ ।

३- महाभारत- आदिपर्व, ७४।४१ ।

४- पद्मपुराण- उत्तरखण्ड २३३।३६,३७ ।

यह महत्व बना रहा । केशवदास के अनुसार पत्नी पति के अभाव में दीन रहती है और पति पत्नी के अभाव में निस्तेज होता है जिस प्रकार यामिनी चन्द्रमा के अभाव में श्रीहीन होती है और चन्द्रमा यामिनी के अभाव में निस्तेज रहता है । पति के बिना पत्नी की बहुत कुछ वही स्थिति होती है जैसे बल के बिना किसी मछली की[1]।

२७- पतिव्रता स्त्री हर प्रकार से सुख दुःख में पति की सहभागिनी होती है वह पति में अनुरक्त रहती है, स्वयं सुखी रह कर उसे भी सुखी रखती है[2], सब प्रकार से अभाव और असुविधा रहने पर भी पति का सहारा पाकर पत्नी सुखी होती है । टूटी हुई चारपाई, बरसात में टपकता कुआ घर और टूटी हुई टटिया होने पर भी यदि प्रियतम की बांह का सहारा मिला रहे तो संतोषी भारतीय नारी अपने लिए सभी सुख सुलभ समझती है[3]। दीनदयाल पत्नी को हर प्रकार से पति के प्रति निष्ठावान् और अनुरक्त रहने के लिए कहते हैं क्योंकि बांह गहे की लज्जा होती है और अपराध को स्वीकार कर लेने पर पति उसे क्षमा कर देता है[4] । हिन्दू समाज में पत्नी से पति के प्रति निष्ठभक्ति की आशा की जाती है और उसकी यह शिक्षा-

---

१- पत्नि पति बिनु दीन अति पति पत्नी बिनु मन्द ।
बन्द बिना ज्यों चांदनी ज्यों यामिनी बिनु चन्द ।।
पत्नी पति बिनु तनु तबै पितु पुत्रादिक काइ ।
केशव ज्यों बलमीन ज्यों पति बिनु पत्नि जाई ।। के०वि०गी०पृ० १८२ ।

२- रीति पतिव्रत सुंदर की पति में मन वाको रहै अनुरागी ।
आपसुखी पति होत सुखी पति दुख दुखित होत सभागी ।।
सु०ति०पृ० ३१ ।

३- टूटि खाट पर टपक्त टटिया टूटि ।
पिय के बांह सिरहना सुख के लूटि ।। रहीम क०की०पृ० २९७ ।

४- दीन० ग्र० पृ० ११६ ।

दीक्षा भी उसी के अनुरूप होती है। "हंस जवाहिर" में पति - पत्नी से कहता है कि वह उसी के प्रति अनुरक्त रहे पर-पुरुष की ओर न देखे। किसी अन्य पुरुष की सेज पर न जाये, न उसके पास बैठे[1]। नूरमुहम्मद की नायिका ईश्वर से यह प्रार्थना करती है कि उसके प्रियतम के अतिरिक्त उसके नेत्रों में अन्य कोई न समाये तो अच्छा हो[2]। पत्नी को सारा संसार अपने पति पर वार कर ऐसे काम करने चाहिए कि पतिगृह और पितृगृह दोनों का ही कल्याण हो[3]। भावना के स्तर पर ही नहीं जीवन के ठोस धरातल पर भी पत्नी पति की सहभागिनी होती है। पति घर के बाहर काम करता है, कृषि, सेवावृत्ति आदि विविध साधनों से वीविकोपार्जन करता है, अर्जित संपत्ति घर लाकर पत्नी को वो गृह-स्वामिनी होती है, दे देता है। पुरुष स्वभावतः अपेक्षाकृत अधिक निस्पृह और लापरवाह होता है इसलिए व्यय-व्यवस्था में वह उतना निपुण नहीं होता है जितना स्त्री। पत्नी उसके दिये हुए रुपये-पैसे अपने पास रखती है, दूर दृष्टि और वक्त की मौजना के अनुसार खर्च करती है और गाढ़ समय में वक्त के पैसे निकाल कर पति की चिन्ता दूर करती है[4]। उसके लिए अपने घर का दुःख पराये घर के सुख से कहीं

---

१- पै जो प्रीत चहौ बनि गोरी। दूजे पुरुष देखौ बनि गोरी॥
दूजे काज न दरश दिखावौ। दूजे के सेज नहिं जावौ॥
का० हं० व० पृ० ६७।

२- अब प्रीतम बिन दूसर कोई।
जौ न समाय नैन भल होई॥ नूर मु० अनु० वा०- पृ० ८६।

३- औरे सब जग पुरुष को अपने पति पर वार।
वैसो वैसो निज भलो दुहूं कुल तारन हार॥ दी० गृ० पृ० ११७।

४- कहत सुन अर्गलपुर बात। रजनी गई भयौ परभात॥
तहि एकंत कंत के पानि। बीस रूपैया दीए आनि॥
ए मै जोरि धरेवे दाम, आए आज तुम्हारे काम॥
† † †
यहि कहि नारि गई मां पास गुपुत बात कीन्हीं परगास॥
व० मं० क० पृ० ४२।

सुखकर है। कुलवधू और सतवन्ती स्त्री इसी रूप में जीवन को स्वीकार करती है[1]। उसके नेत्र प्रियदर्शन में ही अपने को कृतकृत्य समझते हैं, उसके श्रवण सदैव प्रिय की मधुर बातें सुनने में ही सुख मानते हैं, उसकी रसना प्रियतम के चरित्र का गायन करने में रत रहती है और उसका मन सदैव "मनभावन" के ध्यान में लीन रहता है[2]। वह पति को खिलाकर स्वयं खाती है और उसके सो जाने के बाद, उसके उठने के पहले जग जाती है[3]। वह प्रियतम को जब सुखी और संतुष्ट देख लेती है तभी स्वयं कुछ खाती पीती है। केलिगृह में प्रसन्न-चित्त और मुस्कराती हुई पति का स्वागत करती है। उसकी अनुपस्थिति में अपना वेणीबंधन नहीं खोलती, तपस्विनी की तरह संयम के साथ जीवन बिताती है, इस प्रकार वह पति के प्रेम का निर्वाह करती है[4]

---

१- अपने घर का दुख भला पर घर का सुख छार।
ऐसे जाने कुल वधू सो सतवन्ती नार॥
चरनदास-संतबानी संग्रह पृ० १४७

२- पिय दरसन फल नैनन को पान्यो बिन
पिय बतियन ही के स्रवन अधीन है।
सुख सुधा सदा रसना को अवलंब
चरित्र विचित्र प्रान पति के अधीन है।
लाज सील ललित सकल आचरन अरु,
मन मनभावन के ध्यान रसलीन है॥
अकबर- ग्रं० मं० पृ० ८

३- खान पान पीछू करति सोवत पिछले छोर।
प्रान पियारे ते प्रथम जगत भावती भोर।
पद्म ग्रं० पृ० ८२

४- पान भी खान तें पी को सुखी लखै आप तबै कछु पीवति खाति है।
दासबू केलि-थली ही में ढीठो विलोकति बोलति और मुसकाति है।
सूने न बोलत बेनी सुनैनी वृतो है बितावत बासर-राति है।
बालिभी जाने न ये बतियां यों तिया-पिय प्रेम निबाहति जाति है।
मि० ग्रं० १।१०४

बदले में पति का प्यार भी उसे मिलता है। बक्वर की नायिका का शरीर ही नहीं मन भी सुंदर है विधाता ने रूप के साथ उसे गुण भी दिये हैं इसलिए वह सदैव प्रियतम की इच्छा का अनुसरण करती है और प्रियतम उसे अपना प्यार देते हैं[1]। दरिया साहब के अनुसार वही स्त्री सुहागिनी है जो प्रियतम के रंग में रंगी रहती है, जिसका चित्त प्रिय की ओर ही लगा रहता है। एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं वही स्त्री पतिव्रता होती है जो एक मात्र अपने पति में ही अपने चित्त को लीन रखती है[2]। सुंदरदास ने और विशद् रूप से पतिव्रता के सद्गुणों का विवरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार पतिव्रता कभी पतिसेवा का त्याग नहीं करती, वह किंकरी की भांति सदैव पति के निकट प्रस्तुत रहती है, अन्य पुरुष की ओर नहीं देखती। जो स्त्री सदैव पति की आज्ञा में रहे उसे ही पतिव्रता माना जाना चाहिए। ऐसी स्त्री को प्रियतम के बुलाने पर बोलना चाहिए, बैठाने पर बैठना चाहिए और उसके कहने पर चला जाना चाहिए

---

१- क्यों पिय प्यार करै नहिं तोपै,
करै सदा तू पिय को मन भाई।
क्यों वह रूप निकाई दई त्यों,
दई विधि तोहि सुभाय निकाई।

बक्वर -ग्रं० मं० पृ० अंश १०७

२- पतिबरता एक पति चित राखी।
† † †
सोई सुहागिन पिया रंगराती। सोई सुहागिन कुल नहिं जाती।

दरिया ग्रं० पृ० ४०५

वह जिस प्रकार से चलाये उसी प्रकार चलना चाहिए[1] । स्त्री का आदर्श ही यह है कि उसे पति से प्रेम हो । पति की सकुशलता में ही उसका कल्याण है और उसके आदेश ही पत्नी के लिए आचार-संहिता है । पति में ही यज्ञादि और रसोपभोगों की सार्थकता है । पति से ही सारे दुःखों का नाश होता है, ज्ञान, ध्यान और पुण्य आदि का चरम साध्य पति ही है । तीर्थ स्नान आदि भी उसके लिए व्यर्थ है क्योंकि पति के रूप में उसे वह सभी कुछ मिल जाता है । पति के अभाव में उसकी कोई सार्थकता और गति नहीं है[2] । सेनापति भी पत्नी की ओर से तन मन अर्पण को

---

१- पति बरता छाडै नहीं सुंदर पति की सेव ।।
पति बरता पति के निकट सुंदर सदा हजूर ।।
पति बरता देखै नहीं आन पुरुष की ओर ।।
पति की आज्ञा में रहै सदा पति बरता जानि ।
सुंदर संमुख है सदा निसदिन जोरे पानि ।।
प्रभू बुलावै बैठिये ऊठि कहै तब ऊठि
बैठावै तौ बैठिये सुंदर यौं की यूठि ।।
प्रभू चलावे तब चलै सोई कहै तौ सोई ।

सुं० ग्रं० पृ० ६९४ ।

२- पति ही सूं प्रेम होय, पति ही सूं नेम होय ।
पति ही सूं क्षेम होय, पति ही सूं रत है ।।
पति ही है जज्ञ जोग, पति ही है रस भोग ।
पति ही सूं मिटै सोग पति ही को व्रत है ।।
पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुण्य धाम ।
पति ही है तीर्थ ध्यान, पति ही को मत है ।
पति बिनु पति नहिं, पति बिनु गति है नहीं ।
सुन्दर सकल बिधि, एक पतिव्रत है ।।

सुंदर० क० की० पृ० ३३०-३३१

पातिव्रत की सीमा मानते हैं[1] । इस प्रकार की पतिव्रता स्त्री का महत्व बहुत बड़ा है । वह जीवन की पार्थिव सीमाओं का अतिक्रमण कर अलौकिक गरिमा प्राप्त करती है । मन्दोदरी जो स्वयं पतिव्रता के रूप में प्रख्यात है रावण से अनुनय करती है कि वह पतिव्रता स्त्री को सामान्य देहधारियों की भाँति न समझे[2] । पत्नी का यह धर्म है कि वह आपत्तियों को सहन कर कुलशील की रक्षा करे और हाव-भाव-विभावादि से पति को वश में करके रखे[3] । मतिराम की नायिका का अनुराग तो इस सीमा तक पहुंच गया है कि वह पति की मर्यादा बनाये रखने के लिए स्वयं वन्ध्या कहला कर भी तरुण को छिपाये रखती है[4] ।

२८- पत्नी से, आरंभ में संभवतः इतनी आशाएं नहीं की जाती थी । यदि वह पति के बिना अपूर्ण समझी जाती थी तो पुरुष भी उसे अभाव में अधूरा समझा जाता था वहाँ समता और समरसता थी । किंतु धीरे धीरे अनेक आर्थिक और सामाजिक कारणों से पत्नी के लिए पातिव्रत अधिक आवश्यक समझा जाने लगा और पति के ऊपर बन्धन

---

१- मानौं एक पतिनी के व्रत की, पतिव्रत की,
सेनापति सीमा तन मन बरषन की ।।१९।।
से० क० र० पृ० ७१

२- संधि करौ विग्रह करौ सीता को तौ देहु ।
गनौ न सिव देहीन में पतिव्रता को देहु ।।
के० ग्रं० पृ० २२६

३- सील है कुल नारि को वह आपदा सहि लेइ ।
हाव भाव विभाव करिके वरष के पति लेइ ।।
के० वि० गी० पृ० २०१

४- गुरुजन डूबे ब्याह कौं० प्रतिबिंब कहा रिसाइ ।
पति की पति राखै बहू, बापुन बाँझ कहाइ ।।
म० ग्रं० पृ० ४४४

कम होते गये । आलोच्य काल तक आते आते स्थिति काफी बिगड़ गयी थी । अकबर की नायिका अपनी सखी से यह चिन्ता व्यक्त करती है कि रति सी पत्नी घर में, होने पर भी पुरुष परस्त्री के साथ रमण करता है जबसे उसने सुना है कि उसका पति परस्त्री के स्नेह पाश में आबद्ध है तब से अत्यन्त दुखी रहती है किन्तु उसके प्राण भी नहीं निकलते[1] । मतिराम की नायिका अपराधी प्रियतम को रंगे हाथ पाकर भी क्षमा कर देती है[2] । सहिष्णुता तो भारतीय नारी का आवश्यक धर्म सा बन गया है । भारतीय संस्कृति की सुदीर्घ परम्परा ने भारतीय नारी को संसार की सर्वाधिक सहिष्णु और क्षमाशील प्रकृति प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत किया है । उससे यह आशा की जाती है कि वह पति द्वारा दिये जाने वाले दुःखों को भी सुख मान ले । सारे संसार को अमित्र और पति को ही मित्र समझे । योग-व्रत, स्नान-ध्यान, धर्म-कर्म सभी कुछ निष्फल है एक मात्र पति की सेवा ही फलदायिनी है । पति के अभाव में माता-पिता, बन्धु-बान्धव, देवर-जेठ, पुत्र-पुत्री सभी दुःख के आस्पद सिद्ध होते हैं । स्त्री अपने पति को स्वप्न में भी नहीं त्यागती चाहे उसमें कितने ही दोष और अभाव क्यों न हों । पंगु, गूंगा, बहरा, अनाथ, कुष्ठी, कोढ़ी, भील, चोर, व्यभिचारी, अधम, अभागी, कुटिल, कुमति पति भी पत्नी के लिए

---

१- जो अपने घर में सखी रति सी पत्नी होय ।
तऊ पुरुष परतिय लहै कौन रीति यह होय ।।
- - -
सुन्यो सखी परनारि सों रत हमारो पीउ ।
यह सुधि तन तजत नहिं कठिन परी यह जीउ
अकबर- सं० मं० पृ० ७४,७५ ।

२- पिय अपराध अनेकहूं आनि हूं ढिग जाय ।
तिय इकंत हूं कंत सों, मानो करत लजाय ।।
मं० सं० पृ० १२१

त्याज्य नहीं है[1] कुल मिला कर कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं समझी गई जिसमें पत्नी पति का त्याग कर सके और दूसरा पति ग्रहण कर सके। इसके विपरीत पति को एकाधिक पत्नियां रखने का अधिकार है। पति के लिए पत्नी को प्राण त्यागने चाहिए किंतु पत्नी के लिए पति के प्राण छोड़ने का प्रश्न नहीं उठता। महाराज मनु[2] की भांति केशवदास[3] भी पति को सागर और पत्नी को सरिता के समान बताते हैं।

---

१- पति देइ जो पति दुःख, मन मान लीजै सुक्ख।
सब जगत जानि अपित्र, पति जानि केसव मित्र॥

\- \- \- \-

जोग जाग व्रत आदि जु कीजै, न्हान, मान गुन, दान जु दीजै।
धर्म कर्म-सब निष्फल देखा, होहिं एक फल के पति सेवा॥
तात मातु जन सोदर जानौ, देवर जेठ सबै संगिहु मानौ।
पुत्र पुरुषुत की छबिछाई, है विहीन भरता दुख दाई॥
नारी तबै न आपनो सपने हू भरतार। पंगु गुंग बौरा बधिर अंध
जनाय अपार।

\- \- \- \-

कबही कोढ़ी भील और ज्वारी व्यभिचारी, अधम अभागी कुटिल
कुमति पति तबै न नारी॥

के० को० १।१४४

२- मनु, ९ -१९

३- पति पतिनी बहु करै, पति न पतिनी बहु करही।
पति-हित पतिनी बरहि, पति न पतिनी-हित मरही॥
एक नायिका दुख कहा बहु नायक दूबै।
दूबै सरिता एक कहा बहु सागर दूबै॥

के० ग्रं० पृ० ५३८

निष्कर्ष:

२९- रीतिकालीन हिन्दी कविता में नारी के स्थान और चित्रण का विहंगावलोकन करते समय कवियों के दो वर्ग स्पष्टरूप से देख लेने चाहिए। एक ओर तो रसिक मनोवृत्ति के कवि हैं जिन्हें सावन के अन्धे की भाँति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में काम का ही प्रभाव और उसी की लीला दिखायी पड़ती है, दूसरी ओर संत परंपरा के अवशेष हैं जो संसार से विरक्त होकर व्यक्तिगत स्तर पर आत्मोन्नयन का प्रयास करते हैं और काव्य को माध्यम बनाकर संसार-त्याग का उपदेश देते हैं। रीतिकालीन काव्य में संतुलन कहीं नहीं है चाहे वह आसक्ति की ओर हो चाहे विरक्ति की ओर। संतुलन जीवन का मूलाधार है असंतुलन या तो निष्क्रियता, जड़त्व, जीवनहीनता उत्पन्न करता है या विप्लव और उसके फलस्वरूप विनाश का हेतु बनता है। विनाश के लिए, ध्वंस के लिए शक्ति की अतिशयता अपेक्षित है। यह असंतुलन रीतिकाल जैसे सांस्कृतिक पराभव के युग में संभव नहीं है। लोकजीवन में सांस्कृतिक गतिरोध तो नहीं था किन्तु संभवतः जीवन का उल्लास भी नहीं था और रीतिकाल का कवि या तो सामंती वातावरण में रहने के कारण पराश्रित मनोवृत्ति का था या जीवन की विभीषिकाओं से त्रस्त और पराङ्मुख। जिनमें जातीय चेतना का जागरण था भी, जैसे भूषण और जोधराज आदि, वे व्यक्ति को ही जाति का पर्याय समझ बैठे थे। व्यक्ति जाति का प्रतीक हो सकता है, और आधुनिक लोकतांत्रिक युग में, भी गांधी हिन्दू जाति और राष्ट्र के जागरण का प्रतीक माना गया है किन्तु व्यक्ति को जाति का पर्याय बना देना उचित नहीं, क्योंकि व्यक्ति और जाति में व्यक्ति सापेक्षिक रूप से जल्दी नष्ट होने वाला होता है। इसलिए रीतिकाल के रसिक कवियों और संत कवियों में उतना ही भेद भी दिखायी पड़ता है किन्तु वे, नारी के संबंध में एक ही स्थिति की दो भिन्न प्रतिक्रियाएं हैं। जिस प्रकार किसी बढ़ी हुई नदी के भयावह उफान और आवर्त-विवर्त को देख कर एक व्यक्ति न चाहते हुए भी सान्निध्यवशात् नदी की लहरों में आ जाता है और डूबने-उतराने लगता है, दूसरा व्यक्ति दूर से ही जल-प्लावन को देख भाग खड़ा होता है। ये दोनों ही श्लाघ्य नहीं है क्योंकि एक तो डूबा जा रहा है, दूसरा भागा जा रहा है किन्तु इनमें से कोई भी

साहस और सद्बुद्धि के साथ उस पार होने का प्रयत्न नहीं करता । उसी प्रकार रीतिकाल का रसिक कवि सामन्ती समाज के ऐहिकतापूर्ण वातावरण में आकण्ठ मग्न होकर उससे बाहर निकलने की शक्ति खो देता है तो तत्कालीन संत कवि सामन्ती जीवन की ऐहिकता और भ्रष्टता के सन्देश मात्र को सुनकर मंगल की राह ले लेता है । बाघ और भड्डरी जैसे लोक जीवन से संपृक्त कवियों को छोड़ कर जो कवि से कहीं अधिक लोक-गायक हैं, अन्य में या तो पराजित मनोवृत्ति का प्रतिफलन दिखायी देता है या पराङ्मुख विरक्ति का प्रभाव ।

१०- स्वभावतः नारी के सम्बन्ध में ये दोनों प्रकार के कवि संतुलित और सर्वांगीण दृष्टि से विचार नहीं कर सके हैं । केशव, भिखारीदास, मतिराम, बिहारी, घनानन्द आदि सभी में न्यूनाधिक मात्रा में नारी के रूप या मन के प्रति एक गहरी ललक मिलती है इसलिए अपनी आसक्ति के कारण वे नारी के प्रमदात्व और रमणीत्व को अधिक रसमयता के साथ वाणी दे सके हैं । दूसरी ओर दरिया, दादू दयाल, सुंदरदास, नागरीदास आदि के काव्य में नारी स्वभाव के सत्पक्ष को समझने की असामर्थ्य मिलती है । काव्य दृष्टि का मूल तत्व सहिष्णुता है और इन कवियों में नारी के प्रति सहिष्णु दृष्टि का ही अभाव है । निःसंगता भी काव्य सृजन की एक स्थिति हो सकती है किन्तु ये कवि नारी के असत् पक्ष के प्रति निःसंग नहीं रह सके, कटु भी हो गए हैं । इसलिए इनमें से कोई भी वर्ग या कवि भारतीय नारी को उसके समग्र रूप में नहीं देख सका । काव्य की तत्कालीन विधा भी इसमें बाधा-स्वरूप उपस्थित होती रही होगी । कवित्त सवैयों में जीवन के विराट् क्षेत्र में से अधिक व्यापक फलक लाकर उसे गूंथ देना संभव नहीं हो पाता रहा होगा क्योंकि जीवन में एक तुंबता होती है और उस तारतम्य में अनेक प्रकार के रसों का समाहार होता है इसलिए जीवन में पुनरावृत्ति होते हुए भी एकरसता नहीं होती। किन्तु रीति-काल के अधिकांश काव्य में एकरसता और सम्बन्ध विरसता भी दिखायी पड़ती है । यहदृष्टांगी दृष्टि जिस प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्रों में प्रतिबिंबित और प्रतिफलित हुई है उसी प्रकार नारी के व्यक्तित्व को भी समग्ररूप में नहीं ग्रहण कर सकी । इसका परिणाम यह हुआ है कि माता, बहिन, कन्या आदि रूपों में नारी के जो विशद् चित्र मिलने चाहिए थे वे इनके काव्य में प्रायः नहीं मिलते। पत्नी के रूप में रसिक कवियों ने स्त्री को अवश्य लिया है और

पर्याप्त विस्तार के साथ उसका चित्रण किया है, किन्तु वहां भी पति और पत्नी की केलि, आकर्षण और उनके हाव-भाव किलकिंचित् आदि का ही वर्णन करने में उसका मन रमा है। पत्नी को कर्मक्षेत्र के संघर्ष और उत्थान-पतन में पुरुष के साथ कन्धे-से-कंधा मिला कर चलने वाली अर्धांगिनी के रूप में वे उसे चित्रित नहीं कर सके। उनकी रसिकता में उस अग्नि और ऊष्मा का अभाव है जो सृजन और निर्माण का हेतु बनती है। नारी जीवन के अपेक्षाकृत अधिक व्यापक चित्र हमें नूर मुहम्मद, कासिमशाह, उस्मान आदि उन कवियों में मिलते हैं जो रसिक कवियों की तरह "दृश्क मिजाजी" के शिकार नहीं थे। उनमें "दृश्क हकीकी" अधिक मिलती है किन्तु दृश्क हकीकी उनकी दृष्टि को एकांगी और संकुचित नहीं बनाती।

—०—

अध्याय ७

## जीवन-दृष्टि

अध्याय ७

## जीवन - दृष्टि

### आधार सामग्री:

रीतिकालीन काव्य में अभिव्यक्त समाज के धर्म, विश्वास, प्रथाओं, कुप्रथाओं, शिष्टाचार, शिक्षा और साहित्य अर्थात् जीवन-दृष्टि के अन्तर्गत आने वाले पृष्ठभूमि से संबद्ध आधारभूत सामग्री रीतिमुक्त एवं रीति-मुक्त कवियों के अतिरिक्त वीरकाव्य रचयिताओं के एवं नीति और संत कवियों के काव्यों से प्राप्त होती है। रीतिकवियों में केशवदास का सामाजिक ज्ञान संभवतः सर्वाधिक व्यापक समझा जायेगा। इस प्रकार उनमें से केशवदास(१५५९-१६७४) के अतिरिक्त सेनापति (१५४६), बिहारी (१५६०-१७१०), मतिराम (१६७४-१७२८), रसनिधि(१७६०), घनानन्द(१७४६-१७९६), भिखारीदास (१७८५), रघुनाथ(१७९०), पद्माकर (१८१०), गुमान (१८७९) के काव्य इस संबंध में आधारभूत सामग्री प्रदान करते हैं। संतकवियों में सुंदर(१६५३-१७४६), पलटू साहब और सहजोबाई(१८००) के काव्य इस संबंध में विशेष सहायक सिद्ध होते हैं। चरित कवियों में मान(१७००), लालकवि(१७६४), सूदन(१८१०) एवं बोधराज (१८७५) की कृतियों से विशेष सहायता प्राप्त होती है। सभी नीतिकवि प्रायः व्यापक लोक-जीवन के अत्यन्त निकट थे इसलिए लोक की जीवन दृष्टि का प्रतिबिंब उनके काव्य और उनकी सूक्तियों में मिलना स्वाभाविक है। इनमें भी घाघ (१७५१) की लोकोक्तियाँ इस दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध और संभावना - गर्भ हैं। घाघ के अतिरिक्त वैताल(१७२४) और दीन दयाल (१८८८) का काव्य भी पर्याप्त सहायक सिद्ध होता है। सूफी कवियों में उल्लेखनीय सहायता केवल उस्मान(१६७०) से उपलब्ध होती है। कृष्ण-कवियों में रसखान(१६३०) और भगवत् रसिक (१७९५) की रचनाओं से उल्लेख्य सहायता प्राप्त होती है। रीतिकाव्य किस सीमा तक तत्कालीन समाज की वास्तविक जीवन-दृष्टि का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है और किस सीमा तक कवि -कल्पित या कवि के अपने समाज और पर्यावरण को प्रतिबिंबित करता है यह प्रश्न इस दृष्टि से और भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि तत्कालीन समस्त काव्य के आधार पर इस समाज का जो चित्र बनाते हैं वह रीति काव्य के

अधिक निकट दिखायी देता है। रीतिकाव्य, संतकाव्य और चरित काव्य में परस्पर जीवन-दृष्टि संबंधी वैलक्षण्य अवश्य दिखायी देता है। रीतिकाव्य प्रधानतः ऐहिकतापरक जीवन-दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है, वीर काव्य में संघर्ष की इच्छा और संतकाव्य में संसार के मोह, वैलक्षण्य और बन्धन को त्याग कर अलौकिक आनन्द की उपलब्धि का लक्ष्य प्रमुखतः दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यह अन्तर महत्वपूर्ण होते हुए भी मूलभूत नहीं। मूलतः ये एक ही परिस्थिति की तीन भिन्न प्रतिक्रियाएं है। रीतिकवि विश्व परिस्थिति के घेरे में पड़ कर ऐहिक और ऐन्द्रिक जीवन-दृष्टि अपना लेता है, व्यापक जीवन-क्षेत्र उसके लिए रमणीय और सुन्दर में सिमट कर रह जाता है, चरित कवि उसी परिस्थिति के विरुद्ध संघर्ष करता है। संतकवि तत्कालीन समाज की पतनोन्मुख स्थिति देखकर जीवन को ही निरर्थक और अकाम्य समझने लगता है।

राजनीतिक पराजय और सांस्कृतिक पराभव की प्रतिक्रिया:

१- मनुष्य और पशु की जीवन-यापन -पद्धति में मूलभूत समानता होते हुए भी तात्विक अन्तर है। इसीप्रकार मनुष्य मात्र की जीवन-यापन पद्धति और जीवन के साध्य के संबंध में उनकी दृष्टि में मूलभूत समानता होते हुए भी ऐसा अन्तर है जिसकी उपेक्षा संभव न होने के कारण ही जाति, धर्म और राष्ट्र जैसे विभाग दृष्टिगोचर होते है। चिंतन के जो वैशिष्ट्य, जो विश्वास, एक प्रजाति को दूसरी मानव-प्रजाति से अलग करते है, एक युग को दूसरे युग से अलग करते हैं, एक को अरब दूसरे को भारतीय और तीसरे को फ्रांसीसी की संज्ञा प्रदान करते है उन्हें ही हम यहां जीवन-दृष्टि के अन्तर्गत ले रहे हैं। इन विश्वासों में दर्शन की-सी व्यवस्था और पूर्वापर-क्रम-बद्धता नहीं होती किन्तु इनमें वह वैशिष्ट्य अवश्य होता है जो देश-काल विशेष में बसने वाले जन को दूसरे देश-काल में बसने वाले जन से अलग व्यक्तित्व प्रदान करता है।

२- आलोच्यकालीन भारत राष्ट्र-राज्य नहीं था। वस्तुतः

राष्ट्रीयता की भावना और राष्ट्र - राज्य की परिकल्पना का विकास पश्चिम में भी उन्नीसवीं सदी में हुआ । राज्य के लिए जन, निश्चित भौगोलिक क्षेत्र, सरकार और संप्रभुता- इन चार तत्वों की आवश्यकता होती है[१]। अकबरकालीन भारत में ये सभी तत्व उपस्थित थे और राष्ट्रीयता के लिए अपेक्षित तत्वों में वांछित विशुद्धता भाषा एवं समुदायगत समैक्य एवं भौगोलिक एकता का भी अभाव नहीं था किन्तु भारतीय जन में एक समान राजनीतिक स्वप्न(कामन पालिटिकल एस्पिरेशन) नहीं था[२]। इन तत्वों की उपस्थिति की चेतना का अभाव था । तत्कालीन भारत राजनीतिक पराभव, सार्वभौम विपन्नता और सांस्कृतिक पराभव का देश था । अकबर (१५५०-१६०५) के समय तक की जड़े न केवल मजबूत हो गयी थीं, बल्कि साम्राज्य रूपी वृक्ष पूर्णरूपेण पल्लवित एवं पुष्पित भी होने लगा था । अकबर का शासन काल केवल राजनीतिक स्थिरता का ही काल नहीं है अपितु वह इस्लाम संस्कृति की विजय का काल भी है । हिन्दू जाति, कुछ ऐसा लगता है कि मुगल शासन को, बहुत कुछ अपरिहार्य समझ कर स्वीकार कर चुकी थी और जैसा कि उत्तरवर्ती इतिहासकारों के अध्ययन से ज्ञात होता है अकबर की नीति-प्रेरित उदारता के कारण वे उसमें कुछ गुण भी देखने लगे थे । इस प्रकार तत्कालीन हिन्दू चरित में राजनीति के प्रति, राजनीतिक पराभव जनित उदासीनता और सांस्कृतिक पराभवजन्य धार्मिक सहिष्णुता के दर्शन होते है[३]।

४- रीतिकालीन काव्य के आधार पर तत्कालीन जीवन का, विशेषकर उसके आभ्यन्तर पक्ष का कोई चित्र बनाने में बहुत सतर्क रहने की

---

१- गेटिल-आर०जी०पालिटिकल साइंस, पृ० १९ ।
गिलक्राइस्ट- प्रिंसिपुल्स आफ पालिटिकल साइंस, पृ० ६ ।
२- गार्नर - पालिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेन्ट, पृ०१०६-११२ ।
३- सब विधि रनथोर सौंह साहि जहाँगीर तिहुंपुर बाकी बसु गंगा की सो बसु है ।
के०गृ०पृ० ६३१ ।

आवश्यकता है। रीतिकाल का कवि वस्तुतः जीवन के दोनों पक्षों बाह्य और आभ्यंतर में एकरस है। यह एकरसता कभी-कभी प्राणहीनता की सीमा का संस्पर्श करने लगती है। जानपान में, उन्हीं व्यंजनों का उल्लेख है जो जन-सामान्य को उपलब्ध न होने के कारण अवास्तविक और एकदेशीय तो है ही पुनरावृत्ति के कारण नीरस भी हो जाते हैं और यही बात जीवन के अन्य पक्षों पर भी समान रूपों से लागू होती है। रीतियुग का कवि अनेक कारणों से सम्राट्कुल और सामन्तवर्ग के अधिक निकट था। काव्य सृजन में सृष्टा के समग्र व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है और उसके व्यक्तित्व के निर्माण में पर्यावरण का योग और प्रभाव निर्विवाद है। इस प्रकार रीति-युग का काव्य भी कवि के पर्यावरण से प्रभावित एवं उद्भूत है। भक्तियुग के कवि उदाहरणार्थ तुलसी और रीतियुग के कवि की चिंतन प्रक्रिया में मौलिक भेद है। तुलसी लोकजीवन को रामभक्त में ले जाते हैं रामभक्त के जीवन को लोकजीवन की सरलता प्रदान करते हैं इसलिए अयोध्या के राज्य में सर्वप्रभुत्व संपन्न एकतंत्र होने के बावजूद भी उत्पीड़न और अत्याचार का अभाव है। भावनात्मक धरातल पर राजपरिवार के जीवन और लोकजीवन के बीच कोई गहरी खाई नहीं है वरन् दोनों बहुत कुछ एक से हैं। रानी कौशल्या एक सामान्य सास की तरह कहती है "दीप बाति नहिं टारन कहेऊ" और यह भूल जाती है कि राजकुल की वधू को दिए की बाती टालने की जरूरत ही नहीं पड़ा करती। राजघर चलकर लोकजीवन के निकट पहुँचता है। राम पीढ़ी के कहने पर सीता को निर्वासित कर देते हैं। पाठक यह भूल जाता है कि रामायण काल में जनतंत्र नहीं था वह राजतंत्र का केवल आदर्श रूप था। कवि उपमान भी लोक जीवन से लेता है। किन्तु रीतियुग का कवि लोकजीवन से या तो अपरिचित रहता है या उसपर सामन्ती जीवन का आरोप करता है। पद्माकर का प्रसिद्ध छन्द जिसमें शीतशमन के उपकरण गिनाये गये हैं, किसी सामान्य गृहस्थ के जीवन का चित्र नहीं देता है। यदि इन्हीं सामग्रियों से शीत समाप्त होती रही हो तो यह समझ लेना चाहिए कि भारत की तत्कालीन जनसंख्या का पंचानवे प्रतिशत बाड़े से ठिठुर रहा था। रीतिकाल के कवि की इस सीमा के कारण काव्य के आधार पर तत्कालीन वास्तविक जीवन-दृष्टि

का अध्ययन करना एक कठिन और संयम सापेक्ष कार्य है फिर भी थोड़ा सतर्कता से काम लेने पर एक रूपरेखा तैयार की जा सकती है।

५- भारत धर्मप्राण देश रहा है। धर्म अर्थात् जीवन यापन की पद्धति का अधिक महत्व होने का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू,जीवन को, धर्मरूपी साध्य का साधन समझ लेता है। उसे अपने धर्म के लिए प्राणत्याग परधर्म-ग्रहण से अधिक सुगम प्रतीत होता है। उसका नारा है "स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मोभयावहः।" स्वभावतः जीवन के अन्य उपकरण उसकी दृष्टि में अपेक्षाकृत महत्वहीन हो जाते है। अपने धर्म की रक्षा के लिए वह पुत्र, मित्र, भोजन, भवन, भूमि आदि सभी कुछ छोड़ सकता है[1]। सेनापति वैराग्य-भाव की अभिव्यक्ति करते है उनकी सलाह है कि एक गुरु कर लिया जाय तो सच्चिदानंद का बोध कराये, जिसके फलस्वरूप काम, क्रोध आदि का विनाश हो जाता है। कवि पुनीत नगरी वाराणसी के मणिकर्णिका घाट में पावन स्नान करके राम नाम का पाठ करने की आकांक्षा व्यक्त करता है[2]। इस श्रेयपरक संस्कृति का परिणाम यह होता है कि हिन्दू मानव जीवन को अकिंचन और देवयोनि को अनपेक्षित महत्व की दृष्टि से देखता है। जिस दूल्हे को देखकर सुर नारि भी मोहित हो गये उसके लिए मानवीय प्रशंसा की अपेक्षा नहीं रह जाती[3]।

---

१- मांगहु मंत्री मित्र पुत्र प्रभु सखा कलिंगन।
मांगहु भोजन भवन भूमि भावन भूषनगन।
मांगहु आसन अशन भान परिधान बानिगनि,
मांगहु बाग तड़ाग राग बड़भाग भोगमनि।
कहि केशव सब पुर सुत समेत बसु बसुधा को।
सब देहों को कछु मांगिहो धर्म न दै हौं आपनो ॥के०ग्रं०पृ०५३९।

२-"वाराणसी बास मणिकर्णिका अन्हाइ मेरो संकर तैराम नाम पढ़िबे कोन मनहि" के०कौ०र०पृ०२१०।

३- वारी सब दूलह बाल बने, मोहे सुर गौरन कौन गने।
के०ग्रं०पृ० २७२।

## बातीक-चरित्रः

६- समाज की दृष्टि में गोत्र, गुण, ग्राम और देश, स्वभाव, प्रभाव, कुल, विक्रम आदि का विशेष महत्व है। राव-समाज का परिचय देते समय केशव ने इनके विवरण दिये जाने का उल्लेख किया है[1]। पिता के अभिधेय से ही पुत्र का परिचय समझा जाता है अतः पिता के वैरी और वैर भी पुत्र को उत्तराधिकार में प्राप्त हो जाते है। जो पुत्र अपने पिता का वैर-मोचन नहीं करता उसका जीवन निष्फल समझा जाता है[2]। केशवदास मानव-जीवन के वैशिष्ट्यों का उल्लेख करते समय चिरंजीवा सर्वविद्या विलासी, सर्व-सम्पत्तिवान्, संयोगी, अरोगी और एक पत्नीव्रती की चर्चा करते है[3]। दान का महत्व बहुत बड़ा है किन्तु देने का जितना बड़ा महत्व है, भिक्षादान ग्रहण करने का कार्य उतना ही गर्हित समझा जाता है। केशव रामराज्य की आदर्शावस्था का वर्णन करते हुए बताते है कि उनके राज्य में भिक्षादान केवल यज्ञोपवीत के अवसर पर औपचारिक रूप से ही ग्रहण किया जाता है, गति की वक्रता केवल कवितायों में मिलती है और कोकिलकुल ही पुत्र का त्याग करता है[4]। दान तीन प्रकार के माने गये है - सात्विक, रजस्, और तमस्

---

१- सिंगरेराव समाज के कहे गोत्र गुन ग्राम।
देश स्वभाव प्रभाव कुल बल विक्रम नाम ।। के०गु०पृ० २४१।

२- जो सुत अपने बाप को वैर न लेइ प्रकास।
ताको जीवत ही मर्यो लोग कहे तजि भास ।।
के०गु०पृ० २१६।

३- सुखी सर्वदा सर्व विद्या विलासी। सदा सर्व सम्पत्ति शोभा प्रकासी ।।
चिरंजीव संजोग भोगी अरोगी। सदा एक पत्नीव्रती भोग भोगी ।।
के०गु०पृ० २६९।

४- ले होत जनेऊ भिक्षा दानु। कुटिल चाल सरितानु बखानु ।।
क्या करणादि जिय वृत्त हरै। कोकिल कुल सुत त्याहिरै ।।
के०गु०पृ० २७०।

या उत्तम, मध्यम और अधम[1]। अंग्रेज यात्री एलर्ड टेरी ने हिन्दू भृत्यों की स्वामिभक्ति और सेवापरायणता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। फ्रेजर के अनुसार भी संकट काल में स्वामी को छोड़ देना या किसी को कुछ देकर उससे वापस ले लेना निन्दनीय कार्य है। सारा संसार ऐसे व्यक्ति के नाम पर थूकता है[2]। स्त्री पर हाथ उठाने की वर्जना की गयी है, अबला पर आक्रमण करना पुरुष का धर्म नहीं माना जाता[3]। पराक्रम की शोभा इसी में है कि वह परापकारान्ध अत्याचार को रोके, असहायों और अबलों की रक्षा करे। विभूति का औचित्य इसी में है कि वह अपने प्रसार से दैन्य को कम करे तभी तो भगवान राम दानव दलन हैं, कलिमल का मथन करने वाले हैं और द्विज और दीनों के दुःखों का हरण करने वाले हैं[4]। हम्मीर रासो में वीरों गुणों के अन्तर्गत विनीत, धर्मी, दयावान् और धीर की प्रशंसा की है[5]। धैर्य को हिन्दू चरित्र का विशेष अंग माना गया है। एलर्ड टेरी ने हिन्दुओं के धैर्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

---

१- के०गृ०पृ० ३४१।

२- के०गृ० पृ० ५३८।

३- यह धर्म पुरुष को सिंधु नाहिं,

तिय ऊपर ऊचौं करत बाहिं॥

बी०ह०रा०पृ० १३०।

४- दानौ दल-मलन, मथन कलि-कलन कौं।

दलन हैं जेइ द्विज दीनन के दुख कौं॥

के० क० र० पृ० ७५।

५- बी० ह० रा० पृ० ९।

ऐहिकतापरक मनोवृत्ति:

७- बिहारी ने महाराव बखसिंह के दरबार की स्थिति देखकर जो उद्बोधन किया था वह रीतिकाव्य में विलास समाज की मनोवृत्ति को सम्पूर्णत: द्योतित करता है। वह जीवन की कर्मभूमि में न जाकर स्त्री में ही आबद्ध हो गया है[1]। कोई इस संसार-सागर को पार नहीं कर सकता क्योंकि स्त्री की छवि रूपी ग्राहिणी - छाया उसे बीच में ही धर लेती है[2]। यद्यपि शंकर ने काम को नष्ट कर दिया है, तथापि वह हटाये नहीं हटता। स्वयं विनष्ट होकर भी दूसरों के हृदय को संतप्त करता है। इसी मनोज के निवारण हेतु केशव परमेश्वर, शिव और गुरु को सप्रेम प्रणाम किया करते हैं[3]। वस्तुत: रीतिकाव्यकाल में ऐहिकता और काम प्रवृत्ति थी, कम से कम उस समाज में जिसका कवि चित्रण करता है, व्याप्ति इतनी अधिकता हो गयी थी जीवन के चार पुरुषार्थों में काम सर्वग्रासी और सर्वभक्षी बन बैठा था। जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में प्राय: पूर्वस्थ तीन के माध्यम से मानव समाज व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्तरों पर निरंतर गतिशील रहा है। धर्म अर्थात् जीवन -यापन की पद्धति( Way of Life ) और अर्थ कहीं तो उसका परिणाम मान लिया गया है कहीं उसका साधन-पर दोनों रूपों में वह अपने आप साध्य कभी नहीं रहा है, और यह निर्विवाद है कि काम जीवन-मात्र

---

१- नहिं पराग,नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली, कली ही सौं बंध्यौ आगे कौन हवाल॥
वि०र०दो० २८ एवं बो०हन्दा०पृ० ३९।

२- या भव-पारावार कौं उलघि पार को जाय।
तिय-छवि-छाया-ग्राहिनी गहै बीच हीं आय॥
वि०र०दो० ४२३।

३- के०मं० पृ० ६४३।

की मूलप्रवृत्ति है । मानवीय मेधा-विकास और सामर्थ्य के कारण इस काम कल्प-वृक्ष में विविध कामना-कुसुम खिलाती आयी है, काम अपने व्यापकतम अर्थ में हमारे सम्पूर्ण जीवन को आच्छादित किये हुए है । हमारी समस्त वासनाएं, इच्छाएं और मनोकामनाएं इसके अन्तर्गत आ जाती है । मनुष्य की सबसे प्रबल ऐषणा विवीविष, भी इसी के अन्तर्गत आयेगी । मोक्ष इनसबसे मुक्ति नहीं इनके माध्यम से मुक्ति है ।

८- रीतिकाव्य के जीवन-दर्शन में काम को बहुत बड़ा स्थान दिया गया है । यह भी कहना अतिशय नहीं होगा कि उसका सर्वोत्तम अंश काम कथा ही है।किन्तु यहां काम का शोभित अर्थ लेना पड़ता है । भव्य-भवनों में निवास, जीवन के संघर्षों और कोलाहल से दूर सुरम्य उद्यानों में भ्रमण, नारी की शरीर-यष्टि के हर प्रच्छन्न-गुप्त मोड़ पर ऐन्द्रिक वासनाओं तक में ही यहां काम की परिधि समाप्त हो जाती है ।

९- नारी रूप के प्रति जागरित गृहणीय नहीं है वह तो एक सहज प्रवृत्ति है । नैतिकता - अनैतिकता के परंपरागत मानदण्डों से परे, आत्म-प्रवंचना से दूर होकर देखा जाय तो पता चलेगा कि रूपसी प्रमदा की कोमल-कान्त काया के प्रति मधु लोभी पुरुष के आकर्षण में सृष्टि का रहस्य छिपा है, सृष्टि के अस्तित्व का भान ही उसके आधार पर खड़ा है । नर-नारी एक दूसरे के प्रति अपने सहज आकर्षण की तीव्रता और व्यापकता में नीति की आत्म-प्रवंचना को चुनौती ही नहीं देते रहे, परिरंभपाश में आबद्ध प्रणयी जीवन का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान और कल्पित सुख लूटते रहे है । जिसकी मदिर छाया में दार्शनिक का दर्शन प्रवित हो उठता है, जिसके अधरों की लाल्या पुरुष शरीर के प्रत्येक ठोस अवयव की चेतना को जागरित कर देती है और जिसकी गंध पुरुष के अन्तर्मन में व्याप्त होने पर सृष्टि की सौरभ धारा ही बहता है, जिसकी वाणी के तार नर की झंकृत कर देते है उसके प्रति पुरुष का सहज आकर्षण पुनीतता-अपुनीतता के बाधे आदर्शों से नहीं मापा जा सकता ।

१०- पर देखना यह है कि रीतियुग के कवि पुरुष की अन्तरचेतना नारी की सौन्दर्याभा से प्रबुद्ध हो उठती है या स्त्री का स्थूल रूप पुरुष

की वासना लिप्सा को ही जागृत करता है और इससे आगे नहीं बढ़ता ।
मतिराम का अति प्रसिद्ध सवैया है--

कुंदन को रंगु फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गुराई,
आँखिन में अलसानि चितौन में मंजु विलासन की सरसाई ।
को बिनु मोलबिकात नहीं, मतिराम लहै मुसकानि-मिठाई,
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई[1]

नायिका (रीतिकालीन स्त्री होने के नाते) कुन्दनवर्णी है, उसका गौर वर्ण अंग-अंग से फूटा पड़ रहा है । रात्रि केलि में व्यतीत होने के कारण आँखों में आलस्य है, दृष्टि से विलास की मधु मदिरा बरस रही है, उसका हास्य ऐसा है जहाँ मधु लोभी मधुकर (पुरुष) बिना मोल के ही बिक जायेगा । जितनी ही निकटता से देखा जाय उसकी कान्ति सोने की तरह निखरती जाती है । काव्य की दृष्टि से यह सवैया हिंदी साहित्य के रसभीने स्थलों में से होगा- अब इसे प्रसाद के नारी चित्रण से मिलाइये -

बिखरी अलकें ज्यों तर्क - जाल ।
यह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखण्ड - सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म-पलाश चषक से थे अनुराग- विराग ढाल
गुंजरित मधुप-से मुक्त सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा-जीवन-रस सार लिए
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये
किन्नरी वीणा झिंगुर सरंगमयी बालों के वसन लिपटा अबाध
चरणों में थी गतिभरी ताल[2]।

---

१- म०गं०, पृ० २७४ ।
२- प्रसाद- कामायनी, पृ० १६८(अष्टम संस्करण) ।

यह इड़ा का चित्र है जिसे शास्त्रीय भाषा में "शिख-नख" कहा जायेगा । कवि इड़ा के प्रत्येक महत्वपूर्ण अंग के लिए एक एक उपमान की नियोजना करता है । उसकी अलकें तर्कजाल की तरह बिखरी हैं । उसका स्पष्ट पुलकित भाल विश्व-मुकुट-सा, उज्ज्वल शशिखण्ड सदृश है । दो पद्मपलाश-वर्णक से नेत्र अनुराग और विराग दोनों का समान रूप से प्रस्तवण करने में समर्थ हैं । उसका मुख उस मुकुल के सदृश है जिसमें भ्रमर-गुंजार का संगीत भरा हुआ है । उसके वक्ष पर संसृति के सब ज्ञान-विज्ञान एकत्र स्थित हैं । उसके एक हाथ में वसुन्धरा के जीवन को रसधार प्रदान करने वाला कर्म-कलश है दूसरे में विचारों का मधुर मधु अवलम्ब प्राप्त है । उसकी त्रिगुण, त्रिगुण और तरंगमयी है । उसने शुभ्र वसन धारण कर रखा है और उसके चरणों में संगीत की गति का सौंदर्य है । मतिराम के चित्र में जहां कुंदन वर्ण का वैभव है वहां प्रसाद में शुभ्र वर्ण की ज्योत्स्ना है । मतिराम की नायिका की बांहों में मांसलत्व और माधुर्य है, दुकूल में एक विशेष प्रकार का विलास है । प्रसाद की नायिका के नेत्र पद्मपलाश वर्णक सदृश होने के कारण सुन्दर तो हैं ही उनमें अनुराग और विराग एक साथ, डाल देने की क्षमता भी है, उसके वक्षस्थल पर संस्कृति के ज्ञान-विज्ञान एकत्र स्थित है । मतिराम के चित्र में जहां कर्म के उर्वर क्षेत्र का अभाव है वहां प्रसाद की इड़ा के एक हाथ में वसुधा के जीवन को रस प्रदान करने वाला कर्म कलश और दूसरे में विचार-सम्पत्ति है । ये दोनों चित्र अपने-अपने युग के कवि की नारी-दृष्टि के प्रतिनिधि चित्र हैं और दोनों का वैषम्य अत्यन्त मर्मभेदी है ।

## वर्णापकर्षण की प्रवृत्ति:

११- रीतियुग के कवि में अतिशय कामपरकता के कारण वर्णापकर्षण की प्रवृत्ति भी मिलती है । सेनापति प्यारी के उन चरणों की वंदना करते हैं जो मुनिवर के सदृश हैं, जो अघ की भांति भग्न जीवन वनम" को सफल बना देते हैं, जिनका संसर्ग कल्पद्रुम के समान सर्वकामनाप्रदायी और सर्वमंगलविधायी

है[1]। उसके उरोजों को देख कर साधुओं को अपने अखंड "शिव साधन" का स्मरण हो आता है[2]। ब्रह्मा ने, कवि की दृष्टि में, नायिका के वक्षदेश में उरोज रूपी परमेश्वर की व्यवस्था इसलिए की है कि हरि के करकमल उनकी पूजा कर सकें[3]। बाला प्रिय-मिलन की कामना की पूर्ति के लिए अपने प्रेमाश्रु रूपी मुक्ति-माल से अहर्निश अपने कुच रूपी शिव की आराधना करती है[4]। कहाँ भगवान शिव और कहाँ रमणी के उरोज ? रीति कवि धर्म की मर्यादाएं तोड़ कर अनवसर वहाँ प्रवेश करता है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि कवि को धर्मक्षेत्र में प्रवेश का अधिकार नहीं है या उसकी ऐन्द्रिक मनोवृत्ति विगर्हणीय है, जीवन के इन दो अलग-अलग पक्षों का एक स्थान पर संचय जिसमें एक एक गरिमा का ह्रास हो और दूसरे का उन्नयन भी न हो यह अवांछनीय है और तत्कालीन कवि की मनोवृत्ति का परिचायक है। तभी तो शिवाजीराज के लिए जीवन में उपलब्ध होने वाले समस्त ऐश्वर्य और वैभव सुंदरियों के समक्ष तुच्छ व अतएव त्याज्य हैं[5]। रमणी के संग रहकर

---

१- सेनापति - क० र० पृ० २७। और

साहिब सहाय के गुलाम गुरहर-गुर
ईगुर-प्रकास दास दावी के सरन है।
कुसुम-बनारी कुरबिंद के अंकुर कारी,
निर्दंक पधारी प्रानप्यारी के चरन है।
शि०गृ० २।२५।

२- शि०गृ० २।२४।
३- म० गृ० पृ० ४६४।
४- बाला कंस तेरी मिलन निसि बासर यह बास।
कुच शिव पूजति, नैन जल, बूंद मुक्तमय माल॥ म०गृ०पृ० ५००।
५- बादि छवी रस जौबन जाइबो बादि नवो रस मिश्रित गैबो।
बादि बराई प्रपंक बिलास प्रसून से परि या पछितैबो।
दासबू बादि अनेस धनेस धनेस फनेस गनेस कहैबो।
या बग में सुखदायक एक मयंकमुखी को अंक लहैबो॥
शि०गृ० पृ० २।२८।

१९- हर ओर काम का ही साम्राज्य है। कामदेव ने अपने कुसुमशर से सकल संसार को अपने वश में कर लिया है, कोई भी वंचित नहीं है, काम के अधीन होकर कोई भी उचित कार्य नहीं कर पा रहा है[1]। जहां भामिनी है वहीं भोग का अस्तित्व है बिना भामिनी के भोग कहां? उसके छूटने से जग से नाता टूट जाता है और जग से नाता छूटने से समस्त सुख छूट जाते हैं[2]। सेनापति की नायिका की कुटिल भृकुटि काम के कमान की तरह है जिससे तीक्ष्ण तीर चलते हैं। घूंघट की ओट से काम रूपी बधिक द्वारा बिना मारे गये भी, जितने कामी पड़े सिसक रहे हैं[3]। पतदू साहब युद्धों की व्यवस्था में महल के भीतर पुष्प शय्या, उस पर सुगंधि का फैलाव, साथ में सुन्दरी, पान और गुलाब जैसे पट भर भोजन और एक मदिरा की बोतल की आवश्यकता बताते हैं। तत्कालीन जीवन-दृष्टि पर संत कवि ने संभवतः क्षोभ व्यक्त किया होगा। चैत के प्रभात में राव मंदिर की फुलवारी में अलसाती हुई प्रियतमा का संसर्ग सेनापति मत्पुत्तम मानते हैं[4]। रीतिकालीन नायिका की भी तन और मन दोनों ओर से पुष्पित होने की साध मिटाये नहीं मिटती[5]। नवेली नायिका के घर के सभी लोग कहीं न कहीं चले गये

---

१- किधौ सबै जगु काम-बस, जीते जिते अजेय।
कुसुम सरीहं सर धनुष कर अगहु गहत न देव॥
वि० र० दो ४९५

२- जहां भामिनी भोग तहं बिन भामिनि कहां भोग।
भामिनी छूटे जग छुटै जग छूटे सब भोग॥
के० मं० पृ० २५५

३- काम की कमान तेरी भृकुटी कुटिल बाकी,
तापै अति तीछन ए तीर से चलत हैं।
घूंघट की ओट कोट, करिके बचाई काम,
मारे बिन काम, कामी जेते सबल हैं।
से० क० र० पृ० ११।

४- से० क० र० पृ० ९६

५- कछू मन फूली रही, कछू बन-फूलि, जैसे,
तन मन फूलिबे की साधि न बुझाति है॥
से० क० र० पृ० ४२

है, प्रियतम, जो उसके यौवनरूपी उद्यान के माली है रूठ गये है और साथ उन्हें मनाने गयी है इसीलिए वह किसी और वनमाली का आवाहन कर रही है[1]। प्रौढ़ा नायिका के वात्सल्य स्नेह में भी काम की गंध आती है। वह पुलकित होकर, हंसते हुए अपने पुत्र को पास बुलाती है, उसे देख कर रसौती नायिका को स्वेद आता है और वह पुत्र का मुख चूम लेती है। इस हर्षातिरेक का कारण उसका पुत्र के प्रति उमड़ा हुआ स्नेह नहीं है, पुत्र का चुंबन वह करती है क्योंकि कुछ ही देर पूर्व नायक पुत्र के गालों पर अपना चुंबन अंकित कर चुका है। प्रिय द्वारा चुंबित मुख को चूम कर नायिका प्रिय को ही चूमने की अनुभूति करके पुलकित हो रही है[2]। विभिन्न क्रीड़ाओं में निमग्न नायिका को अपने वस्त्रादि का भी ध्यान नहीं रहता फाग के हर्ष में विभोर नायिका का वक्ष "उघर" जाता है उसे अपना वस्त्र संभालने की सुधि ही नहीं है। फिर क्या है? रसिया नायक को तो स्वर्ण अवसर मिल गया और उसने नायिका के उघरे वक्षदेश की ओर तक कर ही निशाना लगाया है[3]। वो श्यामसुंदर केशव का और केशव के साथ-साथ जग का मन मोही है उनका चित्र भी दर्शनीय है। उनके अंग-प्रत्यंग आभूषणों से सुशोभित है, बाल लोचन में मोहमयी मदिरा की रक्तिमता है और कंठ में रति की व्याकुलता है[4]। सभी व्यक्ति काम के

---

१- रूखि कहूं कढ़ि माली गयो गई ताहि मनावन साख उताली।
त्यों पद्माकर न्हान नदी ननदी को हुती नगनावन वाली।
मंजु महाछवि को कब की यह नीकी निकुंज परी सब डाली।
मैं इहि बाग की मालिनि हौं इत आये भले तुम हो बनमाली॥
प० ग्रं० पृ० १६१

२- विहसि बुलाइ, विलोकि उत प्रौढ़ तिया रस भूमि।
पुलकि पसीजत, पूत को पिय-चूम्यो मुंहु चूमि॥
वि० र० दो० ६१७।

३- साल है बलायो सखाय सखना को देखि।
उघरारी उर उरबसी और तकि के॥
हे० क० र० पृ० ७६

४- के० वि० गी० पृ० १५।

वशीभूत हैं। जो रात में वारवधुओं के साथ क्रीड़ाविलास करता है वही प्रातःकाल स्नानकर, मस्तक पर टीका लगा कर, उज्ज्वल वस्त्र धारण कर लोगों को जप-तप, योग, यज्ञ एवं धृतियों के उपदेश एवं विधिविधानों की रीति सिखाता फिरता है। उसका दिन पर-उपदेश में एवं रात्रि भोगलिप्सा में व्यतीत होती है[1]।

धन का महत्व -

१३- काम के महत्व के साथ-साथ सब सुख-व्यवस्था करने वाले धन का महत्व बढ़ जाना स्वाभाविक है। रीतिकालीन कवि जिस समाज का चित्र खींचता है उसमें धन की महत्ता अपरिमित है। कोई किसी का मित्र नहीं है "वित्त" ही एकमात्र मित्र है। धनी ही पंडित और साधु है। पास में पैसा होने पर याचक मित्रों की भांति पेश आते हैं, पुत्र-कलत्र इत्यादि चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न करते हैं, समाज में आदर होता है, राजा-प्रजा सभी एक स्वर से उसका गुणगान करते हैं[2]। "टका" सभी कार्य-व्यापारों का हेतु और साधन है। मृषा उसी की प्रेरणा पर बकता है,

---

१- के० वि० गी० पृ० ९९।

२- (क) केशव- वी० दे० च० पृ० १४-१६।

(ख) सेवा देवै विविध प्रकार लेती कावै बहु व्यौपार।
खानि, पुकारै खोवै गांठ। धन पावै मठपती सुभाउ।
पारस प्रसिद्ध गिरि कल्पतरु काम धेनु धन काव सब।
साधन अनेक धन हेतु तू दान भयो कि भयो न अब॥
विहि धन पंडित पुनीत होत साधन बिनु पावन।
बाबिन पुस्तक पुनीत होत ज्यौं पंडित अपावन॥
के० वी० च० पृ० १६,१७ एवं २०।

इसी की प्रेरणा पर सिर पर छत्र-धारण होता है, वह मां-बाप है, और भाइयों का भाई है। वही सास-ससुर है, और लाड़ करने वाला है[1]। धन के महत्व का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि सर्वसौख्य विधायक होने के कारण वही साध्य बन जाता है। उचित अनुचित साधनों से उसे प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाते हैं और भ्रष्टाचरण फैलता है[2]। उचित-अनुचित साधनों के प्रयोग से धनोपार्जन के प्रयत्नों के फलस्वरूप एक विशेष वर्ग के लोगों के पास संपत्ति अधिक हो जाती है। एक बार संपत्ति अधिक हो जाने के साथ ही संपत्ति के अर्जन के साधन उनके पास अधिकाधिक होते जाते हैं। सामाजिक संपत्ति का एक बड़ा भाग उनके पास बसा जाता है फलतः अन्य बहुसंख्यक लोगों के पास अत्यल्प शेष रहता है। राजा नीतिविहीन हो गये हैं। मित्र को मित्र पर विश्वास नहीं रह गया। स्नेह-सलिला स्त्रियों के स्नेह-स्रोत सूख गये हैं, उन्हें व्यभिचारकर्मरत रहना अच्छा लगता है, शिष्य श्रद्धाविहीन हो गये हैं, पंचों में न्यायभावना नहीं रह गयी[3], कुल मिला कर रीति युग का कवि

---

१- टका करै बकहू टका बिरुदैत कहावै।
टका चढ़ै सुखपाल टका सिर छत्र धरावै।
टका मात अरु बाप टका-बिनु को बिनु भैया।
टका साधु अरु ससुर टका सिर लाड़ लड़ैया॥
बेताल- क० कौ० पृ० १९९।

२- बात ते हराम दाम करत हराम काम,
कहे करनेस आवै फूलनि से बासि तबै।
रीझा बरी, निबाह अंत यम काढ़ि डारैंगे।
करनेस-छा० र० पृ० १८।

३- राजन की नीति गई मीत की प्रतीति गई।
नारिनि की प्रीति गई बार बिष भायो है।
शिष्यन को भाव गयो बंधन को न्याव गयो।
सांच को प्रभाव गयो झूठ ही सुहायो है।
बेदन की दृष्टि गई भूमि सो तौ नष्ट भई।
सृष्टि पै सकल बिपरीत दरसायो है॥ गोविंद क० कौ पृ० ५०८

जिस समय के समाज का चित्र दे रहा है यह उस समय समग्र समाज का चित्र हो या नहीं पर किस किसी भी समाज का है नितान्त अहन्तोत्पादक और चिन्ताजनक है। आज कल के पुरुष ऐसे हो गए है जिन पर स्त्रियां भी झूठे और पूर्त होने का आरोप लगा सकती हैं[1]। समाज से करुणा विदा हो गयी है, धर्म उठ गया है पुण्य पाताल प्रयाण कर गया है, प्रत्येक वर्ण में पाप का प्रवेश हो गया है। राजा न्याय नहीं करता, प्रजा महान् कष्ट में है हर घर में दुखी और पीड़ित लोग है। शील और संकोच का कहीं पता नहीं है, इस प्रकार घोर कलियुग आ गया है[2]। यहां तक कि धर्मपुरोहित भी अधर्म के ठेकेदार बन बैठे है। कामोन्मत्त बन परमार्थ की बातें करते है, बाठोपाम वेद पुराण का बखान करने वाले "रज्जब" के पांव पूजते है, हाथ में माला धारण किये हुए साधु भी धर्म के ठग बन बैठे है, अकरणीय कार्य करते, बहाव जाते है और असेवनीय का सेवन करते है[3]। ब्राह्मण वेदों को बेच कर म्लेच्छ मदीप

---

१- जो जिय में सो जीभ में रमन लागरे ठौर।
आज काल के नरन के जीभ छू जिय और।
प० गृ० - पृ० ९१

२- दया चहूट है गई, धर्म धंसि गयो धरनि में।
पुन्य गयो पाताल पाप भी बरन बरन में।
राजा करै न न्याव प्रजा की होति खुवारी।
घर घर में भे पीर दुखित में सब नर नारी।
अब उलटि दान गजपति भी सील संतोष गयो।
बेताल कहै विक्रम सुनौ यह कलियुग प्रकट भयो॥
बेताल सा० र० पे०३४९-५०।

३- काम रहमातों परमारथ की बातें करै बनाते बनाते नहीं पीरे और रज्जबकी वेद और पुरान के बखान कर बाठी राम साधक समाज बाद पूजे पांव रज्ज को।
हाथ लिये माला बदमाला मुख बोलन धर्म ठीया बस आज है अरज्ज को।
बरमि- सा० पृ० पृ० १६४।

की सेवा में रत है, क्षत्रिय पूजा को बरबित छोड़ बैठे है, वैश्यों ने वणिक्वृत्ति छोड़ दी है, शूद्र शिल्पों की पूजा करते है, धन चुराते है, उनके चित्त में शासक वर्ग का भय नहीं रह गया है[1] ।

मद्यपान एवं मांसाहार-

१४- सुन्दरदास परस्त्रिगमन, मद्यपान और मांसाहार को नरक-गमन का कारण-भूत बताते है । रीतियुग का काव्य जिस समाज का चित्रण करता है उसके पुरुष परस्त्री लोलुप, स्त्रियां विलासिनी और जीवन की कर्मभूमि से बहुत दूर है । एक ओर प्रियतमा के हाथ शस्त्रागार लेटे-लेटे हुक्का पीने का चित्र है[2] । तो दूसरी ओर मद्यपान से नायिका की शोभा निखर उठती है[3] । पूस की रात में प्रियतम और प्रियतमा मदोन्मत्त हो रहे है[4] । स्त्रियों द्वारा मद्य-पान करने के उल्लेख बहुलता से आये है । चन्द्रवदनी मखमल पर झुकी बैठी है दाहिने हाथ से झूम-झूम कर प्याला पी रही है । मखमली-मुलायम बांहों पर नशे की लाली आ गयी है । मद में वह ज्यों-ज्यों बहकती है त्यों-त्यों विभोर होकर प्रियतम उसे हृदय से लगा लेते है[5] । नायक की नायिका की काम चेष्टाएं,

---

१-ब्राह्मण वेचत वेदन को क्षत्रिय महीप की सेव करै वू ।
क्षत्रिय छांड़त है परवा अपराध बिना प्रिय वृत्ति हरै वू ।
छांड़ि दयो कुल विक्रम वैरवन क्षत्रिय ज्यों हथियार धरै वू ।
पूजत शूद्र शिला धनचोरति चित्त में राव को न डरै वू ।। के० वि० गी०पृ०७७

२- नागर समुच्चय - पृ० १९६

३- अकबर शुं मं पृ० १९०

४- पूस निसा में सुवास्त्र नि से बनि बैठे दुहू मद के मतवारे ।
त्यों पदमाकर झूमै झुकै बन घूमि रचे रस रंग रसाले ।। पंद्र
पं० मृं० पृ० १८३

५- चांदनी में बैठी चन्द बदनी मनंद ह्वै के, लागी मखमल झुकि झुकि उमकती।
पीवै घूम झीने नये बक्का की बासवानि, दाहिने से भूमि २ प्याले से छकीह
कहै कवि तोष ऐसी मखमली मुखकानि, रातीरातो अंखिया सों तरुनी
तकति है ।

तकि तकि त्यों त्यों लाल डर लावे ज्यों ज्यों
बकि बकि बात बतियां बकति है ।।
तो० सु० नि० पृ० १५० ।

मान और ढिठाई अति प्रिय लगती है और इसमें उसके रसिक हृदय को विशेष तुष्टि होती है। लम्बाशीला नायिका अपनी सीमाओं और मर्यादाओं का ध्यान रखती है और नायक इन चेष्टाओं का मान-मर्दन करने से वंचित रहता है। नायक इसके लिए वारुणी का सहारा लेता है। वारुणी का सेवन कर नायिका विवश हो जाती है और नशे में मान-तमाशे करती है, झूम झूम कर दोहरी हो जाती है, सदा लम्बा में पगी नायिका बहकी-बहकी बातें करने लगती है। उसकी ढिठाई बढ़ती जाती है और नायक उसके इस मदहोश मधुर रूप का पान करता रहता है[1]। मद्यपान के ये वर्णन भी तत्कालीन समाज के शासक एवं सामन्त वर्ग के जीवन का ही चित्र अंकित करते हैं। जन सामान्य, अथवा मध्यम वर्ग या हिन्दू समाज व्यापक रूप से मद्यपान करता था इसके कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं होते। मद्यपान को सदैव ही गर्हित दृष्टि से देखा गया है और उसकी निन्दा की गयी है।

१५- मांस भक्षण का भी चलन था, यद्यपि हिन्दुओं में यह सार्वभौम रूप से कभी प्रचलित नहीं रहा। जहाँगीर के समय में भारत आने वाले अंग्रेज यात्री एडवर्ड टेरी के अनुसार हिंदू मांसाहार के पक्ष में नहीं है। बर्नियर ने मांस की दूकानों के होने का उल्लेख किया है। शाही घरानों एवं कुछ विशिष्ट लोगों के यहां ही मांस का अधिक उपयोग होता था। रीतिकालीन काव्य में समाज में इसके लोक प्रिय होने के उदाहरण नहीं प्राप्त होते हैं। सूदन तथा मानकवि के द्वारा दी गयी भोजन एवं पकवानों की लम्बी सूचियों तथा लखमान एवं कासिम शाह के द्वारा किये

---

१- मान तमासौ करि रही विवस वारुनी सेइ।
झुकति, झूलति, हँसि-हँसि झुकति, झुकि झुकि हँसि-हँसि देइ॥
वि० र० दो० ५१९

निपट लजीली नवल तिय बहकि वारुनी सेइ
त्यों त्यों अति बीठी लगति त्यों त्यों ढीठयो देइ॥१६८॥
वि० र० दो० १६८

गये भोजों एवं दावतों के विस्तृत वर्णन में वहां नाना प्रकार के पकवानों और मिठाइयों के नाम हैं वहां मांस भक्षण मद्य का संकेत भी नहीं किया गया। रीतिकाव्य में जहां कहीं भी मांस भक्षण के उल्लेख आये हैं वहीं उसकी घोर निन्दा की गयी है। प्रायः उसके सभी उल्लेख वर्जना एवं अवांछनीयता के रूप में आये हैं[1]। जुआ खेलने का प्रचलन भी था किन्तु मांसाहार एवं मद्यपान की ही भांति जुआ खेलना भी अनैतिक कहा गया है और उसकी हर स्थान पर निन्दा की गई है। भूषर के अनुसार इस लोक में जुआ खेलने से बड़ा और कोई अनैतिक कार्य नहीं है[2]।

निवृत्तिवादी जीवन दर्शन:-

१६- एक ओर जहां ऐहिकतापरक चित्र है, समाज की मनोदशा में काम का प्रभाव सर्वातिशयी बताया गया है वहां दूसरी ओर विषयविरत और वीतराग मन के चित्र भी कम नहीं है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि विषय के प्रति आसक्ति और उससे विरक्ति ये दोनों ही अतिवादी मनोदशाएं हैं। मानव प्रकृति में आसक्ति और विरक्ति दोनों सहज है किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भी सत्य है कि एक का अतिशय होने पर प्रायः उसकी प्रतिक्रिया के रूप में दूसरी की भी अतिशयता देखने में आती है। भर्तृहरि के शृंगार शतक का नग्न शृंगार चित्र मनोयोग से चरम सीमा में पहुंचाया गया, स्त्री के एक-एक अवयव के प्रति सतर्क और उपभोग के चित्र दिये गये, मुख, नाक, कान, अधरोष्ठ, वक्ष आदि में अनुपमेय रमणीयता और आकर्षण का साक्षात्कार हुआ, उतनी ही तीव्रता के साथ वैराग्यशतक में इन्हीं अंगों को कुत्सित और गर्हणीय बताया गया।

---

१- यह निपट निंद्य अपवित्र अति, कृमि कुल राख निवास नित।
आमिष अथवा याकी सदा, करणी दीज दयाल चित्त॥
भूधर शा० र०पु० २७६।

२- जुआ समान दुलोक में आन अनीति न पेखिये।
इस व्यसन राय के खेल कौं कौतुकहु न देखिये॥
भूधर- शा० र०पु० २७५।

इसलिए रीतियुग के काव्य में विरक्त और आध्यात्मिक जीवन दृष्टि के जो उदाहरण उपलब्ध है वे या तो तत्कालीन संत कवियों के स्वभावज उद्गार है या विषय वासना में प्रतिक्षण लिप्त रहने के कारण श्रृंगारिक कवियों को सन्यास वृत्ति के दौरे आते है और उनमें ही वे लिखे गये । इसीलिए शृंगार प्रधान काव्य के सृष्टा कवियों के वैराग्य प्रधान उद्गार या तो स्वयं अस्वाभाविक हो गये है या रतिभाव प्रधान कविताओं का सा रस स्निग्ध काव्यत्व उनमें से तिरोहित हो गया है । इसलिए तत्कालीन काव्य में विलासी समाज में अध्यात्म प्रधान मनोवृत्ति के अस्तित्व का अतिशय कथन नहीं किया जा सकता ।

१७- जो दिन को रात और रात को दिन कर सकता है जो सुमेरु को राई और राई को सुमेरु बना सकता है, ऐसे स्वेच्छापूर्वक सब कुछ करने में समर्थ दशरथ तनय के प्रति पद्माकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते है[१] । भिखारी दास को भी राम के नाम से ही काम है । वे उस अवस्था में पहुंच गये है जहां भूख-प्यास, हर्ष-विषाद जैसे भाव कंचन-कांच और मृत्तिका-माणिका जैसी वस्तुओं और फूल जैसे सौख्य विधायक और शूली जैसे उत्पीड़क के बीच उनकी दृष्टि में कोई अंतर नहीं रह गया[२] ।

---

१- चीस की रात करै जो चहै अरु रातिहु को करि चीस दिखावै ।
त्यों पद्माकर चीस को सिंधु पिपीलिका के बल ईस फिरावै ।
यों समरथ्थ तनय दशरथ्थ को तोड़ करै जो कछू मन भावै ।
चाहे सुमेरु को राई करै रवि राई को चाहे सुमेरु बनावै ।

प० ग्रं० पृ० २३८ ।

२- भूखे अघाने रिसाने रसाने छिनू गहिनू सो स्वच्छ भने है ।
दूषन भूषन कंचन कांच धु मृत्तिका माणिक एक गने है ।
सूल सों फूल सों लाल प्रवाल सों दास हिए सम सुच्छ सने है ।
राम को नाम लेाक लेखत काम तई जग जीवनमुक्त बने है ।

भि० ग्रं० २।२६

इसलिए रीतियुग के काव्य में विरक्त और आध्यात्मिक जीवन दृष्टि के जो उदाहरण उपलब्ध है वे या तो तत्कालीन संत कवियों के स्वभावज उद्गार है या विषय वासना में प्रतिक्षण लिप्त रहने के कारण श्रृंगारिक कवियों को सन्ताप मुक्ति के दौरे आते है और उनमें ही वे लिखे गये । इसीलिए शृंगार प्रधान काव्य के सृष्टा कवियों के वैराग्य प्रधान उद्गार या तो स्वयं अस्वाभाविक हो गये है या रतिभाव प्रधान कविताओं का सा रस स्निग्ध काव्यत्व उनमें से तिरोहित हो गया है । इसलिए तत्कालीन काव्य में विच्छिन्न समाज में अध्यात्म प्रधान मनोवृत्ति के अस्तित्व का अतिशय कथन नहीं किया जा सकता ।

१७- जो दिन को रात और रात को दिन कर सकता है जो सुमेरु को राई और राई को सुमेरु बना सकता है, ऐसे स्वेच्छापूर्वक सब कुछ करने में समर्थ दशरथ तनय के प्रति पद्माकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं[१] । भिखारी दास को भी राम के नाम से ही काम है । वे उस अवस्था में पहुंच गये है जहां भूख-प्यास, हर्ष-विषाद जैसे भाव कंचन-कांच और मृत्तिका-माणिक जैसी वस्तुओं और फूल जैसे सौख्य विधायक और शूली जैसे उत्पीड़क के बीच उनकी दृष्टि में कोई अंतर नहीं रह गया[२] ।

---

१- बीस को रात करै जो चहै अरु रातिहु को करि बीस दिखावै ।
त्यौं पद्माकर बीस को सिंधु पिपीलिका के बस कीस फिरावै ।
यौं समरथ्थ तनय दसरथ्थ को सोध करै जो कछू मन भावै ।
चाहे सुमेरु को राई करै रवि राई को चाहे सुमेरु बनावै ।

प० ग्रं० पृ० २३८ ।

२- भूखे अघाने रिसाने रसाने सिद्ध असिद्ध सबै सम ठाने है ।
दूषन भूषन कंचन कांच दु मृत्तिका मानिक एक गने है ।
सूल सों फूल सों छाल प्रवाल सों दास हिए सम सुक्ख सने है ।
राम को नाम लै काम सबै सम जीवनमुक्त बने है ।

भि० ग्रं० २।२५

संत पलटू साहब भी "सैन स्वकैन भुरीया" के आदर्श पर विश्वास रखते है, वे संग्रह त्याग के झमेले में नहीं पड़ना चाहते[1] । उनकी दृष्टि में संत का आदर्श यह है कि वह घर से टुकड़ी मांग कर अपनी क्षुधा मिटाये । पानी पीने के लिए अपने पास एक तुम्बा रखे, वह भी फूटा हुआ । ओढ़ने को एक चादर हो, हाट-बाट मस्जिद जहां कहीं जगह मिले पड़ कर रात काट दे और अहर्निश सत्संग का रंग करे । ऊपरी आवरण के लिए जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पर्याप्त है, शर्त यह है कि अंतर स्वच्छ और परिष्कृत रहे[2] ।

१८- महाकवि पद्माकर को खेद और पश्चाताप है कि उन्होंने जीवन व्यर्थ ही बिता दिया और एक बार भी राम का नाम नहीं लिया भोग में रोग का भय है, संयोग में वियोग का भय है, योग साधने में कायिक कष्ट है, इसी प्रकार वेद पुराण के पठन-पाठन से अनेक विचार संघर्ष खड़े होते है और कवि इन्हीं मुग-तृष्णाओं में लिप्त रह कर जीवन व्यतीत कर देता वह राम नाम का गायन नहीं कर पाता[3] । जिस

---

१- गाइ बजाइ संसार को काटना खेना खेलना बात मीठी कहे ।
खाइये पीजिये मिले सो पहिरना संग्रह त्याग में नहीं पड़ना ।

पलटू बा० पृ० २१ ।

२- घर घर से टुकड़ी मांग के क्षुधा को चारा डार दीवै
फूटा एक तुम्बा पास राखौ ओढ़न को एक चादर लीवै
हाट बाट मस्जिद में सोय रहो दिन रात सतसंग का रस पीवै
ऊपर एक चिथड़ा ओढ़ लेना अंदर को साफ रख पीना ।।

पलटू बानी- पृ० ६१

३- भोग में रोग वियोग संयोग में जोग में कायकलेस कमायो ।
त्यौं पद्माकर वेदपुरान पढ़यौ, पढ़िके बहुवाद बढ़ायो ।
दौरयो दुरास में रास भयो पै कहूं बिसराम को धाम न पायो ।
कायो गमायो सु ऐसे ही जीवन हायँ पै राम को नाम न गायो ।

प० ग्र० पृ० २०७

नारी शरीर के प्रति अन्य समकालीन कवियों की भाँति पद्माकर के मन की ललक और भूख रीझे नहीं रुकती, वही नारी शरीर अब, कफ, वात, पित्त, मल-मूत्र, हाड़मांस और रुधिर का संश्लेषण-मात्र रह गया है। राम तो मन में आ ही नहीं सके। जीवन के अंतिम दिनों में पद्माकर बचन विचार कर कह रहे हैं कि वह सब ईश्वर की माया का प्रसार था[1]। बाबा केशव दास को चन्द्रवदनी रमणियों के मुख से "बाबा" संबोधन अच्छा नहीं लगता था। पर उन्हें पर नारी नर को पापशिला की भाँति जलती प्रतीत होती है[2]। मानव शरीर को केवल आशा के बल पर ढोलता रहता है उसका क्या विश्वास किया जाय। वह पानी के बुलबुले की तरह क्षणभंगुर एवं विनाशशील है। तन तो चाम का चोला है हरिनाम के अतिरिक्त अन्यत्र विश्राम नहीं है[3]। मनुष्य तन पाकर गंगा के पुनीत जल में स्नान करके भगवान की कथा का परायण न कर पाने के कारण पद्माकर अत्यन्त दुःखित है। जीवन काल में उन्होंने अपना मन भगवान के चरणों से हटा कर अन्यत्र लगाए रखा और अब काल सर पर आ गया है और वे अशक्त-असहाय हो गये हैं[4]। पलटू साहब देह और गेह की सीमाओं में बंध कर माया और अहंकार में रहने के विरुद्ध उद्बोधन करते हैं[5]। ज्ञान

---

१- कफ वात पित्त मल मूत्र हाड़ नस मांस रुधिर वह छाया है।
मैं ऐसी निंदरूप नारिन को तिन सों प्रेम बढ़ाया है।
सुभ सुंदर स्याम सरोरुह लोचन राम न मन में आया है।
अब बचन विचार कहै पद्माकर यह ईश्वर की माया है।

प० ग्रं० पृ० २९५

२- पावक पाप सिला बनवारी, बारति है नर को पर नारी।

के०ग्रं० पृ० १५४

३- प० ग्रं० पृ० २४२
४- प० ग्रं० पृ० २४६
५- पलटू बानी २।११

नारी शरीर के प्रति अन्य समकालीन कवियों की भाँति पद्माकर के मन की ललक और भूख रीके नहीं रुकती, वही नारी शरीर अब, कफ, वात, पित्त, मल-मूत्र, हाडमांस और रुधिर का संस्थान-मात्र रह गया है। राम तो मन में आ ही नहीं सके। जीवन के अंतिम दिनों में पद्माकर बचन विचार कर कह रहे हैं कि यह सब ईश्वर की माया का प्रसार था[1]। बाबा केशव दास को चन्द्रवदनी रमणियों के मुख से "बाबा" संबोधन अच्छा नहीं लगता था। पर उन्हें पर नारी नर को पापशिला की भाँति बलाती प्रतीत होती है[2]। मानव शरीर को केवल आशा के बल पर ढोलता रहता है उसका क्या विश्वास किया जाय। वह पानी के बुलबुले की तरह क्षणभंगुर एवं विनाशशील है। तन तो चाम का चोला है हरिनाम के अतिरिक्त अन्यत्र विश्राम नहीं है[3]। मनुष्य तन पाकर गंगा के पुनीत जल में स्नान करके भगवान की कथा का परायण न कर पाने के कारण पद्माकर अत्यन्त दुःखित है। जीवन काल में उन्होंने अपना मन भगवान के चरणों से हटा कर अन्यत्र लगाए रखा और अब काल सर पर आ गया है और वे अशक्त-असहाय हो गये हैं[4]। पलटू साहब देह और गेह की सीमाओं में बंध कर माया और अहंकार में रहने के विरुद्ध उद्बोधन करते हैं[5]। ज्ञान

---

१- कफ वात पित्त मल मूत्र हाड़ नस मांस रुधिर बहै छाया है।
मैं ऐसी निसरूप नारिन को तिन सों प्रेम बढ़ाया है।
सुभ सुंदर स्याम सरीरहि सोधन राम न मन में आया है।
अब बचन विचार कहै पद्माकर यह ईश्वर की माया है।

प० ग्रं० पृ० २९५

२- पावक पाप सिला बनवारी, बारति है नर को पर नारी।

के०ग्रं० पृ० १५४

३- प० ग्रं० पृ० २४२
४- प० ग्रं० पृ० २४५
५- पलटू बानी २।११

योग, व्रत, नेम और निर्वेद आदि विषयों से कहीं श्रेष्ठ है। प्रभु के चरण कमलों में रति हुए बिना सब निष्फल है[1]। भगवान् शंकर थोड़े से, केवल धतूर के फूल चढ़ाने से, प्रसन्न हो जाते हैं इसलिए कवि अपने मन को प्रेरणा देता है कि वह आशुतोष शंकर के प्रति रति करे[2]। यह सारा संसार काम के तेज से तप रहा है अतः बिना राम की उपासना के यहां विश्राम नहीं है[3]। शैशव एक क्षणस्थायी स्वप्न की भांति आया और चला गया, राम की उपासना नहीं की जा सकी। यौवन आया शरीर में शक्ति और मद का संचार हुआ, धन धाम आदि के मकड़ में पड़ कर हरिनाम को विस्मृत कर दिया। रात्रि रमणियों के साथ बिताते रहे। बाकीस वर्ष की अवस्था आ गयी और भगवत् प्राप्ति की दिशा में कोई भी कार्य नहीं हो पाया[4]। इस प्रकार कवियों की दृष्टि में सारा संसार और तीनों लोक स्वप्नवत् है। सुंदरदास के अनुसार इस संसार-रूपी स्वप्न से जागरण के बाद ही इसके मिथ्यात्व का ज्ञान होता है[5]।

---

१- मतिराम- स०स०पं० १६०।

२- संकर-पायनि मैं लगि रे मन बौरेहि बातनि सिद्धि सुहाई।
आक-धतूर के फूल चढ़ाये तें रीझत है तिहुं लोक के साईं॥

म०गं०, पृ० ४०२।

३- काम के तेज निकाम तपे बिन राम जपे विसराम न पैहै।

भि०गं०, २।३९।

४- मेरो धन मेरो धाम रोयो कहि सब बाम,
सोयो हरिनाम सोयो बाम संग लिप्त मैं।
बालिस करत संग बालिस कुसंग गहि,
बालिस भयो न बाजी बालीस बारिस मैं॥

दी०गं०पृ० १३५।

५- स्वप्न सरिस संसार है स्वपना तीनहू लोक।
सुंदर जागयो सपन से तब सब जाने फोक॥

सु०गं०, पृ० १६४।

## धर्म एवं दर्शन की विविधता:

१९- जब पारलौकिक मनोदृष्टि जन्म लेती है तो स्वभावतः वह विविध रूपों में पल्लवित-पुष्पित होती है। मनुष्य महान् अनुसंधाता और विधायक है। उसका मन जिस किसी ओर भी जाता है उसकी मेधा और विराट् कल्पना शक्ति उसी ओर अनेकानेक उपलब्धियों और विधानों की संयोजना करती चलती है। उसकी कारयित्री प्रतिभा इन कल्पनाओं और अवधारणाओं को क्रियात्मक रूप प्रदान करती है इस प्रकार प्रवृत्ति, संयोजना और कार्यान्वय की दृढ़ता चलती है। धर्म-परायण भारत ने इसीलिए अनेकानेक धर्मों और विश्वासों को जन्म दिया। यहाँ के सहिष्णुता पूर्ण और उन्मुक्त वातावरण में विभिन्न धर्मों, दर्शनों और संस्कृतियों को पल्लवित-पुष्पित होने का अवसर मिला। ब्राह्मोन्मेषकाल के काव्य में सब सामयिक विभिन्न धर्मों और दर्शनों के पूर्ण विवरण प्राप्य नहीं हैं और किसी भी काव्य में उन्हें खोजना भी संभवतः बहुत उचित नहीं होगा। किन्तु काव्य में जो भी संकेत मिलते हैं उनके आधार पर देश की धार्मिक विविधता और उस विविधता में निहित एकसूत्रता की कल्पना की जा सकती है। "सुजान चरित" में साम, यजुः, ऋक् और अथर्व वेदों, मीमांसा, वेदान्त, न्याय आदि दर्शनों, विष्णु, वायु, शिव, अग्नि, नारद आदि पुराणों, व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक आदि वाङ्मय के विभिन्न रूपों के उल्लेख आये हैं[1]।

## विभिन्न उपास्य और उपासना-पद्धतियाँ:

२०- भारत में देवताओं की जनसंख्या देखी जाय तो वह इतनी अधिक मिलेगी कि संभवतः उनके लिए एक इतने ही विशाल जन्य देश की व्यवस्था करनी होगी। कुल मिलाकर तैंतीस करोड़ देवता तो माने ही जाते हैं।

---

१- सूदन- सु० च०, पृ० १७९।

बालोच्यकाल में भी कहीं रघुवीर हैं तो कहीं रमैया, और कहीं महेश कहीं इकदन्त-गजानन[1]। इसी प्रकार धर्म गुरुओं की संख्या भी अनन्त है। कोई गोरख को मानता है, कोई कबीर को कोई भर्तृहरि को, कोई कबीर, हरदास आदि के संबंध में विवाद करता है। सुंदर कवि इन सब के प्रति नतशिर होते हुए भी दादू को सबसे ऊपर मानते हैं[2]।

२१- इसी प्रकार धार्मिक कृत्यों और उपलब्धियों में भी अपरिमित विविधता दृष्टिगत होती है। कोई विविध प्रकार के वाजपेय आदि यज्ञों का विधान करता है, कोई तीर्थ यात्रा करता है तो कोई संध्या, तर्पण, आदि धार्मिक आचारों में रत है। एक ओर, कुछ लोग अगर वर्णाश्रम के अनुसार कुलधर्म का पालन करते हैं, पुत्र-कलत्र आदि सहित गार्हस्थ्य धर्म में प्रवृत्त है, कामिनी सहित वानप्रस्थ लेते बन जाते हैं तो कुछ ऐसे भी हैं जो समस्त लौकिक बन्धनों से मुक्त होकर परम हंस के पद पर प्रतिष्ठित है। अन्य लोग स्नान-ध्यान, उपवास, संयम आदि के माध्यम से।

---

१- मान० रा० वि० पृ० १०४।

२- कोऊ गोरख को गुरु भाषत कोउक देव दिगम्बर दादू।
कोऊ कबीर कोउ परमेश्वर कोऊ कबीर कोऊ राखत दादू।
कोउ कहै हरदास हमारे कोऊ ठानत वादविवादू।
और तो संत सबै सिर ऊपर सुंदर के उर है गुरु दादू॥

सु०ग्रं०पृ० १८५।

अपने इष्ट देवों की उपासना में लीन हैं[1] । इसी प्रकार कोई शिव उपासक है तो दूसरी ओर अपने बालों का लुंचन करने वाले जैन भी हैं । मुद्रा-धारण करने वाले भ्रष्ट कापालिकों की भी कमी नहीं है । जीवों की बलि देने वाले शक्ति और कपिल के उपासक भी हैं । यहां तक कि ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करने वाले भी मिल जायेंगे[2] ।

१२- जिन देवताओं की भक्ति के उल्लेख आये हैं उनमें कृष्ण और राम सबसे महत्वपूर्ण हैं । कवि मतिराम मुंडमालों के हार को उर पर और मोरमुकुट को मस्तक पर धारण करने वाले श्रीकृष्ण को अपने उर निकुंज

---

१- सुं० ग्रं०, पृ० ८८-८९ ।

२- केचित् शिव शिव जपहिं अपारा । गो सिंग अरु लावहि छारा ।।
केचित् वर्म दु थापहिं नैना । केश लुंचहि करै अति फैना ।।
केचित् मुद्रा पहिरै काने । कापालिक भ्रष्ट मत बाने ।।
केचित् नास्तिकवाद प्रचंडा । तेतै करै बहुत पाखण्डा ।।
केचित देवी शक्ति मनावैं । जीव हनन कर ताहिं चढ़ावैं ।।
केचित् बहुविधि होम करावैं । तिन मुख जब भगिन मुख पावैं ।।

सु०ग्रं० पृ० ९० ।

में विहार करने का निमन्त्रण देते हैं जिसे राधा और मोहन के प्रति प्रेम नहीं है वह मन्धे के समान है। भगवान रयाम का मतिराम रूप सकल विमल गुणों की खान है इसलिए मतिराम अपनी बुद्धि को ऐसे परमेश्वर का विस्मरण न करने को कहते हैं[1]। महाकवि देव राधा-कृष्ण "किशोरवर" के चरणों की वंदना करते हैं जो रति और शृंगार की साक्षात् मूर्ति है और शुद्ध सच्चिदानंद है[2]। बिहारी सतसई का आरम्भिक दोहा भी "राधा-नागरी" की वंदना से आरम्भ होता है। राधा का महत्व कृष्ण के साथ तो था ही उनकी स्वतंत्र सत्ता भी हो गयी थी। बिहारी उस राधा नागरी से अपनी भवबाधा दूर करने का निवेदन करते हैं जिसके तन की छाया पड़ने से भगवान् रयाम "हरित दुति" हो जाते हैं[3]। राम भक्ति की परंपरा भी अबाध रूप से चली आ रही थी और मालोच्य काल में तद्विषयक संदर्भों की कमी नहीं है। निर्गुण परमेश्वर सगुण और साकार होकर राम के रूप में अवतरित होता है। "लक्ष्मण-राम" के रूप को निहार कर आंसू रोके नहीं रुकते[4]। सेनापति कहते हैं कि यदि मन की चाह है तो

---

१- राधा मोहन लाल की यहि न भावत नेह।
धरियौ मुठी छार क्यों ताकी बांधि देह॥

† † †

स्यामरूप मतिराम गति सकल विमल गुनधाम।
तुम निसि-दिन मतिराम की मति बिसरौ मतिराम॥

म०ग्रं०, पृ० ४४२ एवं ४९०।

२- राधा कृष्ण किशोर युग, पग वंदौ बगवंद।
मूरति रति शृंगार की, शुद्ध सच्चिदानंद॥ दे० भा० वि० पृ० १।

३- मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झांई परे स्यामु हरित-दुति होइ॥ वि०र०दो० १।

४- यद्यपि है मति निर्गुनताई। मानुष रूप धरे रघुराई॥
लखमन राम कहां अवलोके। नैनन ते नरजूपी क्यों रोके॥

दे०ग्रं०पृ० २०।

"सियाराम" की सेवा करो क्योंकि यदि वे विभीषण को अविचल राज्य दे सकते है तो धनाकांक्षी भक्त को वे अपार धन संपत्ति दे सकेंगे। यदि मुक्ति चाहिए तो सकल कोशल को मुक्त करने वाले भगवान राम की शरण में जाओ। यदि नीरोग रहने की कामना करते हो तो भी उसी का स्मरण करो जिसने मृत कपि-समूह को पुनर्जीवन प्रदान किया था। सेनापति के विचार से ऐसे रघुराम को छोड़ कर और किसी की आराधना करने से क्या लाभ? वे "क्लेश दुख दंडन", "भरतसिवमंडन" और रघुराई की "अघ-खंडन" [illegible] की वंदना करते है। उन्हें एक मात्र राम के चरण कमलों का ही भरोसा है। सेनापति उस "पूर्ण पुरुष अधिकेश गुणधाम" राम की विनती करते हैं जिसने जीव, ज्ञान, प्राण, तन, मन, मति आदि देकर जगत की अपार रचना का दर्शन कराया, चक्षु द्वारा देखने पर जो विश्वरूप है और बुद्धि के माध्यम से अवगाहन करने पर जो निराकार और अनादि ज्ञात होता है, जिसका अंत और ऊर्ध्व संपूर्ण गगन और समस्त दिशाओं में व्याप्त है जिसके हृदय में देव है और जो तीनों लोकों का आधार भूत है[1]। शारदा एवं लक्ष्मी भी जिनकी रसना एवं रसना है और निगम पुराणादि जिसकी माया का गान करते है, जिनके लोचन सुधाकर की भाँति शोभायमान् हो रहे है, विधाता जिसके पुत्र है, हर जिसके प्रपौत्र है, चारों दिक्पाल जिसके विशाल भुजदण्ड हैं, शेष जिनकी शय्या है और तीनों लोकों में जिनका देव व्याप्त है ऐसे अनन्त महिमावान् सीता-पति के समान और कोई नहीं है[2]। पद्माकर दिनरात, आठोयाम, "रामराम सीताराम" कहने का आह्वान करते है[3]।

२३- शिवभक्ति के भी उल्लेख आये है। सेनापति महेश की सेवा

---

१- सेनापति- क०र०पृ० १, २, ९९ एवं ७७।

२- से० क० र० पृ० ९८-९९।

३- रैन दिन आठो याम राम राम राम राम।
सीताराम सीताराम सीताराम कहिए॥
प०गं०, पृ० २४४।

करने और अन्यत्र न भटकने का उपदेश देते हैं। शिव की सेवा से घर में सुख रहता है संतति लाभ होता है किसी प्रकार का दुख नहीं व्यापता उसकी उपासना के लिए विशद् व्यवस्था की भी आवश्यकता नहीं रहती, अनेक उपसाधन भी नहीं जुटाने पड़ते। वे आशुतोष हैं और धतूरे के दो फूलों से प्रसन्न होकर ऐसी संपत्ति का दान दे देते हैं जो देवेन्द्र के लिए भी चिन्ता का विषय बन जाय[1]। पद्माकर भी उस त्रिपुरारि की उदारता की ओर संकेत करते हैं जो धतूरे का एक फूल देने पर चारों प्रकार के फल देता है[2]। मतिराम अपनी बुद्धि और मन को हरि के अनुकूल बनाकर धतूर के फूल देकर त्रिलोक की साहिबी प्राप्त करना चाहते हैं[3]। भिखारी दास शिव पार्वती दोनों की स्तुति करते हैं। जगतगुरू अर्थात् गणेश, जगज्जननी पार्वती और जगदीश शंकर तीनों को भिखारीदास अपना प्रणाम निवेदित करते हैं[4]।

२४- शक्ति एवं सरस्वती की आराधना पर भी काव्य सृष्टि की गयी है। भूषण आदि शक्ति मां काली, मधु-कैटभ का संहार करनेवाली महिषासुर मर्दिनी की वंदना करते हैं[5]। मतिराम भी भवसागर में डूबते

---

१- से० क० र० पृ० १११।

२- देखो त्रिपुरारि की उदारता अपार यहां,
जैसे फलचारि फूल एक दै धतूरे को। प०गं०पु० २३७।

३- प०गं० पृ० ४८७।

४- जगतगुरू जग की जननी जगदीस अरु सुख देत महीस को।
दास प्रनाम करै कर जोरि गनाधिप को गिरिजा को गिरीस को॥
भि०गं०पु० १।१०।

५- जै जयति जै आदि सकति जै कलिकल्यानि।
जै मधुकैटभ छयनि देवि जै महिषघ्न विमर्दिनि॥
भू०गं०पु० १।

संपट और लोभी मन को, सदा मण्डप में विराजने वाली जगदंबा भवानी के भवन में रमने को कहो[1]। देवी के उपासक उसकी प्रसन्न करने के लिए बलियों की बलि भी देते हैं[2]। मानकवि उन माता सरस्वती के चरणों में रहना चाहते हैं जिनकी सेवा सुर-नर-मुनि सभी सेवा करते हैं और दिन-प्रतिदिन बुद्धि एवं सुख प्रदान करने वाली है[3]।

त्रिवेणी-माहात्म्य:

२५- हिन्दू धर्मावलंबी के लिए अत्यन्त प्राचीन समय से गंगा-यमुना-सरस्वती की त्रिवेणी का महत्व रहा है। रीतिकाव्य में इन नदियों का स्वतंत्र रूप से और त्रिवेणी की उपासना स्तुति एवं पूजन के उल्लेख प्राप्त होते हैं। शिव की जटा में स्थान पाने के कारण गंगा का विशेष महत्व है। केशव की दृष्टि में गंगा केवल नदी ही नहीं है, वह आदि, अरूप का द्रव्य रूप है जो संसार को तारने के लिए तरल होकर बह निकला है। उसमें इतनी शुचिता है कि बिना विधा, तप, भक्ति के ही, केवल मात्र अवगाहन से घोर पातक का नाश हो जाता है। सेनापति के अनुसार सुरलोक को शीतल करती हुई, पृथ्वी को तृप्त कर जो धरणी-तल को भी धन्य करती है, ऐसी गंगा के गुण कौन कह सकता है। सुर-नर-मुनि तो थक ही गये हैं ब्रह्मा की मति भी काम नहीं कर रही है। गंगा के समान कोई तीर्थ नहीं, उसकी समता कोई सरिता नहीं कर सकती, कृष्ण ने उसे ही विभूति कहा है। यदि गंगा इतनी महत्वपूर्ण न होती तो भगीरथ अपना राजसी ठाटबाट छोड़ कर तपस्या में अपना शरीर

---

१- म०गं० पृ० ४१७।

२- केचित् देवी शक्ति मनावैं। दीप दान करि ताहि चढ़ावैं।
सु०गं०, पृ० ९०।

३- मान - रा०वि० कु० १।

लंपट और लोभी मन को, सदा मण्डप में विराजने वाली जगदंबा भवानी के भजन में रमने को कहो[1]। देवी के उपासक उसको प्रसन्न करने के लिए बलियों की बलि भी देते हैं[2]। मानकवि उन माता सरस्वती के चरणों में रहना चाहते हैं जिनकी सेवा सुर-नर-मुनि सभी सेवा करते हैं और दिन-प्रतिदिन वृद्धि एवं सुख प्रदान करने वाली है[3]।

त्रिवेणी-माहात्म्यः

२५- हिन्दू धर्मावलंबी के लिए अत्यन्त प्राचीन समय से गंगा-यमुना-सरस्वती की त्रिवेणी का महत्व रहा है। रीतिकाव्य में इन नदियों का स्वतंत्र रूप से और त्रिवेणी की उपासना स्तुति एवं पूजन के उल्लेख प्राप्त होते हैं। शिव की जटा में स्थान पाने के कारण गंगा का विशेष महत्व है। केशव की दृष्टि में गंगा केवल नदी ही नहीं है, वह आदि, अरूप का द्रव्य रूप है जो संसार को तारने के लिए तरल होकर बह निकला है। उसमें इतनी शुचिता है कि बिना विधा, तप, भक्ति के ही, केवल मात्र अवगाहन से घोर पातक का नाश हो जाता है। सेनापति के अनुसार सुरलोक को शीतल करती हुई, पृथ्वी को तृप्त कर जो धरणी-तल को भी धन्य करती है, ऐसी गंगा के गुण कौन कह सकता है। सुर-नर-मुनि तो थक ही गये हैं बृहस्पति की मति भी काम नहीं कर रही है। गंगा के समान कोई तीर्थ नहीं, उसकी समता कोई सरिता नहीं कर सकती, कृष्ण ने उसे ही विभूति कहा है। यदि गंगा इतनी महत्वपूर्ण न होती तो भगीरथ अपना राजसी ठाटबाट छोड़ कर तपस्या में अपना शरीर

---

१- म०गं० पृ० ४३७।

२- केचित् देवी शक्ति मनावैं। बीच छाग करि ताहि चढ़ावै।
सु०गं०, पृ० ९०।

३- मान - रा०वि० पृ० ।।

क्यों तपाते । गंगा राम के चरण कमलों की संगिनी है अतः गंगा का संपर्क प्राप्त कर लेने का स्वाभाविक परिणाम होता है की राम के चरणों में पहुंच जाना[1]। कवि पद्माकर ने तो गंगा की स्तुति के लिए ही अपने प्रसिद्ध काव्य गंगालहरी की रचना की । उनके अनुसार मनुष्य का तन पाकर जिसने गंगा में स्नान और गंगाजल का पान नहीं किया उसका जन्म निरर्थक है । वे अपने पाप रूपी शत्रु को गंगा की कछार तक चलने की चुनौती देते है वहां वे उसे पछाड़ कर धूलि में मिला देंगे । जहां-जहां गंगा के चरणों की धूलि उड़ जाती है वहां वहां पातक समूह नष्ट हो जाते है[2]। घनानंद अपनी वाणी से गंगा के यशोगान करने की अनुरोध करते है उस गंगा का परमपावन जल सभी प्रकार का दावाग्नियों को दूर कर देता है, वह हरि के चरण कमलों में निरत रहने वाली मति और गति प्रदान करता है । पुराणों ने उसकी कीर्ति का विशद् बखान किया है[3] । गंगा के साथ-साथ उसकी अनुजा यमुना का यशोगान किया गया है । केशवदास गंगा और यमुना की प्रशस्ति में कहते है कि गंगा जी की शोभा सातो लोकों, सातो द्वीपों और सातो रसातलों में सभी के लिए सौख्य प्रदायिनी है । इसी प्रकार यमुना का जलप्रवाह भी व्याप्त हो रह

---

१- हे० क० र० पृ० ११३, ११४, ११६ ।

२- एरे कादर मेरे पातक पचार तोहि,
गंगा की कछार में पछार छार करिहै ।।
† † †
जहां जहां मेया धूरि तेरी उड़ि जाति गंगा,
जहां तहां पापन की धूरि उड़ि जात है ।।
प०ग्रं०पृ० २५५, २५६ ।

३- प०ग्रं० पृ० ३१९ ।

है[1] । घनानंद यमुना का ही यशोगान और सौंदर्य लाभ करना चाहते हैं वे नियमतः नित्य यमुना स्नान की कामना करते हैं और यमुना को छोड़ कर कहीं नहीं जाना चाहते[2] । गंगा-यमुना और सरस्वती की त्रिवेणी का अपना विशिष्ट महत्व है । पाप समूह को काटने के लिए वह एक अत्यन्त पैनी छैनी की तरह है, स्वर्गारोहण की सीढ़ी है और सुखों को देने वाली है[3]। बिहारी की दृष्टि में भी त्रिवेणी के संगम का इतना महत्व है कि वे परमेश्वर श्रीकृष्ण और श्रीमती राधा के केलिस्थल को प्रयाग के समान बताते हैं[4] । इन पवित्र स्थानों के लिए तीर्थ यात्रा का महत्व विशेष रहा है । सेनापति के विचार से जिन लोगों के हृदय में भक्ति नहीं होती उनके शरीर तो तीर्थ यात्रा पर निकल पड़ते हैं किन्तु उनके मन तिय रूपी रथ पर सवार रहते हैं[5]।

२६- भारत की सांस्कृतिक परम्परा में गुरु का स्थान अतुलनीय गरिमा का रहा है । गुरु और गोविन्द दोनों के एक साथ खड़े होने पर महात्मा कबीर का निर्णय पहले गुरु को प्रणाम करने का रहा है जो

---

१- सात लोक सात दीप सातहु रसातल गंगा की शोभा सबही को
सुखदाई है ।
यमुना को बल रहयो कैसे त्रिवेणी प्रवाह पर केशवदास बीच बीच गिरा
की गोराई है ।।
के०ग्रं०पृ० ३१२ ।

२- घ०ग्रं० पृ० १८२ ।

३- गुसाईं रत्नावली, पृ० १८ ।

४- तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु ।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग-पग होतु प्रयागु ।। वि०र०दो०२०७ ।

५- हिये न भक्ति बातैं होत सुभ गति, तन,
तीरथ बस मन तीरथ चलत है ।।
से०क०र०पृ० १०६ ।

गोविन्द से साक्षात्कार कराने का माध्यम है। सहोपलब्धकाल में भी गुरु का स्थान यथावत् गौरवान्वित है। सुन्दरदास गुरु की शरण में जाने पर ही ज्ञान उत्पन्न होना संभव कहते हैं क्योंकि भानु के प्रकट हो जाने पर अन्धकार का अस्तित्व रह ही कैसे सकता है[1]।

२७- यह ठीक है कि भारत अनेक एवं बहुदेववादी देश रहा है। वस्तुतः हुआ कुछ ऐसा है कि हमें जिस किसी भी सप्राण या प्राणहीन वस्तु के संपर्क में आना पड़ा है हमने उससे एक प्रकार का संबंध बनाने की चेष्टा की है इसीलिए हमारे देवताओं में और हमारे पूजनीयों में राम और कृष्ण जैसे, दुर्गा, सरस्वती और राधा जैसे व्यक्ति चरित्र ही नहीं हैं अपितु वृक्ष, वन, पर्वत, सरिताएं, सिंधु, गो, सर्प आदि अनेक जीवन्त और जीवनहीन वस्तुएं सम्मिलित हैं। किन्तु इस अनेक देवत वाद के कारण ऐसा कभी नहीं हुआ कि परमात्मा की एकता और अद्वैतता पर हमारी आस्था कभी कम रही हो। एक परमतत्व की सत्ता मानकर विभिन्न रूपों कृतियों और योनियों में उसके अवतरण की कल्पना की गयी है[2]। इसलिए एकता के संयम में रह कर भी भारत की आत्मा को सहिष्णुता के उदार और व्यापक क्षितिज में पंख खोलने का अवसर मिला है। एक ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हुए हमें अन्य देवी-देवताओं के अर्चन एवं आराधन की स्वाधीनता सुलभ रही है। परमतत्व पर हमारी आस्था कभी नहीं डिगी, इस धार्मिक सहिष्णुता ने हमें कठोर धार्मिक अनुशासन और तज्जन्य गति-हीनता से बचा लिया है। हिन्दुओं के भीतर अपने अनेक कठघरे रहे हैं किन्तु इसके बावजूद भी सामान्य रूप से संकीर्णता व्याप्त नहीं हुई और

---

१- गुरु के सरने जाइहै तबही उपजै ज्ञान।
तिमिर गयो जैसे रहै होत प्रकट जब भान ।। सुं०ग्रं० १।१९।

२- तुम मीन ह्वै देवल को उबरो बू, तुमही बर कच्छप वेश धरो बू।
तुमही बन बन बाराह भयो बू, छिति छीन लई हरिनाथ हुए बू ।।
के०ग्रं० पृ० ३३६।

विजातीय-विदेशी भी उसकी सहानुभूति का पात्र बनता रहा है। हिन्दू धर्म में बाहर से कुछ आने की रोक कभी नहीं रही, अवनति एवं पतन के समय स्वयं बाहर निकल कर बच सकने की क्षमता अवश्य समाप्त हो गयी थी। बाबा हाजी बिल्कुल पीर है, सिद्ध पैसे उन्हें देर नहीं लगती, "हिन्दू-तुरुक" उन्हें समान रूप से मानते है तथा उन्हीं अपने प्रश्नों एवं समस्याओं का समाधान पूछते है और संतुष्ट होते रहते हैं[1]। सुंदरदास ने तो "हिन्दू और तुरुक" दोनों की राहें छोड़ दी है और उन्होंने एक मात्र सहज मार्ग पा लिया है जिससे ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है[2]। काव्य के क्षेत्र से और लोक मानस से भी, शिव और विष्णु के भक्तों का वैमनस्य तुलसी ने बहुत कुछ समाप्त कर दिया था किन्तु कबीर आदि के प्रयत्नों के द्वारा भी हिन्दू-मुस्लिम असहिष्णुता को दूर नहीं किया जा सका। अनेक संस्कृतियों को आत्मसात् कर लेने वाली भारतीय पुण्यधरा में इस्लाम को भी अपने प्रवाह में मिला लेने की चाह नहीं रही, इसके कारण बहुत गहरे होने चाहिए। मुसलमान अथवा इस्लाम के दीक्षा-वाहक यहां शासक होकर आये। वे अधिकांशतः अनपढ़ एवं असंस्कृत होते थे, राज्य दण्ड-शक्ति का अविवेक-सम्मत प्रयोग करना इनके लिए प्रायः सहज था। ऐसी स्थिति में शाहजहां के समय से ही मंदिर ढहाने की प्रक्रिया चल पड़ी थी और औरंगजेब में उसकी चरम परिणति हुई। उसने मंदिर ढहाकर उसके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण आरम्भ कराया।

---

१- बाबा हाजी पीर अपारा, सिद्ध पैस देहि सब न बारा।
हिन्दू तुरुक सबै कोइ आवा, निसदिन बाँचहि ईसा दावा॥
उ०चि०पु० १०।

२- हिन्दू की हदि छाड़ि के तबी तुरक की राह।
सुंदर सबही दीनिहंसा एक राह बताइ॥ सु०ग्रं०पु० २०४।

देवालयों के शंख और घंटे-घड़ियालों की ध्वनि मुसलमानों के बयान देने और नमाज पढ़ने में बाधक न हो, उन्हें रोक न दे, यह व्यवस्था करने के लिए देवालयों को ध्वस्त किया गया[1]। जबसे शाहजहां राज्यारूढ़ हुए हैं उन्होंने हिन्दुओं के तीर्थों पर कर लगा दिया है, देवालय ढहा दिये हैं, जजिया लगा दिया है और स्वेच्छापूर्वक, स्वतंत्ररूप से हिन्दुओं के विरुद्ध अनेक इस प्रकार के कार्य करते रहते हैं, सभी राजपूत पैदल चलकर सिर झुकाने के लिए पहुंचते हैं[2]।

धर्माभास:

२८- भारत जैसे धर्मपरायण और धर्मप्राण देश के लिए यह आश्चर्यजनक है कि धर्म की उसकी अपनी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है। हमारे शास्त्रों में धर्म की जो परिभाषाएं एवं व्याख्याएं उपलब्ध है, उनमें स्पष्टता और संहति का अभाव है। धर्म की बहुश्रुत परिभाषा "यतो ऽभ्युदय निः श्रेयस सिद्धिः स धर्मः" में भी वांछित सीमा-निर्धारण और स्पष्टता नहीं है। वस्तुतः भारत की सांस्कृतिक परंपरा में शास्त्रीयधर्म एवं लोकधर्म एक दूसरे के इतने निकट रहे हैं कि उनके बीच-विभाजक -रेखा खींचना कठिन है। ऋषि-मुनियों द्वारा सुचिंतित धार्मिक धारणा को जब लोक जीवन में स्वीकृति मिलती है तो उसकी वैचारिक आधार-भूमि दूर रह जाती है और जनसाधारण उसे एक धार्मिक कृत्य के रूप में अपना लेता है। परिस्थितियां उन कृत्यों की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि विलुप्त हो जाती है और एक धार्मिक औपचारिक विधान-मात्र शेष

---

१- ऊंची धुजा देवालन रावै, घंटा संख झालरै बावै ।।
छापै देय तिलक दे ठाड़े, माला धरे रक्त मन गाढ़े ।।
ऐसा हुक्म धरे का नाहीं, क्यों ए करै चित्त की चाही ।।
जो कहु कान संख धुनि जावै, मुसलमान तो भित्त न पावै ।।
सीखा कोटि कान जो नावै, तो दीवस से खुदा बचावै ।।
तातै डारि देवालय दीवै, तिनके ठौर मस्जिदें कीवै ।।सा०ब०पु०पृ०८२ ।

२- साह- ब०पु०, पृ० ७८ ।

रह जाता है। यदि अपकर्ष की यह प्रक्रिया निरंतर चलती रही तो धर्म न रह कर केवल धर्माभास शेष रहता है। विनय और सौम्यता के नाम पर दंभ और औद्धत्य आ जाता है और पाखंड, सचाई का स्थान ले लेता है। आलोच्यकाल में यह विडम्बना और भी अधिक है क्योंकि कई अर्थों में यह हमारे "सांस्कृतिक पराभव की प्रतिक्रिया" का युग कहा गया है। काशी, जिसे परम्परा से पुण्य नगरी होने का गौरव प्राप्त रहा है पाखंडियों और विधर्मियों की क्रीड़ाभूमि बनती जा रही थी। विज्ञान गीता में महामोह यह दावा करता है कि दण्डी, मुंडी, यती और ब्रह्मचारी का वेश लोग अवश्य बनाते हैं किन्तु इन पाखंडियों और धर्म विरोधियों का वेदविद्या आदि के अध्ययन से कोई प्रयोजन नहीं। महामोह के पाश में आबद्ध ये कलियुगी जन प्रति-दिन सुरापान कर वारांगनाओं का सेवन करते हैं। चोरी और व्यभिचार का बोलबाला है। इस प्रकार काशी में दिनरात महामोह के ही दूत विहार कर रहे हैं[१]। कवि रसिक गोविंद को भी यह वेदना होती है कि अब भले का जमाना नहीं रहा धर्म का स्थान अधर्म ने ले लिया है। क्षमा, दया, सत्य, शील, संतोष आदि सभी लक्षण तिरोहित हो गये हैं। काम, क्रोध, लोभ मोह, मद आदि का आधिपत्य है। चोर ठग वंचक और असाधु सर्वत्र-सर्वत्र व्याप्त हैं। ऐसे अधर्म के राज्य में साधुजन अपने अस्तित्व की

---

१- तहां लोग मेरे रहे वेशधारी। बटी खण्ड मुण्डी यती ब्रह्मचारी।
पढ़े शास्त्र को वेद विद्याविरोधी महाखण्ड पाखण्ड धर्मों विरोधी।
मारति राह उछाहीन सो पुरयाछ पाह अन्हात उचरी।
बारविलासिनि सो मिल पीवत मद्य अनीदिक के प्रति धारै।
चोरी करै विभिचार करै पुनि केवल वस्तु विचार विचारै।
बो निसिवासर काशी पुरी मंह मेरेइ लोग अनेक विहारै।

के० वि० गी० पृ० ४६

नहीं प्रकट करते । हे गोविन्द । इस कठिन कराल कलिकाल के अवसर पर आप ही कृपा करके सहायक हों[1] । कलिकाल आ जाने के कारण लोग दंभपूर्वक स्नान-दान-पूजन आदि करते है । द्विज आदि उच्चवर्ण के लोग शूद्रों की तरह रहते, आचरण करते है स्त्रियां पतियों को छोड़ कर उपपतियों के पास जाती है[2] । यह कथा है आठवें वर्ष अनेकानेक प्रयत्नों के बाद बालक का जन्म होने पर उसे पुजारी के चरणों में डाल कर यह कहा गया- यह बालक तुम्हारे चरणों में है" यह सुनकर पुजारी ने मौनधारण किया और कपटपूर्वक मिथ्या ध्यान लगया और एक घड़ी व्यतीत होने पर यह कहा कि मुझे "विनवर" के यक्ष का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ है[3] । यह कथा अपने साथ में धर्म की ठोस आधार भूमि के स्थान पर धर्माभासी प्रत्ययों के आगमन की सूचक है ।

---

१- मुलक रमानो नहिं भले को बमानो नहिं ।
धरम को पानो अधरम मे उठायो है ।
क्षमा दया सत्य शील संतोषादि दूर दुरे ।
काम, क्रोध लोभ मोह मद सरसायो है ।
चोर ठग अधिक असाधु भये ठौर ठौर ।
साधनि मे ऐसे में अपनपो छिपायो है ।
कीजिये सहाय वु कृपाल श्री गोविंदलाल ।
कठिन कराल कलि काल चाही आयो है ।
रसिक गोविंद-कलियुग राखो ।

२- देव सौं, नर करत पूजन स्नानदान विधान ।
विष्णु छांड़त शक्ति भूषण पूजनीय प्रधान ।।
शूद्र ज्यों सब रहत है द्विज धर्म काज कराज ।
नारी वारनि हीन भर्तनि छोड़ि के इहि काल ।।
के० वि० गी० पृ० ७० ।

३- ब० व० क० पृ० ११ ।

पाखंडी साधुओं की संख्या इतनी हो गयी रही होगी कि बिहारी को कपटी मन के वृथा नाचने और वप माला और तिलक से कोई काम सिद्ध न होने तथा राम के सत्यप्रिय होने की घोषणा करनी पड़ी[1] । भक्त रसिक भी कहते है कि साधु का झूठा वेश बनाने वाले से हरि के मन में वेदना होती है । ये पाखंडी ऐसे हैं जो स्वप्न में भी परमार्थ का चिंतनशील नहीं करते । पैसे के ही लिए कहीं वक्ता बन जाते है, कहीं भागवत् कथा का उल्टा-सीधा अर्थ करते हुए पैसे के पीछे दौड़ लगाते है[2] । शाक्यकार्य साधु का करुणा के मुख से वर्णन कराते हुए केशवदास ने उसका जो चित्र खींचा है वह भी पाखण्ड और विद्रूपता का मनोज्ञा उदाहरण है । उसके अंग मल-पंक से अंकित है, केश सिर से उखाड़ लिये गये है, हाथ नग्न है, वह भयावने नरक के कीच की भांति चला कर आता शावक दूर से ही पहचान में आ जाता है[3] । स्थिति इतनी विकराल हो गयी प्रतीत होती है कि बाण ने दगाबाज की निशानी ही सहजा चन्दन और मधुर बानी को बताया है[4] । योगी संसार को छलते फिरते है इस लिए योगियों पर किसी को विश्वास न करना चाहिए और न उन्हें अपने पास बैठाना चाहिए । दान देना भारतीय गृहस्थ का पुनीत कर्त्तव्य है अतः भिक्षा हेतु आने पर उसे भिक्षा तो दे देनी चाहिए पर अविश्वसनीय होने के कारण उसे द्वार पर नहीं बैठने देना चाहिए । केशव के कापालिक का चित्र तो और भी भयंकर है, उसके गले में नरमुंड की माला है, उसने मदिरा मिश्रित नर शोणित का

---

१- बपमाला, छापै, तिलक सो न एको कामु ।
मन-काचे नाचे वृथा साचे राचे रामु ।।
वि० र० दो० १४१

२- वेसधारी हरि के उर सालै ।
परमारथ सपने नहिं बानत पैसन ही को हालै ।
कबहुक वक्ता है बैठे कथा भागवत बाचि ।
अर्थ अनर्थ कबहु नहिं भाखै पैसन ही को चाचै ।-भक्तरसिक-पृ० मा०सा० पृ० २३१

३- के० वि० गी० पृ० ७५

४- सहजा चन्दन मधुरी बानी । दगाबाज की यहै निसानी ।
बाण भ० पृ० १०४ ।

पान किया है, वह वेद मिश्रित मांस का अग्नि में हवन करता है[1] । कवि सेनापति ने भी "केलि के गोसाईं" की संज्ञा के समान बताया है । ये वैष्णव वेश रख कर भक्तों की कमाई खाते हैं, उन्हें सत्य छू तक नहीं गया है, ये गीत सुनाकर तिलक फबकाकर, द्वारिकापुरी जाते ही भक्तों को छलना लेते हैं, ये अपने स्वामी विष्णु की सेवा नहीं करते, इनकी वेश-भूषा देखकर गर्दन झुक जाती है, अपने आडंबर द्वारा लोगों को मोहित कर उनका सब कुछ ले लेते हैं और मन में धन का ही ध्यान करते हैं[2] ।

विश्वास:

२०- हमारे विश्वासों में पुनर्जन्म कर्मफलवाद और भाग्यवाद का स्थान प्रमुख है । वस्तुतः ये मान्यताएं एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप में संबद्ध हैं और बहुत कुछ एक दूसरे की सहज परिणामस्वरूप हैं । हिन्दू विश्वासों के अनुसार जीव ईश्वर का अंश है और अविनाशी है । जीव अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों में अवतरित होता रहता है । इन योनियों की संख्या चौरासी लाख मानी गयी है । मानसोल्लास में भी इन भूतभूत विश्वासों को अभिव्यक्ति मिली है । जीव शूकर, श्वान, काग, कीट, पतंग, भूत, पिशाच, निशाचर एवं राक्षस आदि अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ अपने कर्मफलानुसार अन्त में प्राणधारियों में श्रेष्ठ मानव जीवन को प्राप्त करता है[3]। पुनर्जन्म के साथ परलोक के अस्तित्व का विश्वास भी जुड़ा हुआ है । कवि, सूदन को इस बात का विश्वास है कि उनका और

---

१- वेदमिश्रित मांस होमत अग्नि में बहु भांति सो ।
शुद्ध कृष्ण कपाल शोणित को पियो दिन राति सो ।
विप्र बाल बाल है बलि देत हो न हिंसी लखो ।
देव सिद्ध प्रसिद्ध कल्पनि सो रम्यो अस भाव सो ।।
के० चि०गी०पु० ७७ ।

२- से० क० र० पु० १५ ।

३- सु० मु० पु० १।३२९ ।

उनकी प्रियतमा का स्नेह संबंध मनोज्ञ और अविनाशी है, इसलिए उन्हें परलोक में भी अपनी प्यारी से मिलन की आशा है[1]। सहजो बाई ने तो कर्मफलानुसार पुनर्जन्म की एक तालिका ही प्रस्तुत करदी है। उनके अनुसार जिस व्यक्ति के मन में घर द्वार की लगन लगी होगी वह दूसरे जन्म में "कूस" होता है। जिसके मन में वासना का अस्तित्व होता है उसे नाग योनि प्राप्त होती है। कामिनी की कामना रखने वाले व्यक्ति को कोढ़ी कुत्ते का शरीर मिलता है और जिस स्त्री को पुरुष की चाह रहती है उसे कुतिया का जीवन-जन्म ग्रहण करना पड़ता है। जिसकी वासना रावदार के प्रति होती है उसे सूकर योनि और नीच घर का वास प्राप्त होता है। पिपासु को मत्स्य योनि प्राप्त होती है इस प्रकार सभी वासनाओं का त्याग करने पर ही उत्तम जीव-योनि प्राप्त हो सकती है[2]। सहजो बाई ने चौरासी लाख योनियों के विभाजन भी बताए हैं, इनमें नौ लाख वृक्ष के जीव है, दस लाख पक्षी है, ग्यारह लाख कृमि कीट है, बीस लाख स्थावर जीवों का विस्तार है, पशु योनियों की संख्या तीस लाख और मनुष्य योनि

---

१- मिलन हमारी फिर ह्वै है परलोक प्यारी
मन तैं न न्यारी प्रेम-पंथ पग दीनो है ।।
सू०सु०व०पृ० १४७ ।

२- बाकी रही वास मंदिर में होकर कूस बसै सो घर में ।
रहै वासना हृदय मंझारा बनमें नाग होइ फुफकारा ।।
रहै वासना तिरिया मांही कोढ़ी स्वान की तनु जाही ।।
रहे वासना तिय को घर की कुतिया होय दूसरे घर की ।।
सूकर जन्म नीच घर वासा जाकर मन रहै राव दुआरा ।
रहै वासना नीर पियासी मीनदेह कर बल की वासी ।।
चरण दास गुरु मोहिं बताई, तबी वासना सहजोबाई ।।
सहजो०व०पु० पृ० ४४ ।

की संख्या चार लाख है[1] । कर्मानुसार जीव को इन विभिन्न योनियों में तो जाना ही पड़ता है, दुष्कर्मों के लिए अनेक प्रकार के दण्ड विधान और सत्कार्यों के लिए पुरस्कार की व्यवस्था भी है । दुष्कर्मों के फलस्वरूप अनेक व्यक्तियों के मुख में सांप लगा दिये जाते हैं, बहुत से पापियों को अग्नि में तपाया जाता है, किसी के पांव ऊपर और सिर नीचे करके टांग दिया जाता है, किसी को तेल के कड़ाहे में झोंक दिया जाता है, बहुतों को कुंड में डाल दिया जाता है और कौए उन पर चोंच मारते हैं[2]। कर्म-फलवाद और भाग्यवाद को सिद्धान्ततः तो नहीं पर व्यवहार में प्रायः विरोधी समझा जाता रहा है । वस्तुतः ऐसा है नहीं । जब हम यह कहते हैं कि जो भी भाग्य में होगा वही मिलेगा और उसके अतिरिक्त कुछ नहीं मिलेगा तो उसमें यह भी अन्तर्निहित होता है कि हमारे भाग्य का निर्माण हमारे पूर्व कर्मों के द्वारा हुआ है । चूंकि हमने जो पूर्व कर्म किये हैं उनका फल वर्तमान में मिल रहा है, वर्तमान जीवन में किये कर्मों का फल स्व-भावतः अगले जन्म में मिलेगा । भाग्यवादी पर अकर्मण्य होने का दोष लगाया जाता है किन्तु भाग्यवादी दर्शन को यदि कर्मफलवाद का आधार दिया जाय तो उसका यह अभाव दूर हो जाता है । राजा और ब्राह्मण को मारने का परिणाम भी बुरा होता है, क्योंकि राजा को मारने से स्वार्थ का हनन होता है और शिव की हत्या से परमार्थ नष्ट हो जाता है[3]।

---

१- नव लख वस के जीव बताए पक्षी बात कही खुल गाढ़ा ।
ग्यारह लाख कृमि कीट लखाए बीस लाख थावर विस्तारा ।
तीस लाख पशु योनि बुनावा चारहु लाख मनुष्यादेही ।।
सक्सो० स०प्र० पृ० ६३ ।

२- सक्सो- स०प्र० पृ० ६९ ।

३- गैया, राजा, बाम्हन मारे यह फल होय ।
स्वारथ, परमारथ मिटे पुरा कहे सब कोय ।।
के०ग्र०पृ० ६२८ ।

उस्मान की नायिका चित्रावली अपने प्रियतम का दर्शन पाकर यह सोचती है कि पिछले जन्म में उसने ऐसा कौन - सा तप किया था जिसका सुफल उसे इस रूप में देखने को मिल रहा है[1]।

भाग्यवादी जीवन-दृष्टि:

३१- रीतिकालीन काव्य में भाग्यवादी दर्शन के भी प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। केशवदास कहते हैं कि कर्म का लिखा कदापि नहीं मिट सकता वह चाहे राजा के संदर्भ में हो अथवा प्रजा के[2]। सेनापति भी यह मानते हैं कि कोई कितना ही प्रयत्न क्यों न करे भाग्य-विधि को अन्यथा नहीं किया जा सकता। जो भी भाग्य में लिखा है वही प्राप्त होगा[3]। रानी ने चित्रसारी में चित्रावली के प्रियतम का चित्र देखकर लोकनिंदा के भय से उसे यह ज्ञात नहीं था कि विधि का लिखा कोई नहीं मिटा सकता। चित्रावली का संयोग एवं आकर्षण तो एक पूर्वनिश्चित भाग्य-घटना के परिणाम थे और केवल चित्र मिटाकर उन्हें मिथ्या नहीं किया जा सकता[4]। गिरधर

---

१- भवो भाग्य मग दाहिन बाजू, जेहि विधि दीन आनि यह साजू।
के वहि जन्म पुन्य कछु कीना, तेहि परसाद दरस इन्ह दीना॥
उ०चि०पृ० ३३।

२- लिख्यो कर्म को मेट न जाय। कहं राजा कहं रंक कहाय॥
के०वी०च०पृ० २४।

३- जेती करौ कोई, जैसे काम लिख्योई, तातै,
दूसरी न होई, उर सोई ठहराइये॥
से०क०र०पृ० १०७।

४- मेटि चित्र रानी चली, हिए दुंद दुख बोइ।
एतन न जाना विधि लिखा, मेटि सके नहीं कोइ॥
उ०चि०पृ० ५२।

कवि के अनुसार जीवन, मरण एवं उपभोग-ये अपने हाथ नहीं हैं। जीतों, जीतने वाला अन्य किसी से पराजित होने का भय नहीं रहता, हार तो वस्तुतः होनहार से ही होती है[1]। कवि सूदन के अनुसार वेद-पुराणों का मंथन करने के पश्चात् गीता ने भी यह बताया गया है कि अनहोनी कभी होती नहीं और होनहार कभी टलता नहीं[2]। इस मनुष्य योनि का सुफल यही है कि निश्छल भाव से भगवान श्रीराम का भजन किया जाय क्योंकि भावी बिना प्रयास के भी होगी ही और अनहोनी कोटि उपाय करने पर भी घटित नहीं होगी। ब्रह्मा ने मस्तक पर जो भाग्य रेखा अंकित कर दी है वह किसी भी प्रयास से घटायी बढ़ायी नहीं जा सकती[3]।

३९- कर्म-फल पर विश्वास के कारण हिन्दू को सत्कर्म और पुण्य कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। पुण्यश्लोक चरित्रों, पुनीत स्थानों के प्रति उसके मन में आस्था जगती है और भावी जीवन को सुखमय बनाने के

---

१- जियबो मरिबो भोगनो यह नहिं अपने हाथ।
जानत है वह नंद सुत विहरत बछरून साथ॥
गिरधर-सा०र०पृ० ८७।

२- खेल से न हारे पुनि दानो से न हारे वीर।
काहू से न हारे एक हारे होनहार से।
भूधर - सा०र०पृ० २७४।

३- गीताहू में यों कह्यो वेद पुरानन टोहि।
अनहोनी होनी नहीं होनी होइ सु होहि॥
सू०सुं०क०पृ० १४५।

४- ह्वै रहै होनी प्रयास बिना अनहोनी न ह्वै सकै कोटि उपाई।
जो विधि भाल में लीक लिखी सुबड़ाई बड़े न घटै न घटाई॥
प०गृ० पृ० २४६।

लिए वह कृपण की भाँति पुण्य संचय में लग जाता है। तीर्थों में उसे अटूट विश्वास हो जाता है, मन में अगाध श्रद्धा उपजती है। वीर सिंह देव जू प्रयाग के दर्शन कर जीवन का परमफल प्राप्त कर लेते हैं। उसके दर्शन-मात्र से सभी गत-कल्मष धुल जाते हैं और उसके पुनीतपय में अवगाहन करने से सभी सांप्रतिक पापों का शमन हो जाता है। वीरसिंह देव ने आचमन किया और पवित्र होकर गंगा के समीप पहुँचे। कुशमुण्डिका एवं नारिकेल के साथ स्वर्णदान किया जिसे उदार भागीरथी ने स्वीकार किया[1]। उसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की धार्मिक क्रियाओं के प्रतिपादन उचित होती है। फलतः मन एवं मस्तिष्क पवित्र और शुद्ध होते हैं। कोई स्नान आदि करके होम करता और षोडश दान देता है, तो कोई समाधि लगाये है, कोई विभिन्न प्रकार से पूजन अर्चन करता है। एक बछड़े के सहित गाय का दान देता है तो दूसरा अन्य उपादानों का सहारा लेता है[2]। इसके साथ ही विभिन्न प्रकार के व्रतों और उपवासों एवं कर्म-काण्डों पर भी लोगों की आस्था है। इनका चलन चाहे स्थूल रूप में ही रहा हो किंतु या बहुत व्यापक रूप में। संभवतः तभी सुंदरदास को पाखण्ड के रूप में इनका निषेध करने की आवश्यकता समझ पड़ी[3]।

ज्योतिष:

३३- ज्योतिष विज्ञान ग्रहों के योग एवं नक्षत्रादि के अध्ययन पर आधारित है। भारतीय जीवन में ज्योतिष का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण

---

१- जब प्रयाग की दरसन भयो। जीवन जनम सुफल करि लयो।
देखत पाप हरै प्राचीन। परसत छरित न देह नवीन॥
करि: आचमन परम सुचि भये। वीरसिंह गंगा पंह गये॥
के०वी०च०पृ० ७२, ७४।

२- के०वी०च०पृ० ४, ५।

३- सुं० ग्रं० पृ० ३०४।

रहा है। आस्थावान हिन्दू के जीवन का हर कार्य इसके विधि-विधानों से नियन्त्रित होता ही रहा है, मुस्लिम शासकों एवं सामान्य वर्ग में भी ज्योतिष के प्रति विश्वास बढ़ने लगा था और ये भी युद्ध प्रयाण, शिकार एवं अन्य महत्वपूर्ण अवसरों पर ज्योतिषियों के विधानों का पालन करते थे। गृहों और नक्षत्रों की गतिविधि के संबंध में कवियों को ज्ञान होने के उदाहरण सुलभ हैं। केशव, सेनापति, बिहारी आदि सभी में इसके प्रमाण मिल जायेंगे। शीतकाल में शीत के त्रास से त्रस्त सूर्यदेव धनराशि में चले जाते हैं[1]। बिहारी ने नारी की शरीर यष्टि की कल्पना में अनेक स्थलों पर ज्योतिषज्ञान के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। शनि-रूपी कल्पवृक्ष से चक्र भक्र रूपी मुख में लग्न होने के कारण सुदिन उपस्थित हो गया है[2]। किसी सुंदरी में आनन की शुभ्र आभा इतनी अधिक प्रखर है कि उसके पास-पड़ोस में तिथि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पंचांग की अपेक्षा होगी[3]। रमणी के मंगलरूपी बिंदु, शशि-मुख, केसर-रूपी बृहस्पति इन सबने मिलकर कामदेव का ऐसा सुयोग उपस्थित कर दिया है कि उसके फल स्वरूप सारा संसार रसमय हो रहा है[4]। ज्योतिष पर विश्वास होने के कारण हर महत्वपूर्ण कार्य की आयोजना शुभ मुहूर्त में की जाती है चाहे विवाह हो, विरागमन हो या भूमि-पापी निर्माण। यात्रा, युद्ध, संधि आदि सभी महत्वपूर्ण कार्य मुहूर्त शोधन और शुभ

---

१- बीर की कहा है, कविता हू सीत ऋतु जानि,
सीत को सतायो धन राशि मैं परत है।
से० क० र० पृ० ६९

२- सनि-कल्पतरु, चक्र-भक्र-मुख, उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यौं न नृपति है भोगवै, लहि सुदेसु सब देहु।
बि० र० दो० ५

३- बि० र० दो० ७१

४- मंगल बिंदु सुरंगु मुख ससि, केसरि-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत॥
बि० र० दो० ४२

और पान खाने के लिए कहते हैं[1] । ज्योतिष के साथ हस्तसामुद्रिक शास्त्र पर भी विश्वास किया जाता है[2] ।

शकुन-अपशकुन-

३४- ज्योतिष और हस्त सामुद्रिक शास्त्र से कहीं अधिक शकुनापशकुन पर विश्वास किया जाता था और काव्य में इसके उल्लेख भी अपेक्षाकृत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है । विशेष कार्यों के लिए विशेष दिनों को शुभ माना जाता था । घाघ-भड्डरी वस्त्र धारण के लिए बुधवार बृहस्पतिवार तथा शुक्रवार को अधिक शुभ समझते है और अधिक आवश्यकता होने पर रविवार को कपड़ा पहनने की अनुमति देते है[3] । यात्रा पर निकलते समय सूर्योदय शुभ समझा जाता था । तोरामल के पुर में बैठते ही सूर्योदय होने पर केशवदास कहते है कि ऐसा शकुन कभी और किसी के साथ नहीं हुआ[4] । घाघभड्डरी यह बताते है कि यदि चलते समय नेवला दिखायी पड़ जाय या बायीं ओर नीलकंठ दिखायी पड़े या दाहिनी ओर कौवा हो तो सभी मनोरथ सफल होते है[5] । यदि सुहागिन नारी जल से भरा घड़ा लिये मिले, दही, मछली सामने पड़े या गाय बछड़े को दूध पिला रही हो तो ये सगुन सबसे अच्छे होते है । इसी प्रकार लोमड़ी के बार-बार दिखायी पड़ने पर या मृग के बायीं ओर से दाहिनी ओर जाने पर शुभ होता है और सभी कार्यों

---

१- बायो बैठ बायो पानी पियो पान खायो फेरि,
होय के सुचित नैक गणित विचारो तो ।।
ठाकुर० रो० गुं० पृ० २०२ ।

२- सफल घरी है भाव करतु जानिय यह मन हरष ।
बाजन को बुलराव इनके कर है है सिल्पी ।।
बुधवासीदास० शि० से० पृ० ७७

३- घा० भ० पृ० ६३
४- के० की० २।२४८
५- घा० भ० १४ ।

की सिद्धि होती है[1] । स्त्री के बाँयें अंगों का फड़कना अच्छा माना जाता है । रसलीन की नायिका बायें नेत्र के फड़कने से आनंद मग्न हो जाती है और आनंद की तरंग में सूर्य के प्रकाश की भाँति मीलित-उन्मीलित होती रहती है[2] । कौवे का बोलना, यदि कभी किसी के आने की संभावना हो तो उसके आगमन का सूचक अतएव शुभ माना जाता है । रीति काव्य की नायिकाएं अत्यन्त रसवती होती थीं । वे दिन का अधिकांश समय और जीवन का अधिकांश भाग प्रियतम के सम्मिलन की आशा, प्रियतम के सम्मिलन अथवा प्रियतम के वियोग में बिताती थीं । इसलिए काकशकुन के संदर्भ रीति काव्य में भरे पड़े है । कौवा जैसा उपेक्षित और अवांछनीय पक्षी इस विश्वास के कारण कितना मधुर बन गया है यह दर्शनीय है । नायिका गृहस्वामिनी होती है, भोजन और गृह नियमन की व्यवस्था उसके हाथ होती है । उसे प्रसन्न करने पर इस चिर उपेक्षित पक्षी को विविध प्रकार के पकवान, दधिभक्त और इन सबसे ऊपर नायिका का मधुर स्नेह प्राप्त होता है । भिखारी-दास की नायिका प्रियतम का दर्शन लाभ होने की स्थिति में कौवे से यह वायदा करती है कि सोने के कटोरे में खीर, खांड भर कर सुबह ही

---

१- नारि सुहागिनि बस घट बायें, दधि मछली को सम्मुख आवै ।
सम्मुख धेनु पियावै बच्छा, रहै सकुन इ सबसे अच्छा ।।
लौटड़ फिरि-फिर दरस दिखावै बाएं से दहिने मुख आवै ।
भड्डर रिषि यह सगुन बतावै बिगरे कार्य सिद्ध है आवै ।

भा० भ० पु० ११,१२

नागरि नवेली रूप आगरि अकेली रीती
आगरी है ठाढ़ी भई बात ही के घाट मैं ।

म० ग्रं० ११७

२- बाम नैन फरकत भयो बायस आनंद आइ ।
छिन उघरति छिन मुंदति है बालक घूम सुभाइ ।।
रसलीन -दो० पृ १६१ ।

दीन० ग्रं० पु० २८९

उसके लिए अटारी पर रख देगी और अपने हार से मोती निकाल कर, आभूषण बना कर उसके कंठ को सुशोभित करेगी । वह यदि कौवे के शकुन निर्देश के परिणामस्वरूप प्रियतम का दर्शन पा जायेगी तो कौवे पर अपना सर्वस्व-तनमन-धन, न्योछावर कर देगी[1] । तोष की नायिका भी क्यों पीछे रहे- उसका वायदा और भी मधुर है । वह उसके लिए पैजनी गढ़ायेगी, उसकी चोंच सोने से मढ़ा देगी, अटारी पर कंचन कटोरे में भरकर खीर रख जायेगी और इतना ही क्यों- वह तो यह भी करेगी, वस्तुतः उसका दृष्टिकोण बड़ा ही मनोवैज्ञानिक है, कहीं कौवे का यह संदेह न हो जाय कि प्रियतम के आगमन के आनन्दातिरेक में वह अपने वचन को भूल जायेगी इसलिए वह अपने उपकारी कौवे को विश्वास दिलाती है कि प्रियतम का आलिंगन बाद में करेगी, कौवे के प्रति अपने कर्तव्य और वचन का पालन पहले करेगी[2] ।

३५- घाघ भड्डरी ने यात्रा के समय तिथि-वार आदि का चिंतन उतना आवश्यक नहीं माना है जितना उन तिथि-वारों को यात्रा करते समय बतायी गयी विधि के संपादन को । वे रविवार को बील,

---

१- कंचन कटोरे खीर बाढ भरि-भरि तेरे,
हेत उठि भोर ही अटान पर वारिहौं ।
आपने ही हार ते निकारि नीको मोती, कंठ
भूषन सवारि नीकौं तेरे गल डारिहौं ।
एरे कारे काग । तेरे सगुन-सुभाय आज
जो मैं इन आंखियन प्रीतम निहारिहौं
और प्रान प्यारे पै निछावरि करौंगी मैं,
है तन मन धन प्रान तोहि पर वारिहौं ।
बि० गं० १।२२

२- — करती करार तीन पहिले करौगी सब,
आपने पिया को फिरि पीछे अंक भरिहौं ।।
तोष० री० गं० पृ० १७१

सोमवार को सोलह, मंगलवार को पंद्रह, बुधवार को चौदह, वृहस्पतिवार को तेरह और शुक्र तथा शनिवार को बारह अंगुल लकड़ी गाड़ने के लिए बताते हैं। जो कोई इतनी व्यवस्था करके चलेगा उसका तांबा भी सोना बन जायेगा। भद्रा एवं शूल के सारे प्रभाव समाप्त हो जायेंगे। इसी प्रकार पूर्व दिशा में जाना हो तो गोधूलि बेला में, पश्चिम के लिए प्रातः काल और उत्तर व दक्षिण के लिए क्रमशः दोपहर और रात्रि उपयुक्त है[1]। यदि किसी शुभ कार्य का आरंभ करना हो तो रविवार के दिन पान का दान देने, सोमवार को दर्पण, मौमवार को धनिया व गुण, बुधवार को मिठाई, गुरुवार को राई, शुक्रवार को दही और शनिवार को मालविरंगी सेवन करने पर कार्य अवश्य ही सिद्ध होता है[2]। साथ ही यात्रा यदि आत्यंतिक हो और शुभ मुहूर्त न बन रहा हो तो उसके लिए प्रस्थान रखने की व्यवस्था है। रविवार को चमार के घर, सोमवार को नाई के यहां, मंगल को काछी के घर बुध को धोबी, गुरुवार को ब्राह्मण, शुक्रवार को वैश्य और शनिवार को बेरया के यहां प्रस्थान रखना चाहिए[3]। घाघ भड्डरी का संपूर्ण काव्य लोक-जीवन से अविच्छिन्न रूप से संबंद्ध है, इसलिए उसमें लोक जीवन के विश्वासों की वाणी मिली है और उनकी निराधार मान्यताओं को भी मुखरित होने का अवसर मिला है। बुद्धि जीवियों के लिए जो निरर्थक है उसे ही यहां सार्थकता प्राप्त हुई है। छिपकली के गिरने से क्या-क्या परिणाम होते हैं वे भी घाघ-भड्डरी की दृष्टि से ओझल नहीं रह सके। छिपकली सिरपर गिरे तो राजसुख मिलता है। कंठ पर गिरने से प्रियतम के सुख की प्राप्ति होती है, कंधे पर गिरने से विजय, भुजा बाहुओं पर एवं दोनों

---

१- घाघ- भ० पृ० १२

२- रवि तांबूल सोम को दर्पण भौमवार धनिया गुड़ चर्वन ।
बुध मिठाई बीफै राई, गुरु कहे मोहि दही सोहाई ।
सनी भाव विरंगी भावै, ई नौ बीत पुत्र घर आवै ।।
घाघ-भ० पृ० ११

३- घाघ० भा० पृ० ११

कानों पर गिरने से धन लाभ होता है। हाथ पर गिरे तो घर संपत्ति से भर देती है, पीठ पर गिरने से सुख मिलता है, कोख पर गिरने के फलस्वरूप बंधु-बांधवों से मिलन होता है, कटिपर गिरने से बहुमूल्य वस्त्र की प्राप्ति होती है, गुदा पर गिरने से अच्छा मित्र मिलता है और जांघ पर गिरने से मनुष्य नीरोग होता है[1]।

३६- शकुनों एवं शुभ लक्षणों के साथ साथ, अपशकुनों और अशुभ लक्षणों की सूचना भी मिलती है। दाहिने और गधा, सम्पुख चील, और बायीं ओर कौवे का बोलना अशुभ समझा जाता है। दिन को उल्लू का बोलना अमंगल कारक है। श्वान और स्यारों का रुदन, गीधों का मंडराना अत्यन्त अमंगल सूचक माना जाता है[2]। सूदन ने घोड़े पर सवार होते समय उसके नेत्रों से आंसू गिरने, तंग टूटने, कंक, बायस, उलूक, गिद्ध आदि के बोलने और मंडराने को अघटित के घटने का सूचक बताया है[3]। बाघ भड्डरी के अनुसार यात्रारंभ के समय यदि पांच भैंसे, छः कुत्ते, एक बैल, एक बकरा या तीन गायें अथवा लाल

---

१- घाघ-भड्डरी -पृ० ९०

२- बरजगुन लखि सब कहै, यह कालिका को कोप है।
दहिने खर चीलह सन्मुख, बाम क बोलुवो काग है।
अरु गई काटि गखि बिलौं, चित राऊ रोवत राग है।
दिन कटक मांझ उलूक बोलत, लूक छूटत राग है।
कहुं स्यार बोलत सुरनि सौं, कहुं स्यार गन फिरकात है।
मड़रात गिद्ध पर गीध गन, यौं बड़ो उत्पात है॥
श्रीधर-जंगनामा- पृ० ३१

३- सू० सु० च० पृ० १७।

हाथी मिले तो यात्रा स्थगित कर देनी चाहिए क्योंकि यह शुभ लक्षण नहीं है और किसी अनिष्ट की संभावना है। यदि कुत्ता अपने अंगों को तोड़मरोड़ रहा है, उनपर प्रहार कर रहा हो अथवा भूमि पर लोट रहा हो तो इसे अपने इष्ट की असफलता का सूचक समझना चाहिए[1]।

चौथ का चांद देखने से कलंक लगता है। पद्माकर की नायिका ने नायक को अंक से नहीं लगाया, किंतु उसने भादों सुदी चौथ का चांद देख लिया है इसलिए उसे झूठा कलंक सुनना पड़ रहा है[2]। ब्रज की गलियों में कहीं कलंक न लग जाय, यह आशंका चौथ का चांद देखते ही सुंदरी के हृदय में घर कर जाती है[3]। यदि किसी विशेष दिन कोई त्यौहार पड़ जाता है, तो उसके परिणाम अनिष्टकारक होते हैं। फागुन मंगल को पड़ने पर भूचाल, बुध को पड़ने पर अकाल, का पूर्वाभास होता है। मंगलवार को दीवाली पड़ने से हत्या अधिक होती है, किसान प्रसन्न होता है और व्यापारी रुदन करता है[4]। सुबह चरित में लड़ते हुए सितारों का सामने आ जाना अशुभ समझा गया है। भूगाल रोये, धोबी ने बिना धुले वस्त्र लाकर दिये, उल्लू आकर घर पर बैठ गये, चलते हुए अश्व अकस्मात् रुक गये, महावत का अंकुश गिर गया। रण के लिए जाते समय ये अमंगलसूचक घटनाएं घटी[5]। कहीं-कहीं चलते समय एक छींक को भी अपशकुन समझा जाता है। छींक का परिणाम बताते हुए घाघ भड्डरी का कथन है कि सामने की छींक

---

१- सू०-सु०-व०-पृ० घा० भ० पृ० १२,१६।

२- भादौ सुदी चौथ को लख्यो मैं मृगांक जातें।
झूठहू कलंक मोहि लागिबो बड़ो है।। प० ग्रं० पृ० ९९

३- लगै न कहुं ब्रजमहिन में आवत जात कलंक।
निरखि चौथ को चांद यह सोच सुमुखि सशंक।।
प० ग्रं० पृ० १८२

४- मंगल पड़े तो भू चले बुध के पड़े अकाल।
फागुन होय सनिचरा गिपटे परे अकाल।।
मंगल को जो परै दिवारी। छै किसान रोवै व्यापारी।।
घा० भ० पृ० ८४

बढ़ाई की सूचना देती है, पीठ पीछे की छींक सुख के आगमन की सूचक है दाहिनी ओर की छींक धन का नाश करती है, बायीं ओर की छींक सदैव सुखविधायिनी होती है। इसी प्रकार नीची छींक होने पर महान् दुख और ऊंची छींक होनपर महान् सुख होता है। अपनी छींक विशेष रूप से दुखदायी होती है। राम अपनी ही छींक से बन गये थे, सीता का तत्काल हरण हुआ था[1]। नायक-नायिका छींक के अपशकुन माने जाने का लाभ उठाते हैं और इसका प्रयोग अवसरानुकूल एक दूसरे की यात्रा स्थगित कराने के लिए भी करते हैं। नायक चलने वाला था तभी किसी ने छींक दिया, नायक का जाना थोड़ी देर के लिए रुक गया, नायिका के मुखमंडल पर प्रसन्नता की आभा व्याप्त हो गयी[2]। नायिका नायक के घर न्योते में आयी है। उसको घर बुलाने के लिए उसकी सास का संदेश आता है। नायक गुरुजनों के भय समक्ष उसे कैसे रोके? पाहुनी न बन सके इसलिए, वह जब भी चलने को उद्यत होती है तो वह छींकने हुए संमुख आ जाता है और पाहुनी का जाना रुक जाता है[3]।

अज्ञात आधार वाले विश्वास-

३७- प्रायः सभी संस्कृतियों में कुछ ऐसे विश्वास होते हैं जिनके बुद्धिगम्य आधार या तो होते ही नहीं या होते भी हैं तो कालान्तर में वे अपने मूल रूप से बहुत दूर चले जाते हैं और लोक की सामान्य बुद्धि उसे ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती है। संस्कृति की उन्नतावस्था में ऐसे विश्वासों की संख्या कमतेकम होती है किन्तु सांस्कृतिक पराभव या गतिरोध के समय में विश्वास ही प्रमुख हो जाते हैं। बालोन्मेषकाल

---

१- ह जाब महुअरी पृ० ९

२- रघुनाथ री० मुं पृ० १८१।

३- पाहुनी चाहे चल्यो अवही तबहीं हरि सामुहें छींक आवै ।।

प० मुं० १४८।

में ऐसे अज्ञात आधार या निराधार विश्वासों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक रही है। रीतिकाव्य में इसके प्रचुर प्रमाण मिलते है। सुंदरदास कहते है कि भूत लग जाता है उसकी स्मरण शक्ति समाप्त हो जाती है। एक अन्य स्थान पर कहते है कि विरहिणी को विरह का भूत लग गया है और वह तभी उतरेगा जब प्रियतम आकर उससे मिलेंगे, अन्य सारे उपाय निष्फल होंगे[1]। भूतप्रेतादि का भय स्वभावतः अंधेरे में, सांझ और रात में अधिक रहता है[2]। भूतप्रेतादि में विश्वास के साथ साथ उन्हें दूर करने के लिए मंत्र-तंत्रादि का भी विधान है। सुंदरदास मंत्र और झाड़ फूंक का उल्लेख करते है[3]। सुंदरी तिलक में मंतर बांधने के बहाने नायक की पाती बांधि जाने का उल्लेख आया है[4]। बादू टोना करने और ठाकरी आदि लगाने के उल्लेख भी पर्याप्त मात्रा में मिलते है। रीति कालीन काव्य की प्रवृत्ति इतनी शृंगार-परक है कि बादू टोने या डिठौने आदि के शृंगारेतर उल्लेख प्रायः अनुपलब्ध है। सुंदरी तिलक में एक स्थान पर सुंदरी के अंगों पर सोने की चूनरी टोना सा करती है तो दूसरे स्थान पर नायिका प्रिय की लालसा गढ़ी जा रही है और सारा क्रम उसे टोना लगाता-सा प्रतीत हो रहा है[5]। सुंदरमुख मंडल पर डिठौना इसलिए लगा दिया गया था कि नजर न लगे किन्तु डिठौने ने उसके सौन्दर्य को इतना बढ़ा दिया है कि न लगती हुई दीठ भी लग जाय[6]।

---

१-सुं० ग्रं० पृ० ७७४, ८८१

२- भूत परेत को सांझ समो, यह देखो परोक्ष यौं होत कहा है।
कु० म० र० र० पृ० १६

३- कोढ को दूध अरक घृत दे, कर पर मेलि भभूत
मंत्र तंत्र बहु विधि करै, झाड़ा बूटी देइ- सु० ग्रं० २।७२४

४- सु० ति० पृ० ३१७

५- सु० ति० पृ० २३८

६- सोने मुंह दीठि न न लगै, यौं कहि दीनी डीठि।
दूनी है लागन लगी, दियै डिठौना, दीठि।। वि० र० दो० २८

नायिका ने जबसे सलोने "बड़े साहिब" को देख लिया है तबसे उसके नैनों से वे नहीं निकलते मानों उसकी छवि ने कुछ पढ़ कर उस पर टोना -कर दिया हो[1]। सुंदरदास ने टोने के विविध रूपों का वर्णन किया है कोई तो ठौरी डालता है तो कोई सिहर कर बालकों को अंग लगा लेता और वह उनके पीछे-पीछे चल देते है तो कोई मूठ चलाते है। डाइनों द्वारा भी नजर लगा दी जाती है[2]। इसके अतिरिक्त सुंदरदास ने मसिनमंत्र आराधने, वशीकरण, उच्चाटन साधने मृतसमशान जगाने, थंभन मोहन आदि चलाने, वनिताओं को आकर्षित करने, धातुरसायन, गुटका सिद्ध कराने, वनस्पति पत्र चलाने,, बल-अग्नि को बांधने आदि विभिन्न बादू टोनों का उल्लेख किया है[3]। नूर मोहम्मद ने भी नरसिंघी मंत्र जगाने कामरू टोना पढ़ने का उल्लेख किया है[4]। घनानन्द की गोपी पर सांवरे ने मुरली के द्वारा ठौरी कर दी है[5]। रसलीन की नायिका भी इससे रक्षित नहीं है चितचोर मोहन ने रूप की ठौरी डाली है इसलिए उसके नैन अंजन के बहाने ऐसा लगता है मानो चोर हलाहल पीये है[6]। बादू

---

१- ब०ग्रं०सं०, पृ०२३ ।

२- केचिद् मेलहिं मूठ ठौरी । सब से जांय देखते दौरी ।।
केचिद् सिहर लगावहिं अंगा । बालक चले लाग कर संगा ।।
कोई डायन दृष्टि चलावै । तब बालक अतिदुख पावै ।।सु०ग्रं०पृ९२,१२९।

३- सु०ग्रं०पृ०९० ।

४- नूर मुहम्मद- अनु०बां०पृ० १५ ।

५- घनानन्द ग्रं० पृ० ५३७ ।

६- रूप ठौरी डार के मोहन गौ चितचोर ।
अंजनु मिस बनु नैन ये पियत हलाहल घोर ।।
रसलीन क०कौ० पृ० ९० ।

टोने और ठौरी के साथ साथ उनसे बचने और उन्हें दूर करने के उपाय भी प्रचलित थे । इन उपायों में राई-लोन वारने के उल्लेख सबसे अधिक प्राप्त हैं । ब्रज की गलियों में निपट टोनहाइयां डोलती फिरती हैं । आलम ने इसके लिए राई-लोन वारने की औषधि बताई है[1]। देव की कंचुकी नायिका भी राई लोन उतारती है[2]। मतिराम की नायिका का सौंदर्य दुबले होने के कारण दूना हो गया है इसलिए उसे नजर लगने से बचाने के लिए राई-लोन उतारने की आवश्यकता पड़ी है[3]।

प्रथाएं :(दहेज):

३८- दहेज प्रथा के आरम्भ के अनेक कारण रहे हैं । हमारे देश का परिवार पितृसत्ताक् रहा है । पितृसत्ताक् परिवारों में पिता का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है । परिवार की चल-अचल सम्पत्ति तथा परिवार अन्दर व बाहर के सभी संबंधों का विनियमन उसकी इच्छानुरूप होता है । वधू, विवाह के पश्चात् वर के घर जाकर रहती है । पिता के परिवार में जब तक कन्या रहती है उसका शासन-पालन भाइयों के साथ ही होता है । उत्तराधिकार के सामान्य नियमों के अनुसार पुत्र के साथ पुत्री का भी समानाधिकार होना चाहिए किन्तु विवाह के पश्चात् बेटी श्वसुरगृह चली जाने के कारण पर की अचल सम्पत्ति में, (यह स्मरणीय है कि कृषि प्रधान देश होने के कारण भारतीय परिवारों में भूमि ही प्रधान सम्पत्ति होती है) उसको अधिकार देने में व्यावहारिक कठिनाइयां उपस्थित होती है इसलिए अचल संपत्ति के एवज में चल सम्पत्ति दहेज के रूप में दे दी जाती होगी । इससे संबद्ध एक और कारण है । पुरुष प्रधान सामाजिक रचना होने के कारण विवाह के

---

१- आलम केलि- पृ० १ ।

२- पूरित पराग सों उतारो करै राई नौन ।
देव ग्र० पृ० १४६ ।

३- राई लौन वारिये तिया की पियराई पर ।
म० ग्रं० पृ० ३३६ ।

समझौते में पुत्री के पिता का पक्ष हीन पड़ जाता है। वर-पक्ष वाले की ओर से विवाह की स्वीकृति होना एक कृपापूर्ण कार्य होता है। वधू पक्ष कृतज्ञता से विनम्र हो जाता है, तथा आभार प्रदर्शन और कृतज्ञता ज्ञापन के रूप में उपहार देता है। यही उपहार पहले स्वैच्छिक रह कर कालान्तर में अनिवार्य औपचारिकता का रूप ग्रहण कर लेता है और दहेज की प्रथा चल पड़ती है। समीक्षाकाल तक आते-आते दहेज प्रथा सार्वभौम और जटिल रूप धारण करती जा रही थी। निर्धन पिता के लिए अपनी पुत्री का विवाह नितान्त जटिल समस्या हो गयी थी। तत्कालीन अधिकांश विदेशी यात्री इसका साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। मनूची विवाहोपरान्त पुत्री के पिता के परिवार के आर्थिक क्रियाकलापन का बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत करता है। जो सामान जिस किसी के घर से आया था अपना-अपना सब लोग उठा ले गये, पुत्री विदा हो गयी। घर में रिक्तता और सूनापन व्याप्त हो गये। पिता के अधिकाधिक भार से लदता गया, विवाह के सारी धूमधाम की परिणति इस दुखद रूप में हुई।

१९- रीतिकालीन काव्य में भी दहेज प्रथा के प्रचुर संदर्भ उपलब्ध हैं। किन्तु कठिनाई यहां भी यही है कि रीतिकालीन कवि दहेज आदि के उल्लेख करते समय अपनी दृष्टि राजमहल की ओर ही रखता है। मान कवि के राजविलास में दहेज की सूची में अपरिमेय स्वर्ण, हीरे, मौक्तिक-हार, जरवाफ के वस्त्र, हय-गज और दासी आदि सम्मिलित हैं[1]। हंस-जवाहिर के विवाह में "सुल्तान" ने जो दहेज दिया है उसकी गणना असंभव है। उसमें गजमुक्ताओं से भरी हुई पिटारी सहस्त्रों हीरे और बहुमूल्य नग अनेक हाथी

---

१- करी सु करहा बहुलक हीरा मौक्तिकहार।
पंचवर्ण जरवाफ पट बाए सबल अपार॥
हय गज किंकर किंकरी दीन दासही दान।
साकति स्वर्ण पलान सब गिनत सकल अप मान॥
मान०रा०वि०पृ० १८। और भी - वही पृ० ८०, १०२।

और बहुत से कहार है[1]। चित्रावली के विवाह में चित्रसेन सभा में बैठकर दहेज का चिट्ठा तैयार करते हैं उसमें हाथी, घोड़े, हीरे, नग, मोती, माणिक्य, रत्न तो हैं ही साथ में विभिन्न बहुमूल्य वस्त्र आदि भी है । पाटम्बर बरबखी पांवरी, बड़ाऊ छड़ी आदि है । कलश और थाल तो गणनातीत हैं । चित्रावली में ही एक अन्य स्थान पर कौशावती के विवाह के प्रकरण में राजा सागर सभा में बैठ कर दहेज देते है जिसमें रत्न, माणिक्य आदि जिनकी ज्योति सूर्य और चन्द्र की आभा की समानता करती है, घोड़े मतवाले हाथी, बरबख पटंबर तथा बहुमूल्य वस्त्रों से भरी पिटारियां है[2]। विरह बारीश में बीधा ने दहेज का वर्णन किया है । पत्रकार के परचात् बधू के पिता कुल के लोगों और यजमानों आदि को बुलाकर दहेज देने बनवासे में गये । दहेज की सामग्री में बहुमूल्य मणि-मुक्ता, स्वर्णथाल, गज, बाजि, रथ एवं विशाल शिविका है[3]। किन्तु इस सब चमक दमक और राजसी प्रदर्शन से जनसामान्य के दहेज की वस्तुओं का अनुमान नहीं हो सकता । ऐतिहासिक साक्ष्य से और अन्य स्रोतों से स्पष्ट है कि दहेज प्रथा मध्यकाल में प्रायः

---

१- अहं सौ साज दीन्ह सुलताना, नागिन बाज न बाज बराबरी ।
गज मुक्तन की भरी पिटारी, हीरालाल लक्ख नग भारी ।।
हलती बहुत, अनेक कहारा - - - - - - - - - - - -
का० हं०ब०पु० १९८ ।

२- चित्रसेन पुनि सभा बइठा, सिंघ लाग दायज कर पीठा ।
+ + +
सभा बैठि पुनि सागर राजा, देइ लाग सब दायज साजा ।
इ०चि०पु० २०५, १५६ ।

३- कुल यजमान सबको बुलाय । गए देन दायजो सबको सिवाय ।
गज बाजि रथ शिविका विशाल । मणिगन अनेक मुक्तामाल ।
दीने बहु भांति के कलकार । बरन भांति भांति बंबर अपार ।
बी०वि०बा०पु० १५५ ।

सार्वभौम रूप से प्रचलित थी किन्तु उपलब्ध उदाहरणों के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि वर-सामान्य भी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुरूप अधिकाधिक दहेज देने का प्रयत्न करता रहा होगा । दहेज कुछ इतना आवश्यक हो गया था कि बिना दहेज के योग्य वर प्राप्त होना सामान्यतः संभव नहीं था[1]। कभी - कभी पुत्री के पिता की संपत्ति का कोई पुरुष उत्तराधिकारी न होने पर वह दामाद को ही अपने पास रख लेता था यह प्रथा कुछ अंश में प्रचलित है । इस स्थिति में सामान्य-चलन के विपरीत वर-वधू के घर आकर रहता था । इसके फलस्वरूप वधू के परिवार में एक तनाव उत्पन्न होता था साथ ही साथ घरजमाई बनने वाले दामाद की प्रतिष्ठा को भी क्षति पहुंचती है । बिहारीलाल पूत के सूर्य की उपमा घर जमाई से देते हैं जिस प्रकार घर जमाई घर में इतना महत्वहीन हो जाता है कि उसका आना-जाना ज्ञात नहीं होता, कदाचित कोई उस पर ध्यान नहीं देता उसी प्रकार पूत का दिनमान भी क्षीण शक्ति वाला हो जाता है । उदित और अस्त होते समय सूर्य की शक्तिप्रायः समान रहती है उसमें प्रखरता का अभाव होता है[2]।

बहु-विवाहः

४०- सभी अवस्था में किसी व्यापक रूप में बहुविवाह के प्रचलित होने के ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं मिलते । हिन्दू समाज में एक पत्नी व्रत का बहुत महत्व रहा है और सामान्य परिस्थिति में किसी हिन्दू का दूसरा विवाह होना वांछनीय और नैतिक नहीं समझा जाता था । बहुविवाह का चलन राजकुल और सामंत परिवारों में ही था । शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार

---

१- दीजत बेटी बाप रिं । होत दाझो दीरघ ताहि ।
केशवी०च०पृ० २७ ।

२- जगत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानि ।
घरहं जवाई लौं, घट्यौ खरौ पूत - दिन मानि ।।
वि०र०दो० १७१ ।

संतान न होने पर स्त्री और पुरुष दोनों को अन्य किसी माध्यम से संतान प्राप्ति का अधिकार दिया गया है और किसी सामान्य व्यक्ति के एकाधिक विवाह होने का यह वैध कारण माना जाता था । एडवर्ड टेरी हिन्दू के एक पत्नी-व्रती होने के तथ्य पर बहुत कुछ और प्रशंसात्मक साक्ष्य प्रस्तुत करता है । रीतिकाल के काव्य में बहु विवाह, परकीया प्रेम और अकर्म के अपेक्षाकृत अधिक संदर्भ आये हैं । उसका बहुत कुछ कारण तत्कालीन कवि की, और कवि किस वर्ग के समाज में रहता था उस वर्ग की, ऐहिकतापरक मनोवृत्ति थी । यह तो सत्य ही है कि मध्यकाल में राजपरिवारों और सामन्त कुलों में अनेक विवाह करना प्रायः सहज और स्वाभाविक हो गया था, इसलिए कवि पर अपने उस समाज का प्रभाव पड़ना बहुत कुछ अपरिहार्य था । फिर, कवि को काव्य में सरसता और अन्य मनोदशाओं की सृष्टि करने के लिए परकीया प्रेम, सपत्नी भाव की उपस्थिति सहायक सिद्ध होती थी । सम्भवतः इन्हीं कारणों से रीतिकालीन काव्य में बहुविवाह या सपत्नी भावपरक संदर्भ अनुपात से अधिक आये हैं । मतिराम की नायिका अपने मायके गयी हुई थी तभी उसकी ससुराल से उसके प्रियतम के दूसरे विवाह का संवाद आता है । यहां मायके में नायिका का किसी अन्य व्यक्ति से अनुराग हो गया है । इस नये विवाह की सूचना वो सामान्य परिस्थिति में उसे दुखदायी हुई होती सम्प्रति उसे सुखद प्रतीत होती है यद्यपि वह "छबीली" अपने इस सुख को दुख के व्याज से छिपा लेती है[१]। कवि बनारसी दास के तीन विवाह हुए थे । पहली पत्नी को बहुत बहन का नारियल शुभ मुहूर्त में नाई द्वारा लाया गया और कविवर ने उसे स्वीकार कर लिया । इसके परचात् उनका तीसरा विवाह भी हुआ । उनकी "पचावन बरस" की वय में तीन विवाहित भार्याएं हुई दो पुत्रियां और सात

---

१- मोहन हैं कछु दीखन मैं "मतिराम" बड़ो अनुराग सुहायो,
बैठी हुती निज मायके मैं ससुरारि को काहू सखी सुनायो ।
नाह के ब्याह की बात सुनी, हिय माँहि उछाह छबीली के छायो,
पौरि रही पट ओरि घटा दुख को मिस के सुख बाल छिपायो ।।
म०ग्रं० पृ० २८९ ।

पुत्र हुए[1] ।

४१- बहुपत्नीत्व का साक्ष्य प्रस्तुत करने वाले उल्लेख, अधिकांशतः सपत्नियों के पारस्परिक कलह एवं दोनों के बीच दक्षिण नायक द्वारा स्थापित संतुलन के रूप में ही आये है । छैल-बिहारि का दक्षिण नायक दोनों पत्नियों पर समान प्रीति रखता है । उसके दाक्षिण्य पर एक मुस्करा देती है छूरी उसके गले में अपनी बाँह डाल देती है[2]। मतिराम का नायक वीर भी पटु है वह अपनी एक पत्नी को दर्पण देकर उसे अपना चन्द्रमुख देखने के लिए कहता है । प्यारी जब तक अपना चन्द्रमुख देखे तब तक में नायक छूरी के उरोजों का स्पर्श कर लेता है । इस प्रकार उसकी उपस्थिति से दोनों प्रफुल्लित होती है । इतना ही नहीं अवसर पड़ने पर उनके नवलाल प्रसन्न-चित्त होकर एक की वेणी गूंथते है और साथ ही छूरी के लाल ओठों का-रसपान करते चलते है[3]। साथ भटहरी सौत के सिर में घुसते और साझे के काम-दोनों को बुरा कहते है[4] । सुहागिन का निखरा सौन्दर्य देखकर प्रियतम के हृदय उसके प्रति आकृष्ट होने की संभावनाओं और अपने से विरक्त होने की क्लेशकारिणी कल्पना से क्षण भर में ही जलने लगती है[5]। प्रियतम सौत

---

१- प्रथम बहू की भगिनी एक सौ तिन भेजी त्रियौ विवेक ।
नाक मानि नारिअर दियौ । सो हम भये मंहूरत लियौ ।।
† † †
भयो तीसरी नारि-के प्रथम पुत्र अवतार ।
त्रिय कै कछु दिन उठि गयो बरष बापु संसार ।।
† † †
कही पचासन बरस लौं बखारहि की बात ।
तीन विवाही भारवा सुता दोइ, सुत सात ।।व०अ०क०पु०४९,६८ व ७१ ।

२- का० ह० व० पृ० २६३ ।

३- म० गृ०पु० २८४ ।

४- सौत बुरी है जून की और साझे का काम ।
† † †
तीन बैल दो मेहरी काल बैठ का ठेहरी ।। क०क० पृ० ७०, ६८ ।

५- द० भा०वि०पृ० ११० ।

के संग ही बसते है नित्यप्रति उसी के आंगन में रस रंग रचाते हैं[1] । बिहारी ने भी अनेक स्थलों पर सौत के सन्दर्भ दिये हैं[2]।

४२- पुरुषों के बहुविवाह के समानान्तर स्त्रियों के एकाधिक विवाह के उल्लेख नहीं प्राप्त होते । उनके लिए एक से अधिक विवाह का प्रायः निषेध रहा है । पराशर ने पति के नष्ट हो जाने, मर जाने, सन्यासी हो जाने पर, नपुंसक होने, पतित होने, इन पांच आपत्तियों पर नारी के लिए दूसरे विवाह की अनुमति दी है[3]। नारद ने भी बहुत कुछ इसी प्रकार की व्यवस्था बतायी है । उनके अनुसार नीचत्व को प्राप्त हुआ, परदेश गया, राजकिल्बिषी, प्राण हरण करने वाला और नपुंसक पति त्याज्य है[4]। किन्तु ये व्यवस्थाएं उस युग में की गयी थी और तभी संभव थी जब स्त्री के अधिकार अपेक्षाकृत अधिक थे । कालान्तर मे समाज में स्त्री का स्थान उतना स्पृहणीय नहीं रह गया । आलोच्यकाल में पति के जीवन काल में तो स्त्री का पुनर्विवाह अकल्पनीय ही था उसके मरणोपरान्त भी स्त्री के लिए पुनर्विवाह निन्दित था और सती होने की व्यवस्था की गयी थी । केशवदास के अनुसार पति को तो एकाधिक पत्नियां रखने का अधिकार है किन्तु पत्नी एक से अधिक पति नहीं कर सकती । पत्नी ही पति के लिए सती होती है, पति पत्नी के लिए मृत्यु का आलिंगन नहीं करता । एक नायिका के दुख से

---

१- स्यामसे सौति के संग बसे निसि आंगन वाहिके रंग रचाइके ।
के० मा० वि० पृ० ७६ ।

२- वि० र० दो० ४४८, ४८० ।

३- नष्टे, मृते, प्रव्रजिते, क्लीबे च पतिते पतौ ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।। पराशर ।

४- नीचत्व, पर देशं वा प्रस्थितो राजकिल्बिषी ।
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लीबोपि वा पतिः ।।
-नारद ।

नायक को दुखी होने की क्या आवश्यकता है ? एक सरिता के सूखने पर सागर तो नहीं सूख जाता है[1]। पतिव्रता नारी पियतम का साथ नहीं छोड़ती, वह अपने प्रियतम की मृत्यु के साथ अपना भी प्राणान्त कर लेती है[2]। शास्त्रों में विधवा स्त्री के लिए यह विधान किया गया था कि वह पवित्र पुष्प फल-मूलादि अल्पाहार के द्वारा अपने शरीर को क्षीण करती रहे परन्तु व्यभिचार बुद्धि से परपुरुष का नाम न ले[3]। उसे केशरंजन करने, पान खाने, गंध पुष्पादि का सेवन करने, आभूषण धारण करने, रंगीन वस्त्र पहनने और कांसे के बर्तन में भोजन करने का निषेध किया गया है[4]। आलोच्यकाल के काव्य में भी ये निषेध ज्यों के त्यों प्रस्तुत कर दिये गये हैं। नारी को अपने मृत पति का त्याग नहीं करना चाहिए उसके साथ ही उसे अग्नि में प्रवेश कर जाना चाहिए[5]। संगीत नाच नादि का त्याग कर देना चाहिए, क्रीड़ा में भाग न—

---

१- पति पतिनी बहु करै पति न पतिनी बहु कर ही ।
पति-हित पतिनी करहि पति न पतिनी-हित मरही ।
एक नायिका दुखद, कहा बहु नायक दूखै ।
सूखै सरिता एक कहा बहु सागर सूखै ।। के०गृ०पृ० ५३८ ।

२- सुंदर नारि पतिव्रता तबै न पिय को संग ।
पीव चले सहगामिनी तुरत कौ तन भंग ।।सुं०गं०पृ० ७०९ ।

३- कामं तु क्षपये देहं पुष्पमूल फलैः शुभैः ।
न तु नामपि गृह्णीत्पत्यौ प्रेते परस्य तु ।
-मनुस्मृति- अ० ५ ।

४- केश रंजन ताम्बूल गन्ध पुष्पादि सेवनम् ।
भूषणं रंग वस्त्रं च कांस्य पात्रेषु भोजनम् ।
-हारीतसंहिता ।

५- नारि न तबहिं मरै भरतारहिं ।
ता संग सहहि पनंवन झारहिं ।।
के०कौ० १।१४५ ।

लेना चाहिए, तैल सेवन नहीं करना चाहिए, चारपाई त्याग कर भूमि पर सोना चाहिए, गर्म खाना नहीं खाना चाहिए, ठंडा पानी नहीं पीना चाहिए, शीतल जल से स्नान नहीं करना चाहिए, मधुर अन्न नहीं खाना चाहिए, पांवों में उपान नहीं धारण करना चाहिए, उपवास आदि से अपने को कृशकाय बनाना चाहिए, और सभी इन्द्रियों पर विजय पाने की चेष्टा करनी चाहिए[1]। सुंदर दास पिया बिन मांग निकालने और पाटी पारने का निषेध करते है। प्रियतम के अभाव में बांहों पर पट्टी बांध कर बाह्य आकर्षणों से बचने की चेष्टा करनी चाहिए[2]।

सती प्रथा:

४२- सती-प्रथा यवन, शक, पल्लव, संपर्क से उत्पन्न हुई मानी जाती है या कुछ लोग इसका जन्म तो भारत में ही मानते है पर उस संपर्क से उसे प्रोत्साहन या प्रेरणा हुई ऐसा मानकर चलते हैं। विष्णु धर्म सूत्र में विधवा के लिए ब्रह्मचर्य या चितारोहण का विकल्प रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त वेदव्यास स्मृति, कुमारसंभव, गाथा सप्तशती, कामसूत्र, बृहत्संहिता आदि में भी कुछ हेर-फेर के साथ सती प्रथा के प्रचलित होने या सतियों की प्रशंसा के उल्लेख आते हैं। मध्ययुग में सर्वप्रथम बाण के हर्षचरित में यशोमति के अग्नि प्रवेश का वर्णन है पर वह प्रभाकर वर्धन की मृत्यु के पूर्व ही अग्नि प्रवेश करती है पर कादम्बरी में बाण ने स्वयं इस प्रथा की निन्दा की है[3]। वस्तुतः सती

---

१- गान बिन हास बिन मान बिन बोलहिं।तल्प नहिं खाय जल शीत नहीं पीवहिं ।।
तेल तजि खेल तजि खाट तजि सोवहिं। शीत जल न्हाय नहीं उष्ण जल जोवहिं ।।
खाय मधुरान्न नहिं पान पनही धरैं । काय मन बाच सब कर्म करिबो करैं।
कृच्छ उपवास सब इन्द्रियन जीतहिं । पुत्र सुख हीन तन बो सो सतीतही ।
के०कौ० १।१४५ ।

२- पिय बिन सीस न पारू पाटी । पिय बिन बांहिन बांधी पाटी ।।
सुं० ग्रं०पृ० ३४९ ।

३- हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास ।
पृ० १६४-१६६ ।

प्रथा के प्रचलित होने के मूल में धार्मिक पृष्ठभूमि और पतिभक्ति के साथ साथ सामाजिक सुरक्षा का आधार भी रहा होगा । आरम्भ में जो क्रिया वैकल्पिक थी वह कालान्तर में अनिवार्य और सार्वभौम होती चली गयी । आलोच्यकाल में सती प्रथा के प्रचलित होने के प्रभूत ऐतिहासिक प्रमाण मिलते है - वर्णिश्वर, तवर्णिश्वर और मनूची सभी यात्री सती प्रथा का असंदिग्ध और स्पष्ट शब्दों में उल्लेख ही नहीं करते हैं अपितु सती होने की विशेष घटनाओं और संदर्भों का पूरा विवरण भी देते हैं । मनूची ने ऐसी अनेक घटनाओं का आंखों देखा चित्र प्रस्तुत किया है । क्षत्राणियों का जौहर इन यात्रियों के लिए एक अनोखी घटना थी । ऐसे उदाहरण उन्हें किसी अन्य देश में कभी दृष्टिगत नहीं हुए । कोमलांगी अल्पवय-नारियों का मृत पति की चिता में प्रवेश अदम्य साहस का दृश्य प्रस्तुत करता था । ये यात्री इस अद्भुत साहस को देखकर चकित रह जाते थे । प्रशासन की ओर से अनेक प्रयास होने पर भी पतिपरायण स्त्रियों का अपराजेय साहस यथावत् बना रहता था और इन यात्रियों ने इस बात की साक्षी दी है कि यद्यपि अनेक अवसरों पर स्त्रियों के अपनी इच्छा के प्रतिकूल अग्नि प्रवेश के लिए बाध्य किया जाता था किन्तु यह भी सत्य है कि अनेक स्त्रियां मना करने पर भी पति के साथ अपने शरीर को भस्म कर देने में गौरव समझती थीं । विदेशी विचारक और अपने देश के समाज सुधारक इस प्रथा के विरुद्ध संघर्ष करते आये हैं और अब यह एक प्रकार से समाप्त-सी हो गयी है किन्तु क्षत्राणियों के सामूहिक जौहर के दृश्य की कल्पना आज भी साहस और उल्लास का, निष्ठा की सर्वोच्चता और पार्थिव जीवन की अकिंचनता का विस्मयकारी दृश्य प्रस्तुत करती है । काव्य में इसके अधिक उदाहरण नहीं है किन्तु जो भी है वे अपने आप में अत्यन्त स्पष्ट और सुनिश्चित हैं । कवि गोरेलाल छत्रप्रकाश में क्षत्राणियों के जौहर का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जब उन्होंने उत्साह-पूर्वक अग्नि में प्रवेश किया तो उनके साहस को देखकर इन्द्र आदि देवी-देवता भी विस्मय विमुग्ध रह गये[1] ।

---

१- सब ठकुराइन उमगि के कीन्हों अग्नि प्रवेश ।
देखत साहस थकि रहयो देवन सहित दिनेश ।।
गोरे० छ०प्र० पृ० ५७ ।

पर्दाप्रथा:

४४- भारतीय संस्कृति के विकास के किस चरण में स्त्री और पुरुष को समान अधिकार नहीं रह जाते, स्त्री बहुत कुछ परतंत्र और पराधीन होने लगती है, उसके लिए कुछ ऐसे नियम और विधान बनाये जाने लगते हैं जो उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास में बाधक होते हैं। पर्दा-प्रथा के प्रारंभ के मूल में यह परिस्थिति रही है। वैसे तो सौंदर्य को बनावृत और आवृत करने की दो विरोधाभासी प्रवृत्तियां मानव-स्वभाव में पायी जाती हैं, और उन्हीं के फलस्वरूप एक ओर वह आवृत प्रकृत सौंदर्य की ओर झुकता है तो दूसरी ओर वस्त्राभरणभूषित शरीर भी उसके सौन्दर्य बोध को तृप्त करता है। मनुष्य की इस मनोवृत्ति ने ही आरंभ में उसे सुंदर के लिए अपेक्षित आवरण की व्यवस्था करने की प्रेरणा दी थी जो कालान्तर में विकसित होती चली गयी। विकास की अगली दशा में उसने मात्र आवरण की दृष्टि में परिष्कार कर लिया होगा और ऐसे आवरणों की अपेक्षा उसे प्रतीत होने लगी होगी जो अपरिहार्य न होते हुए भी वांछनीय थे। क्रमशः वह ऐसे आवरणों की भी व्यवस्था करने लगा होगा जो अपरिहार्य ही नहीं अवांछनीय भी थे। पर्दा प्रथा इसी विकास-दशा में आयी होगी। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में आरम्भ में स्त्री का स्थान यदि बहुत ऊंचा नहीं था तो कम से कम स्थिति ऐसी अवश्य थी जिसमें नारी के शोषण और उत्पीड़न के अवसर अपेक्षाकृत कम थे। कदाचित् इसीलिए और सामाजिक सुरक्षा का कोई चिन्ताजनक अभाव न होने के कारण, आरम्भ में स्त्रियों के लिए पर्दे की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई होगी। मध्यकाल तक आते-आते स्त्रियों की अपेक्षाकृत अधोगामी दशा, सांस्कृतिक पराभव उन्मुक्त सौंदर्य-बोध का अभाव, मुग़ल साम्राज्य की सुदृढ़ता के परिणाम-स्वरूप मुस्लिम संस्कृति की विजय और तज्जनित प्रभाव, और सार्वभौम रूप से व्याप्त सामाजिक असुरक्षा ने पर्दा प्रथा के अधिक दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित होने की परिस्थितियां उत्पन्न कर दीं। इस प्रकार रीतिकालीन समाज में स्त्रियों का पर्दा करना आवश्यक हो गया था। समाज की इस आवश्यकता ने कवियों की सौंदर्य दृष्टि को बहुत कुछ प्रभावित किया है। वे आवरण को आवश्यक ही नहीं

सुंदर भी मानने लगे थे । सुंदरी के घूंघट की चूनन के भीतर उसके झूमके झूम रहे हैं कवि उनकी झिलमिल छवि पर मुग्ध है, उसके गाल की गलियों से गुजरते ही खुशबू के खजाने खुल जाते हैं[1] । नंदलाल गांव से आये हैं, साली उनकी रूपराशि देख कर मोहित हो रही है, घूंघट की ओट उसे रूपसुधा का पान करने में सहायता देती है क्योंकि किसी को सरेआम देखते जाना भी मर्यादा के विरुद्ध है । नायिका घूंघट नहीं डाल पाती क्योंकि वह मायके में है इसलिए लज्जावश वह मां के पीछे छिप जाती है[2]। बिहारी की नायिका ने नायक की ओर पीठ किये ही किंचित् मुड़कर, घूंघट -पट डाल कर, गुलाल से भरी अपनी मुठी चलाकर, मूंठ मारने का सा प्रभाव उत्पन्न कर दिया[3]। एक अन्य स्थान पर उनकी चन्द्रमुखी नायिका अपने मुख पर घूंघट पट डाल झरोखे से झांकती है, उसका मुखमण्डल अग्निशिखा की भांति देदीप्यमान हो रहा है[4] । रघुनाथ की नायिका का भी घूंघट खुलने से कुछ बिहारी की नायिका जैसा ही प्रभाव पड़ता है । मुख की ज्योति वातावरण में व्याप्त हो जाती है[5] । यदि एक ओर घूंघट रूपी उदयाचल से रूपसुधा की सुन्दरछवि निकल कर बिखरी हुई है[6]। तो दूसरी ओर शेख की नायिका घूंघट की

---

१- घूंघट की घूमके सु झूमके बवाहिर के,
झिलमिल झलकि भूमि लौं झुलत जात ।
झूनाकी झकोरन चहूंघा छोरि छोरिन में,
खूब खसखोई के खजाने से खुलत जात ।। प०ग्रं०पृ० १२१ ।

२- प०ग्रं० पृ० १३७ ।

३- पीठि दिये ही नैक मुरि, कर घूंघट-पट टारि ।
भरि, गुलाल की मूंठि सौं गई मूठि-सी मारि ।। बि०र०दो० ३५० ।

४- सटपटाति ससिमुखी, मुख घूंघट-पट ढांकि ।
पावक-झर-सी झमकि कै गई झरोखे झांकि ।।बि०र०दो०६४६ ।

५- रघुनाथ- रो० ग्रं० पृ० १८० ।

६- श्रीपति- रो०ग्रं० पृ० १३५ ।

किनारी को दबाकर भृकुटि ऊंची कर और मन्द मुस्काकर घघरा सी कींच गयी है। सुन्दरी का मुखमण्डल घूंघट की ओट में उसी प्रकार प्रकट होता और तिरोहित हो जाता है जैसे चन्द्रमा नभ मंडल की घटाओं के बीच कभी बाहर आता है और कभी छिप जाता है[1]। घूंघट में लाज से लिपटी हुई नायिका प्रियतम के हृदय में स्नेह उत्पन्न करती है। लज्जावश घूंघट काढ़ने की प्रक्रिया में नायिका(अपने सौंदर्य के बढ़ जाने के कारण) अकारण ही लज्जा को लजा रही है[2]। अब तो यह पर्दा इस सीमा तक पहुंच गया है कि बसंत की नायिका भूमि पर पांव भी नहीं धरती, उसे सूर्य भी कभी नहीं देख पाता, चंद उसे निहार सकने में असमर्थ है, वायु को उसके संस्पर्श का भी ज्ञान नहीं है तो उसका समाचार कहां से और कौन लाकर दे[3]। कुलीन घरों में पर्दा अपेक्षाकृत अधिक है। सुंदरी की मर्यादा की रक्षा के लिए कोठरी में बंद — रक्खा जाता है जबकि गृवालिनें बाहर उन्मुक्त वातावरण में विचरण करती हैं[4]।

---

१- बोधराव- ह०रा० पृ० २४८।

२- घूंघट बीच मरीचन की रुचि कोटिक चंदन को मद चूरत।
लाजनि सों लिपटी मन मानंद सावन के हिय में छित पूरत ।।च०गृ०पु०१०९।
घूंघट काढ़ि बौ सौं लाज सकेलति लाजहिं लाजति है बिन काजहिं।
नैनन नैनन में तिहि ऐन सु होत कहा न सबै पट लाजनि ।।च०गृ०पु० ५६।

३- भूमि पै पांव धरै कबहूं नहिं, सूरज देखि सकै नहिं वाको।
मानस की चर्चा का बखानये चंद चितै न सकै पुनि वाको।
मौचक झांकि झरोखनि में बसंत विलोकत ताकी प्रभा को।
लाऊं कहां केहि भांति लखा सौं न जानत वाको ।।
बसंत सु०ति०पु० २०६।

४- रूप अधिकाई तोहि कोठरी बसायो आनि।
गृवालिनि सुगेल गहैं खेलती प्रकाश है ।।
दूहा- क०कु०कै० भ०पृ० ६०।

सौगंधः

४५- रीतिकाव्य में सौगन्ध खाने के भी उल्लेख आये हैं। सौगन्ध खाने का चलन सार्वभौम है और यह हर देश एवं जाति में किसी न किसी रूप में पाया जाता है। सौगन्ध खाने के पीछे, वक्ता में आत्म विश्वास का अभाव अथवा श्रोता का विश्वास उपलब्ध होने में संदेह अथवा दोनों एक साथ, कारण होते हैं। सौगन्ध खाने की आवश्यकता तभी पड़ती है जब हमें अपने वक्तव्य के यथावत् पूर्ण विश्वास के स्वीकृत हो जाने के संबंध में संदेह रहता है और हम चाहते हैं कि उसे और इसकी अपरावेयता को पूर्णरूपेण स्वीकार किया जाय। प्रायः ईश्वर या अन्य पूजनीय देवी-देवताओं की अपने पूजनीय वरीय संबंधियों अथवा, अपने धर्म और विश्वास या अपने प्रिय पात्र की सौगन्ध खाते हैं। सूदन ने सुजान चरित्र में ईश्वर और गंगा के नाम पर शपथ लेने का उल्लेख किया है[1]। स्त्रियाँ में प्रायः "बाबा की सौंह" लेने का चलन है। रसखानि बाबा की सौंगध खाने का उल्लेख करते हैं[2]। बिहारी की बाकी नायिका का "बका की सौंह" खाने का ढंग भी निराला है, उसकी चेष्टा नायक के मन से निकाले नहीं निकलती[3]।

शिष्टाचारः

४६- मनुष्य और अन्य जीवधारियों में मूल अन्तर यह है कि अन्य जीवधारियों ने अपनी जीवन-पद्धति को बाने या अनजाने प्रकृत स्वरूप

---

१- सूदन - सु० च० पृ० ७७ एवं २५५।

२- बहु और बबा की सौं और सुनै,
मन मेरेउ आवै रीस को,
पै कहा करौं व रसखानि बिलोकि
हिबो हुलसै, हुलसै हुलसै ॥
रस०धना० पृ० २३।

३- बि० र० दो० ४०६।

के अधिक निकट रखा है किन्तु मनुष्य ने अपने जीवन के प्रत्येक पक्ष में परिष्करण और संस्करण के सतत प्रयत्न किये हैं। मनुष्य पशुओं से केवल धर्म के आधार पर ही भिन्न नहीं है, आहार, निद्रा और मैथुन आदि इन्द्रियगत आवश्यकताओं की मूल प्रवृत्ति भले ही दोनों में समान हो, इनके संबंध में भी यह सत्य है मनुष्य ने इनकी संपूर्ति के लिए जो प्रयास किये हैं वे अधिक संस्कृत और परिष्कृत हैं, साथ ही उसने इनके उन्नयन के प्रयत्न भी किये हैं। उसने अपनी ऐसी सामाजिक रचना निर्मित की है जो अन्य जीवधारियों की तथाकथित सामाजिक रचना से कहीं व्यवस्थित और अपेक्षाकृत अधिक जटिल है। इस सामाजिक रचना की आचरण संबंधी कुछ अपनी आवश्यकताएं हैं। सामाजिक संबंधों में व्यक्ति, अवसर और स्थान के अनुरूप आचरण संबंधी आवश्यकताएं ही शिष्टाचार का नाम पाती है। शिष्टाचरण का महत्व इतना अधिक है कि उसके अभाव में, अशिष्ट को, मनुष्यत्व की संज्ञा से अभिहित किन्तु पशुतुल्य समझा जाता है। मध्यकाल की सामाजिक रचना में शक्ति और सम्पत्ति के साधन कुछ थोड़े लोगों में सीमित और केन्द्रित थे। समाज में जब ऐसी स्थिति आती है, जिसे हम किसी अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव में आभिजात्य संस्कृति की अवस्था कह सकते हैं, तो बड़ों, के प्रति छोटों के व्यवहार के नियम अधिक विशद् और कठोर हो जाते हैं। कहते हैं फ्रांस में एक समय में राजघराने की भाषा का स्वरूप ही बिल्कुल अलग हो गया था और जनसाधारण में से कोई व्यक्ति उसका प्रयोग करता तो उसे कठोरतम दण्ड का भागी बनना पड़ता। मध्यकाल में भारत में मुगल सम्राट् का शासन था। राजनीतिक दृष्टि से, और आर्थिक दृष्टि से भी सर्वग्रासी शक्तियां सम्राट् और सामन्त-वर्ग व थोड़े से विशालोच तत्वों के पास केन्द्रित होने के कारण सामाजिक शिष्टाचरण की आवश्यकता अपेक्षाकृत अधिक हो गयी थी, यहां तक कि कभी-कभी वे असह्य कृत्रिमता की सीमा का संस्पर्श करती थीं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शिष्टाचरण स्वैच्छिक और सामाजिक दृष्टि से उतना आवश्यक नहीं था। मध्यकाल के कवि गुलाब ने शिष्टाचार के महत्व पर जोर देते हुए कहा है कि जिन व्यक्तियों को उठने-बैठने, बोलने-चालने का ढंग नहीं मालूम वे मनुष्य के रूप में पशु के समान

है[1] । शिष्टाचार का पहला पाठ कुटुम्ब की पाठशाला में पढ़ा जाता है । पुत्र का माता-पिता के प्रति, पति का पत्नी के प्रति, भाई-बहन का परस्पर, परिवार के अन्य वरीय सदस्यों के प्रति कनीय सदस्यों का क्या व्यवहार होना चाहिए- ये बातें हमें पारिवारिक पर्यावरण में ही सीखने को मिलती हैं और ये शिष्टाचार ही समाज के व्यापक शिक्षण में शिष्ट-आचरण के आधार बनते हैं । सिंह बयाहर अपने पिता के पास जाकर राम-राम करते हुए शीश नवाता है, पुत्र को देखकर पिता के मन में आनंद उमड़ आता है[2]। छोटा भाई भी बड़े भाई का चरण स्पर्श करता है । लक्ष्मण ने भरत के चरणस्पर्श किये और शत्रुघ्न ने लक्ष्मण के । इसी प्रकार भातृजायों के चरण-वंदन की भी परंपरा है । लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न तीनों ने सीता के पैर छुए । बड़े छोटों को प्रत्युत्तर में आशीर्वाद देते हैं[3] । बड़ों के पाद-प्रक्षालन की भी परंपरा रही है । शत्रुघ्न ने लक्ष्मण के पांव पखारे थे । कौसल्या पिता की भांति माता की भी चरण-वंदना की जाती है । श्री रघुनन्दन ने सीता लक्ष्मण आदि के सहित मातायों के चरणस्पर्श किये थे[4]। बड़ा भाई

---

१- बैठबे की उठबे की बोलबे की चालिबे की,
बात न एकौ चाल आए जग डाबे में ।
देखबे में मानुष की मंजुल दिखाई परै,
पर नरपशु की परिंद है ये भावे में ।
सूकर से सूकर से गंधर्व से उल्लुन से,
काढ़ि काढ़ि बीच डारे मानुष के साबे में ।।गु०बा०र०पृ०४८ ।

२- तब सिंह बयाहर पास आइ । किय राम राम सिर सीस नाइ ।
सुत को निहार बदनेस-नंद । आनंद पाइ उर में बिलंद ।।सु०सु०क०पृ०११० ।

३- भरत चरण लक्ष्मण परे लक्ष्मण के शत्रुघ्न ।
सीता पग लागत दियो आशिष सुभ शत्रुघ्न ।। के०की० २।१९।

४- (क) पीछे दुरि शत्रुघ्न सन लखन पखारए पाय ।
पग सीमित्रि पखारिबौं अंगदादि के भाय ।। के०की० २।२३ ।
(ख) संग सीता लक्ष्मण, श्री रघुनंदन मातन के सुभ पाइ परे ।
के०की० २।३० ।

छोटे भाई का चुंबन करता है और सिर सूंघता है । श्रीराम छोटे भाई का मुख चूम कर, सिर सूंघ कर नेत्रों में जल भरके उसे हृदय से लगाते हैं[1]। हम्मीर रासों में भी दोनों भाइयों के रनिवास जाने और वहां माता को प्रणाम करने का उल्लेख है । उनके पांव छूकर, गणेश और शंकर आदि का पूजन करने पर उन्हें युद्ध के लिए भेजा गया है[2] । मतिराम की नायिका भी प्रियतम को प्रणाम करती है किन्तु और लोग न देख लें इसलिए हाथों को मोड़ लेती है[3] ।

उपहार:

४७- राजदरबार के अपने अलग शिष्टाचार है । वहां सम्राट् की स्थिति सर्वोपरि होती है । राजा सभी प्रकार के ऐश्वर्य का स्रोत समझा जाता है । रावविलास में कस्तूरी, घनसार, १०८ कुंभजल, मधु, दधि, तंदुल, पकवान, मेवा, फल आदि से कविपति के पांवपूजे जाने का उल्लेख किया गया है[4]। कोई उससे मिलने जाता है तो भेंट होने से पूर्व उनकी अनुमति की जरूरत होती है । महाराव हम्मीर के पास "शेख" मिलने आया है, सेवक उसकी उपस्थिति की सूचना देता है और मिलने की अनुमति मांगता है । शेख उपस्थित होता है और यथोचित शिष्टाचार के साथ कुशल क्षेम पूछा जाता

---

१- चूमि मुख सूंघि सिर अंक रघुनाथ धरि
बाहुबल सोचन मेखि उर लाइयौ ।।
के०कौ० २।११ ।

२- गयौ रनवास जहां दौड़ वीर कियौ परनाम बुहार सुधीर ।
गनेसुर शंकर पूज सुभाय को बहु ध्यान गहे बर पाय ।।
बोध-हरा०पृ० १०७ ।

३- चढ़ी अटारी बाम वह कियौ प्रनाम अगोट ।
तरनि-किरन तै लुनन कौ कर-सरोज की ओट ।।मति०ग्रं०पृ० २८८ ।

४- मान० राव वि० पृ० ८६ ।

है[1]। रावदरबार में मुजरा करने की परंपरा भी थी। बंगनामा में एक दीन के मुजरा करने का प्रसंग आया है। वहीं एक अन्य स्थान पर शाह से मुजरा करने की भी बात कही गयी है। रावदरबार में राजा के पास जाते समय नज़र ले जाने की भी परंपरा थी। तत्कालीन याचियों ने मुग़ल सम्राटों को स्वयं भेंट दी थीं और उनके उल्लेख किए है। राजा के जन्मदिन, राज्याभिरोहण-वार्षिकी आदि अवसरों पर विशेष रूप से उपहार दिये जाते थे। सम्राट् या राजा अथवा छोटे सामन्त और नवाब आदि भेंट लेने के बाद अपनी कृपा के ज्ञापन रूप में भेंट देने और मिलने वाले लोगों को कुछ उपहार देते थे। सूदन ने सुजान चरित में इसका उल्लेख किया है[2]। सुजान चरित्र में एक अन्य स्थान पर सुजान राजा बदनेस के दूत को हाथी घोड़े और मोतियों के हार आदि देकर और वस्त्र पहना कर, सम्मानपूर्वक, नृपति के नाम संदेश देते हुए विदा करते हैं[3]। ऐसा ही नहीं है कि राजा केवल स्वयं ही सम्मान का अधिकारी हो। वह अपने समकक्षों के प्रति सदाशयी, अपने से बड़ों के प्रति विनम्र और छोटों के प्रति सहिष्णु होता है[4]। सभा भवन में मुनियों, पुरोहितों आदि के आने पर सम्राट् उन्हें सम्यक् आदर देता है। रामचन्द्र जी अपने दरबार में बन्धुबान्धवों और सभासदों सहित मुनिवर को प्रणाम करते हैं, अर्घ्यादि से उनकी स्तुति करते हैं और उन्हें उचित आसन पर बैठाते

---

१- बो० ह०रा० पृ० ६६-६७।

२- चीधर- बं०ना०पृ० ३२।

३- हाथी हय हीरा सिरपेच बेगा चीरा संग,
लेते सरोपाव पास आन ले-ले आए है।
अतर गुलाब बीरा होत है पवन बीरा,
लेकर नवाब सबही को पहिरायो है। सू०सु०च०पृ० ६४।

४- तब कूरम चित चाय सुजान बुलाइके। हय गय मुक्ताहार बसन पहिराय के।
कियो अधिक सन्मान विदा करि देस को। कहियो यह संदेस नृपति बदनेस
को॥
सू०सु०च०पृ० ३९-४०।

५- गौरे- छ०पृ०पृ० ३४-३५।

है[1]। युद्ध में जाने से पूर्व भी महाराज हम्मीर ने गुरू, विप्रों की पूजा की थी[2]। युद्ध में विजय-प्राप्ति के बाद सभी लोग एकत्र होते है। अमीर-उमराव सम्राट् को सलाम करने जाते हैं। अनेक प्रकार के बहुमूल्य उपहार सम्राट् की सेवा में प्रस्तुत करते हैं। राजा प्रसन्नता की अभिव्यक्ति और सहायकों के सहयोग और प्रशंसा की विज्ञप्ति हेतु अनेक प्रकार की उपाधियाँ वितरित करता है[3]। स्वागत-सत्कार के समय पान के बीड़े दिये जाते थे। विरह-बारीश और सुजान चरित में इनके उल्लेख आये हैं[4]।

४८- किसी के आगमन का अवसर शिष्टाचार की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण होता है। आगमन पर हर प्रकार के स्वागत की व्यवस्था और प्रसन्नता की अभिव्यक्ति की जाती है। आगन्तुक की कृपा और वत्सलता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन किया जाता है। अतिथि के लिए आसन-भोजनादि की व्यवस्था की जाती है[5]। सन्तों एवं वरेण्य व्यक्तियों के आगमन पर चरण

---

१- सबंधु रामचन्द्र बू उठे विलोकि के तबै।
सभा समेत पा परे विशेषि पूजियो सबै।
विवेक सौं अनेकधा दए अनूप आसने।
अनर्घ अर्घ आदि दै विनै किये घने-घने।। के०की० २।२५।

२- आप राव बहुमान हमीर तुरंत मंगायो गंग को नीर।
करि सनमान दान बहु दीन्हौं बहुरि विप्र गुरू पूजन कीन्हौं।।
ब०रा०भा० इ० पृ० ३६।

३- कीरत- बं०ना० पृ० २७।

४- करि सनमान पास बैठायो। वीरा दै वृत्तांत सुनायौं।
बी०वि०भा०पृ० ३८। और भी सू०सु०च०पृ० ६८।

५- अरघ देइ भीतर घर लीन्हो। धनि धनि तिन कहि आदर दीन्हौं।
चरन धोइ आसन बैठायो। बहु प्रकार भोजन करवायो।।
कुंवरसीदास- हिन्दी सेवेक्षण्स, पृ० ७८।

पधारे जाते हैं और विधिवत् पूजा की जाती है[1] । विदा की बेला अत्यन्त क्लेशकारिणी होती है । प्रिय व्यक्तियों से बिछड़ने का क्लेश असह्य हो जाता है । चन्द्रमुखी नायिका प्रियतम के जाने का समाचार सुनकर व्याकुल हो गयी । जाते समय की शिष्टाचार-गत औपचारिकता के लिए दूध, दही, बीफल, रुपया, रोली आदि रख कर उसकी सास अपने बेटे के लिए टीका की व्यवस्था करती है । अवसाद जन्य विस्मृति के कारण वह धान में चावल रखना भूल गई । बधू को वह तंदुल लाने का आदेश देती है और बधू तंदुल लेकर आती है किन्तु उसके शरीर की ऊष्मा और पसीने के योग से चावल पक कर भात बन जाते हैं[2]। केशव ने भी विदा के अवसर पर टीका करने और बीरा देने का उल्लेख किया है[3]।

शिक्षा:

४९- शिक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व के संस्कार और परिष्कार का सबसे महत्वपूर्ण साधन है । मध्यकाल में अनेक कारणों से सार्वभौम शिक्षा के लिए कोई संगठित प्रयास राज्य की ओर से नहीं किया गया है । साहित्य में तो शिक्षा की योजना संबंधित संदर्भ अत्यल्प है ही, ऐतिहासिक ग्रंथों में भी पर्याप्त नहीं है । वस्तुतः व्यापक और सार्वभौम शिक्षा की अवधारणा लोक-मंगलकारी राज्य में ही जन्म लेती है और मध्ययुग के शासन का उद्देश्य लोक-मंगल न होकर एक वर्ग विशेष का कल्याण-साधन था । इतिहास ग्रंथों

---

१- करि दण्डौत प्रदक्षिणा कीनी बिगसत अंक भरे ।
--चरण पखार लिए चरणोदक पूरब पाप गरे ।।

सु०गं०पु० ९१२ ।

२- गुजरात- सा०र०पु० १५९ ।

३- तब तिनि विदा करी सुख पाई निर्मल पट पियरो पहिराई ।
भात सुवस की टीका दीनो सकल सिद्धि की बीरा दीनो ।।

के०की०दे०च० पृ० १९१ ।

से, मालोच्यकाल में हिन्दू और मुसलमानी दो प्रकार की शिक्षा- प्रणालियों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। हिन्दुओं के अध्ययन के स्थानों को पाठशाला कहते थे और मुसलमानों की पढ़ाई के स्थान अब मक्तब और मदरसा कहलाते थे। बर्नियर ने काशी की एक पाठशाला में गणित, संस्कृत आदि की शिक्षा का प्रबन्ध होने का उल्लेख किया है। पाठशालाओं में हिन्दू संस्कृति के वरेण्य ग्रंथ और विषय पढ़ाये जाते थे। उस्मान ने चित्रावली की शिक्षा के प्रसंग में अमरकोश, व्याकरण, वैद्यक, पिंगलशास्त्र, संगीत, ज्योतिष, भूगोल के अतिरिक्त व्यायाम, मल्ल, धनुष-बाण, शब्दवेध, आखेट आदि की शिक्षा का भी उल्लेख किया है[1]। इतिहास के स्रोतों से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि हिन्दुओं के बच्चे प्रायः पांच वर्ष की वय में पाठशाला जाने लगते थे। सबलसिंह ने भी पांच वर्ष की आयु में बालक को पढ़ने के लिए बैठाये जाने का उल्लेख किया है[2]। विरह-वारीश में पांच वर्ष की वय में, विप्र को बुलाकर बालक का विद्यारंभ कराने की बात कही गयी है[3]। हिन्दुओं ने शिक्षा के क्षेत्र में ब्राह्मण वर्ग अग्रगण्य रहा है। मालोच्यकाल में पतनोन्मुख होने पर भी उनकी यह स्थिति बहुत कुछ बनी रही। अर्थ कथा में एक स्थान पर यह कहा गया है कि अधिक अध्ययन तो ब्राह्मण और भाटों को ही शोभा देता है, बनिए पुत्र को तो वणिक्वृत्ति में ही लगना चाहिए। अधिक पढ़ने वाले

---

१- अमर कोश व्याकरन बखाना, जोग वैद्यकहिं के सब जाना ।।
पिंगल सबु दीरघ पिंडतासी, छंदहि मांझ छन्द चौरासी ।।
पढ़ी संगीत ताल सेवरावा, एक सुर मंह सब राग सुनावा ।।
जोतिग मंह कोउ बादैं न काटा, एक पल सहस बार के बांटा ।।
अंस भूगोल बखानि सुनावा, पल मंह मनु पुहुमी फिरि आवा ।।
उ०चि०पृ० २३ ।

२- सबलो० स०प्र०पृ० ५० ।

३- पंच वर्ष जब बिहत तब कृत बंध कीन्हौं तात ।
† † †
कछु दिन विप्र अपने गेह पढ़वो को कियो अति नेह ।।
बोधा०वि०वा०पृ० १९ ।

लोग भीख मांगते हैं[1] । स्त्रियों की शिक्षा प्रायः घर में ही होती थी । हिन्दू स्त्री के लिए पति ही सर्वस्व समझा जाता रहा है इसलिए उसकी समस्त शिक्षा दीक्षा का उद्देश्य पति को प्रसन्न रखना और पारिवारिक वातावरण में शान्ति और सौख्य की स्थापना करना था । बकवर उसी कामिनी को बड़भागिनी बताते हैं जिसके कान सदैव प्रियतम की प्रेम-कथा में पगे रहें । निशिवासर प्रियतम के संग रहने वाली स्त्री ही सराहनीय है, जिसे प्रियतम का प्रेम प्राप्त है वही स्त्री धन्य है[2] । विरह-बारीश में सुमंत नायक कायस्थ की कन्या लीलावती का भी पांच ही वर्ष की अवस्था में विद्यारम्भ का प्रमाण मिलता है । उसे व्याकरण, भाष्य, संगीत, नृत्य और वाद्य आदि सभी प्रकार की शिक्षा दी गयी थी[3] । इसके अतिरिक्त स्त्रियों को चित्रकारी की भी शिक्षा दी जाती रही है । रीतिकालीन काव्य में नायिकाओं द्वारा चित्रकारी के संकेत है । अनुराग बांसुरी में इसका उल्लेख आया है[4] ।

---

१- बहुत पढ़े बांमन अरु भाट । बनिक पुत्र सौ बैठे हाट ।।
बहुत पढ़े सो मांगे भीख । मानहु पूत बड़े की सीख ।।
ब० अ- क० पृ० २३ ।

२- बकवर- बृं० सं० पृ० ११३

३- कायथ नाम सुमन्त तासु सुता लीलावती
बालदशा में बालपढ़ी व्याकरण भाष्य तब
निरुक्त ग्रंथ रसाल बरवखित नूतन रच्यो-
- - -
पांच वर्ष में कन्या जबही लग्यो पढ़ावन नायक तबही ।
सुरगति ताल साव बतावै राग रागिनी भेद पढ़ावै ।।
तिवरी तांड बनाव नचावै ---------- ।।
बी० वि० ता० पृ० १४ -१७

निष्कर्ष -

५०- रीतिकालीन काव्य में चित्रित समाज की जीवन दृष्टि के संबंध में विचार करने पर हम कुछ इन निष्कर्षों पर पहुंचते है। रीतिकाल का समानांतर ऐतिहासिक युग राजनीतिक और सांस्कृतिक पराजय का काल है। भारतीय जन राजनीति के क्षेत्र में पराजित मनोभाव लेकर और उदासीन हो गया था। राजनीति जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है किन्तु वह जीवन का सर्वस्व है नहीं। भारतीय जन ने राजनीतिक पराजय के इस काल में राजनीति के प्रति उदासीन रहकर राजनीतिक स्वतंत्रता के अभियान को विलंबित कर दिया। सांस्कृतिक स्तर पर भी इस काल का इतिहास पराभूत जाति की कहानी है। राजकुल और लोक जीवन के बीच इस युग में एक गहरी खाई मिलती है। सांस्कृतिक पराभव के परिणामस्वरूप हिन्दू जाति का सांस्कृतिक विनाश होते-होते इसलिए बच गया कि लोक जीवन कभी मूल से विच्छिन्न नहीं हुआ। जाति में जिजीविषा शेष थी। तत्कालीन कविता का अधिकांश लोकजीवन से दूर है। उसे वहां से पोषक-तत्व नहीं प्राप्त होते इसलिए काव्य में एक रसता और यत्र-तत्र विरसता दिखायी देती है। रीतिकालीन काव्य में अतिशय भोग और अत्यन्तिक विरक्ति दोनों प्रकार की मनोवृत्तियां देखने को मिलती है। कहीं-कहीं एक ही कवि के काव्य में आगे पीछे ये दोनों मनः स्थितियां द्रष्टव्य हैं जैसे केशव मतिराम और पद्माकर आदि में। कुछ कवियों का सम्पूर्ण काव्य ही वैराग्य का उदबोधक है। यह प्रवृत्ति संत कवियों में देखी जा सकती है। ये दोनों प्रवृत्तियां एक ही स्थिति की प्रतिफल है। पहला जिसमें लिप्त हो जाता है दूसरा उसके निकट जाकर निःसंग और निर्लिप्त न रह पाने के डर से दूर भागता है। ये दोनों ही गीता के कर्म-सन्यास के अनुकूल नहीं पड़ते। समाज की भोगप्रधान अवस्था में, (जैसी कि रीतिकालीन काव्य की चित्रित समाज में देखने में आती है) भोगोपलब्धि के प्रधान साधनों, कंचन-कामिनी और शक्ति का महत्व बढ़ जाता है।

संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है कि यौवन, धन, संपत्ति, प्रभुत्व और अविवेक इन चारों में से किसी भी एक की उपस्थिति अनर्थ का पर्याप्त कारण बन जाती है। फिर रीतिकालीन समाज के एक वर्ग के पास तो इनमें से अन्तिम तीन प्रचुर मात्रा में और इन तीन के द्वारा वे वृद्ध होकर भी युवा बनने के साधन उपलब्ध कर लेते थे। जहांगीर की मदिरा के प्रति, अकबर और शाहजहां की स्त्री के प्रति आसक्ति को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। कवि इस विलासी संपन्न सामन्तवर्ग के निकट था इसलिए उसके काव्य में यह छाया प्रायः सर्वत्र देखने को मिलती है। कहीं-कहीं कवि उस वातावरण में लिप्त हो जाता है और कहीं उसके प्रति वेष्टित उदासीनता की अभिव्यक्ति करता है किन्तु कुल मिला कर उस संबंध में कवि में स्वस्थ और संतुलित दृष्टि का अभाव है। उसकी काव्य प्रतिभा एक सीमित घेरे में चक्कर काटती है।

५१- रीतिकालीन समाज की जीवन-दृष्टि का अधिक आशावनक पक्ष हमें तब दिखायी देता है जब आने-जमाने कवि लोक-जीवन से प्रभावित हो जाता है। तब उसके काव्य में हमें धार्मिक विविधता और उसमें सन्निहित एक सूत्रता के साथ-साथ दर्शन होते हैं। अनेकता और एकता का यह विरोधाभासी सह-अस्तित्व ही हिन्दुत्व का मूलाधार है। यह सह-अस्तित्व हिन्दुत्व में संभव भी कदाचित् इसीलिए हुआ है कि हिन्दू धर्म का प्रणेता और प्रवक्तल प्रवर्तक कोई एक व्यक्ति नहीं अपितु संपूर्ण लोक जीवन और जाति है। उसका निर्माण एक समय एक व्यक्ति या एक व्यक्ति-समूह और एक देश-विशेष में नहीं हुआ। हिन्दू की आस्था बहुदेवतवाद के बावजूद भी परमतत्व की एकता पर अटल बनी रही। एक ने उसे कठोर अनुशासन और सम्बन्ध गतिहीनता से बचाया तो दूसरी ने उसे विशृंखल नहीं होने दिया। रीतिकालीन काव्य में जाति के विश्वासों और अज्ञात आधार वाले विश्वासों के जो उल्लेख मिलते हैं उनसे यह स्पष्ट है कि सांस्कृतिक अधोगति के युग में ठोस आधार वाले विश्वासों की संख्या

क्रमशः कम होती जा रही थी और जो विश्वास हमारे दैनंदिन जीवन की प्रेरणा के स्रोत थे, उसका नियमन करते थे, उनके भी आधार शिथिल और दूर होते जा रहे थे। लोकजीवन का उनसे निकट परिचय प्रायः नहीं रह गया था। भारतीय दर्शन में कर्मफलवाद और भाग्यवाद में से किसी एक को सार्वभौम मान्यता कभी नहीं मिली और यह आलोच्यकालीन जीवन-दृष्टि में भी देखने को मिलता है किंतु ऐसा संभवतः दोनों वादों के निहितार्थ को न समझने के कारण हुआ। संक्षेप में भाग्यवादियों की मान्यता यह है कि हमें जो कुछ भी प्राप्त होता है वह प्रारब्ध का फल है। कर्मफलवादी भी इसे अस्वीकार नहीं करता। वह इतना और जोड़ देता है कि हमारे भाग्य का निर्माण करने वाला तत्व कर्म है। इस प्रकार इन दोनों में समझौता कठिन भले ही हो पर असंभव नहीं है। सांस्कृतिक उत्थान के युग में यह समझौता रहा करता है। तत्कालीन काव्य में चित्रित समाज ज्योतिष और शकुनापशकुन आदि पर भी विश्वास करता रहा है। स्त्री का महत्व या पुरुष और स्त्री की समानता और सांस्कृतिक उत्थान ये दोनों प्रायः समानान्तर चलते हैं। समाज में छोटे-बड़े का भेद और ऊंच-नीच का अन्तर तभी अधिक होता है जब बड़ों की महत्ता के ठोस आधार नहीं रह जाते। इसलिए रीतिकाल में स्त्री-पुरुष और ऊंच-नीच का अन्तर प्रचुर मात्रा में देखने को मिलता है। पर्दा, दहेज, सती और पुरुषों के एकाधिक विवाह के चलन इस बात के साक्षी हैं कि स्त्री का महत्व घट गया था और उसका शोषण तक आरंभ हो चुका था। इसी प्रकार समाज में व्यापक पैमाने पर संपन्न और विपन्न के बीच गहरा अन्तर मिलता है। शिष्टाचार उस सीमा तक आवश्यक है, जहां तक वह सामाजिक शृंखला को टूटने से बचाने में सहायक हो। छोटे बड़ों के प्रति आदर और सम्मान की भावना से पूरित हों और बड़े छोटों के प्रति सहिष्णु हों वहां तक शिष्टाचार अपनी उपयोगिता रखता है किन्तु यह समझौता जब सम्यक्रूपेण सन्तुलित नहीं रह पाता तो

शिष्टाचार के रूप में एक निर्जीव औपचारिकता को प्रश्रय मिलने लगता है।लोकजीवन में परिवार में विशेषकर, यह समझौता अपने वास्तविक रूप में मिलता है इसलिए वहां शिष्टाचार के सर्वोत्तम परिणाम निकलते है। किंतु रीतिकालीन काव्य में चित्रित समाज के विभिन्न वर्गों में इस आदान-प्रदान और संतुलन का अभाव है इसलिए वहां यह वांछित प्रतिफल नहीं दे पाता। उपहार और नज़र आदि की औपचारिकता में प्रदर्शन तो है किंतु उसका कोई आंतरिक आधार नहीं है इसलिए वह निर्जीव है और स्वयं जीवनी शक्ति से हीन वस्तु वन्ध्या होती है वह किसी प्रकार का सृजन नहीं कर सकती।

—•—

# पुनरवलोकन एवं समाहरण

# पुनरवलोकन एवं समाहरण

२- समाज की राजनीतिक और आर्थिक संरचना के शिखर पर भी धन-शक्ति और राजशक्ति का केन्द्र उपयोगिता से अधिक विलास को महत्व देने वाला, शोषित राष्ट्रीय धन का अधिकांश ऐश आराम में लगाने वाला राज-कुल और सामन्तपरिवार स्थित है इसलिए सभी अकाल में जनसामान्य की आर्थिक विपन्नता के और राजनीतिक शोषण तथा प्रतारणा के पृथक चित्र न होने पर भी यह कहने के लिए पर्याप्त आधार है कि प्रजाजन अधिकार-विहीन थे, उनमें सजग राजनीतिक चेतना का भी अभाव है, संघर्षशक्ति नहीं है और आर्थिक दृष्टि से भी वे विपन्न है ।

३- रहन-सहन के विविध पार्श्व खानपान, वेशभूषा, आवास एवं भवन-सज्जा, शृंगार-प्रसाधन, अलंकरण तथा मनोरंजन के संबंध में काव्यगत समाज की स्थिति यह है कि सामाजिक का जीवन दैनन्दिन अनिवार्य आवश्यकताओं की ओर ध्यान कम और विलास सामग्री के संचय एवं उपयोग के प्रति वह अधिक सजग है । रहन-सहन में उच्चवर्ग और निम्नवर्ग(मध्यवर्ग का अस्तित्व प्रायः नहीं है ) के मध्य और वैषम्य दिखायी पड़ता है । उच्चवर्ग के जीवन में जहां बहुलता और वैशद्य है, विलासोन्मुख शृंगार और अलंकरण का वैभव है वहां दूसरी ओर अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी असंभव होने के कारण दो वर्ग का भोजन, पहनने-ओढ़ने के कपड़ों, रहने के मकान का भी अभाव है, पर्याप्तता और विविधता उनके लिए अकल्पनीय है । रीतिकालीन काव्य के नायक नायिका शृंगार प्रसाधनों और अलंकरणों के प्रति अत्यन्त सजग है, उनकी सौंदर्य दृष्टि सहज रमणीयता की अपेक्षा प्रसाधन-साधनोन्मुख है । समाज का वह वर्ग जिस पर समाज की शांति, सुरक्षा और सुव्यवस्था का दायित्व है प्रयोजनहीन कार्यों में अपना समय बिताता है, कर्म से विरत होकर विश्राम और मन बहलाव के लिए वे मनोरंजन की सामग्री नहीं जुटाते मनोरंजन ने कर्म का स्थान ले लिया है ।

४- लोक मानस के विश्वासों एवं विशुद्ध धार्मिक मूल्यों का गौर-गौर संयोग प्रस्तुत करने वाले हिन्दू संस्कारों के वैज्ञानिक आधार छूट गये है ।

आलोच्यकाल में उतनी विशदता के साथ ये संस्कार भी नहीं संपन्न किये जाते किन्तु विवाह, जिसके माध्यम से मनुष्य की अवैध कामैषणा को संतुलित, विनियमित और फलीभूत किया गया है भाव भी उतनी ही महत्वपूर्ण और सार्वभौम रूप से प्रचलित है। स्त्री और पुरुष दोनों के व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन की पूर्णता के लिए वह अपरिहार्य उपाधि है। लोकजीवन के उत्साह और आह्लाद को प्राकृतिक परिवर्तनों के समानान्तर व्यक्त करने वाले कृषि प्रधान भारत के पर्वों और उत्सवों को रीतिकाल का रसिककवि समग्रता में ग्रहण और चित्रित नहीं कर सका। परिमाण की दृष्टि से रीतिकाव्य में होली की उन्मुक्ति और वसन्तोत्सव के रागरंग का वर्णन अधिक है और अन्यत्र भी मधुलोभी कवि माधुर्य की ही खोज में रहता है। इन पर्वोत्सवों में हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय की झलक भी मिलती है।

५- सांस्कृतिक उत्थान और नारी का महत्व समानान्तर चलते हैं। सांस्कृतिक पराभव के इस युग में रसिक और संतकवियों की नारी संबंधी दृष्टि में उतना ही भेद होने पर भी मूलभूत समानता है। रसिक कवियों के मन में नारी के रूप और मन के प्रति गहरी ललक और आसक्ति मिलती है जिसके कारण वे नारी के प्रमदात्व एवं रमणीत्व को अधिक रसमयता के साथ वाणी दे सके हैं। संतकवियों में काव्य-दृष्टि के मूलभूत सहिष्णुता और निःसंगता के स्थान पर नारी के प्रति अतिशय विरक्ति और मन-तन कटुता दिखायी पड़ती है। कवित्व सवैयों के रूप में तत्कालीन काव्यविधा में विराट् एवं व्यापक फलक को समेटने की क्षमता भी नारी जीवन के अधूरे चित्र के लिए उत्तरदायी है। फलस्वरूप माता बहिन कन्या आदि रूपों में नारी जीवन के जो विशद् चित्र मिलने चाहिए थे, आलोच्यकाल में उनका अभाव है जीवन के कर्मक्षेत्र की सहचरी तथा अर्धांगिनी का भी जो चित्र मिलता है उसमें उच्च स्थलों पर माधुर्य और अपेक्षाकृत अशक्त काव्यस्थलों पर एकरसता और तन्वन्य विरसता के दर्शन होते हैं। कवि की रसिकता में सूक्ष्म क्षमता का अभाव है। नारी जीवन के अपेक्षाकृत व्यापक चित्र सूफी कवियों में मिलते हैं जिनकी इश्कहकीकी उनकी दृष्टि को संकुचित और एकांगी नहीं बनाती।

६- सांस्कृतिक स्तर पर इस काल का इतिहास पराभूत जाति की कहानी है, तथापि हिन्दू जाति का सांस्कृतिक विनाश होते - होते इसलिए बच गया कि लोकजीवन कभी मूल से विच्छिन्न नहीं हुआ । जाति में जिजीविषा शेष थी । तत्कालीन कविता का अधिकांश लोकजीवन से दूर है । रीतिकालीन काव्य में अतिशय भोग एवं आत्यंतिक विरक्ति दोनों प्रकार की मनःस्थितियां देखने को मिल जाती हैं, कहीं-कहीं एक ही कवि के काव्य में आगे-पीछे ये मनोदशाएं द्रष्टव्य हैं । समाज की भोगप्रधान अवस्था में भोगोपलब्धि के प्रधान साधनों कंचन-कामिनी एवं शक्ति का महत्व बढ़ गया है । यौवन-धन-सम्पत्ति, प्रभुत्व और अविवेक में से अंतिम तीन-सम्पन्न-सामन्तवर्ग के निकट होने के कारण तत्कालीन कवि का काव्य उस वातावरण में निर्मज्जित हो जाता है और कहीं उसके प्रति विरक्ति मिलती है किन्तु कुल मिलाकर जीवन के प्रति उसमें स्वस्थ एवं संतुलित दृष्टि का अभाव है । कवि जाने अनजाने जब लोकजीवन के निकट पहुंच जाता है तब उसके काव्य में हिंदुत्व के मूलाधार-स्वरूप अनेकता और एकता के विरोधाभासी सहअस्तित्व के दर्शन होते हैं, बहुदेवतावाद के बावजूद भी परमतत्व की एकता पर उसकी आस्था व्यक्त होती है जिनमें से एक ओर कठोर अनुशासन और सम्भावित गतिहीनता से बचाता है तो दूसरा विश्वास उसे विशृंखल नहीं होने देता । सांस्कृतिक अधोगति के युग में ठोस आधार वाले विश्वासों की संख्या कम और अज्ञात व निराधार विश्वासों की संख्या अधिक होती जा रही थी । भारतीय दर्शन की कर्मफलवाद, भाग्यवाद और पुनर्जन्मवाद संबंधी मान्यताएं यथावत् थीं किन्तु जातीय जीवन में भाग्य का आधार अधिक लिया जाने लगा था । सम्पन्न एवं विपन्न, ऊंच और नीच, छोटे और बड़े के बीच घृणा और आदर, सहिष्णुता एवं सम्मान का आदान प्रदान उतना संतुलित नहीं रह गया था । दायित्वपूर्ण वर्ग अपने अधिकारों के प्रति अधिक सचेष्ट एवं कर्तव्यों के प्रति उदासीन है । शिष्टाचार भी यदा-कदा औपचारिकता की सीमा का संस्पर्श करता है ।

७- रीतिकाल के काव्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि लोक जीवन में ऐहिकता और काम परकता की दृष्टि प्रधान हो गयी थी कदाचित्

उचित नहीं होगा । वास्तविकता यह है कि रीतिकाल का प्रतिनिधि काव्य लोकजीवन से असम्पृक्त हो गया था, इसके निर्माण-कारी तत्वों के कारण व्यापक भारतीय जीवन कवि से दूर था । फलस्वरूप रीतिकालीन काव्य के आधार पर काव्य के प्रेरक समाज के वातावरण को ऐतिहासिक प्रधान और काम चलाऊ बताना आधार और इतिहास सम्मत है । कवियों ने जहां लोकजीवन के चित्र दिये है उनमें असामान्यता आ गयी है । जिनके संबंध में प्रायः तीन स्थितियां दिखायी पड़ती है-

(क) वर्ण्यवस्तु - घटना व्यक्ति या स्थिति, वैभव-विलास में आकण्ठ मग्न राजकुल या सामंत परिवार से ली गयी है ।

(ख) वर्ण्यभाववस्तु का धरातल सामान्य लोक जीवन होने पर उसमें असामान्य जीवन का आरोप कर दिया गया है ।

(ग) कवि ने चरित्र, परिस्थितियों और घटनाओं के संचय में लोकजीवन से उन्हीं को ग्रहण किया है जो कामपरक होने के कारण कवि का आत्मगत प्रयोजन सिद्ध करती है ।

८- अपने काव्य के अलंकरण के लिए कवि ने जिन उपमानों एवं काव्योपकरणों का विधान किया है उन्हें देखने पर भी ज्ञात होता है कि कवि का प्रेरक और साध्य व्यापक भारतीय-जीवन नहीं था । रीति-कवियों के काव्योपकरणों को निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है -

(क) परंपरागत काव्योपकरण जिनके प्रयोग से सृष्टा मौलिक-उद्भावना शालिनी प्रतिभा का अभावमात्र विदित होता है ।

(ख) मौलिक किन्तु दूराकृष्ट और असंवेद्य काव्योपकरण ।

(ग) पर्यावरण से चुने गये काव्योपकरण जिनमें से जिनका चयन पूर्वनिर्धारित है ।

९- साहित्य एवं साहित्येतर स्रोतों के आधार पर रीतियुगीन

जीवन के चित्रों में आश्चर्यजनक साम्य देखने को मिलता है जिसका कारण संभवतः यह है कि साहित्य और इतिहास दोनों की मूल प्रकृति आभिजात्य है। वाङ्मय में लोक की प्रतिष्ठा तो अब हुई है।

---

# अनुबंध

# पुस्तक सूची

## आधार ग्रन्थ


१- अकबर साहि - शृंगार मंजरी, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, १९५६ ई०

२- आलम - आलम केलि, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९१२ ई०

३- उस्मान - चित्रावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९१२ ई०

४- कासिमशाह - हंस जवाहिर, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, १९३७ ई०

५- कुमारमणि - रसिक रसाल, विद्या विभाग, कांकरौली, १९९४ वि०

६- कुलपति -रसरहस्य, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९५४ ई०

७- केशवदास - केशव कौमुदी भाग १, राम नारायण लाल, इलाहाबाद, २००४ वि०

८- " - केशव कौमुदी भाग २, राम नारायण लाल, इलाहाबाद, १९५० ई०

९- केशवदास - केशव ग्रन्थावली भाग १, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५८ई०

१०- केशवदास - केशव ग्रन्थावली भाग २, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५९ ई०

११- केशवदास- केशव ग्रन्थावली भाग ३, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद १९५९ई०

१२- केशवदास- वीरसिंह देव चरित, मातृभाषा मंदिर, प्रयाग, २०१२ वि०

१३- केशवदास- विज्ञान गीता, मातृभाषा मंदिर, प्रयाग, २०११ वि०

१४- केशवदास- कविप्रिया, मातृभाषा मंदिर, प्रयाग, १९५२ ई०

१५- केशवदास- रसिक प्रिया, मातृभाषा मंदिर, प्रयाग, १९५४ ई०

१६- ग्वाल - ग्वाल रत्नावली, भारतवासी प्रेस, इलाहाबाद, १९५५ ई०

१७- गोरेलाल- छत्रप्रकाश, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९५६ ई०

१८- घनानंद- घनानंद ग्रंथावली, वाणी वितान, वाराणसी, १९५८ ई०

१९- घाघ-भड्डरी - घाघ भड्डरी की कहावतें, वाणी वितान, वाराणसी, १९५८ ई०

२०- चन्द्रशेखर वाजपेयी- हम्मीर हठ, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,

२१- जोधराज - हम्मीर रासो, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९०८ ई०

२२- ठाकुर - ठाकुर ठसक, साहित्य सेवक कार्यालय, काशी, १९८३ वि०

२३- तोष - सुधानिधि, भारत जीवन प्रेस, काशी, १८९२ ई०

२४- दरिया - दरिया ग्रंथावली, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, २०१८वि०

२५- दीनदयाल गिरि- दीनदयाल ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९७६ वि०

२६- दूलह - कविकुल कंठाभरण, सुकवि सुधा कार्यालय, लखनऊ, १९९२ वि०

२७- देव - भावविलास, तरुण भारत ग्रंथावली कार्यालय, इलाहाबाद, १९९१ वि०

२८- देव - शब्द रसायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००४ वि०

२९- देव - रस विलास, बनारस मर्केन्टाइल कं०, कलकत्ता, १९६१ वि० ई०

३०- देव- देव दर्शन, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९४६ ई०

३१- देव- सुधा, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, २००५ वि०

३२- नागरीदास, नागर समुच्चय, ज्ञान सागर छापाखाना, मुंबई, १८१८ ई०

३३- नूर मुहम्मद - अनुराग बांसुरी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००२ वि०

३४- पद्माकर, पद्माकर ग्रंथावली, नारी प्रचारिणी सभा, काशी, २०१६ वि०

३५- पद्माकर, पद्माकर पंचामृत, रामरत्न पुस्तक भवन, काशी, १९९२ वि०

३६- पलटू, पलटू दास की बानी, बेलवेडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद, १९३५ ई०

३७- बनारसीदास - अर्धकथा, संशोधित साहित्य माला, बम्बई, १९५७ ई०

३८- बिहारी, बिहारी रत्नाकर, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, १९८३ वि०

३९-बिश्वनाथ प्रसाद मिश्र- बिहारी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २०१६ वि०

४०- बेनी-प्रवीण - नवरस तरंग, प्राचीन कवि माला कार्यालय, काशी, १९२५ ई०

४१- बोधा - विरह वारीश, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, १८९४ ई०

४२- भिखारीदास- भिखारीदास ग्रंथावली भाग १, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २०१३ वि०

४३- भिखारीदास- भिखारीदास ग्रंथावली भाग २, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २०१४ वि०

४४- भूषण - भूषण ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २००५ वि०

४५- भूषण, भूषण ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २०१५ वि०

४६- भूषण - भूषण ग्रंथावली, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९७८ वि०

४७- मतिराम- मतिराम ग्रंथावली, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, १९९१ वि०

४८- मान कवीश्वर- राव विलास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २०१५ वि०

४९- रघुनाथ - रसिक मोहन, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, १८९० ई०

५०- श्रीधर - बंगनामा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९०४ ई०

५१- सहजोबाई- सहज प्रकाश, वेंकटेश्वर, स्टीम प्रेस, बम्बई, १९९४ वि०

५२- सुन्दरदास- सुंदरदास ग्रंथावली १-२, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता, १९९३ वि०

५३- सूदन- सुजान चरित, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९९० वि०

५४- सेनापति- कवित्तरत्नाकर, हिन्दी परिषद्, प्रयाग, १९४९ ई०

काव्य-संग्रह

५५- राम नरेश त्रिपाठी - कविता कौमुदी भाग १- नार्दन इंडिया पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९४६ ई०

५६- वियोगी हरि - ब्रजमाधुरी सार- हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००६ वि०

५७- डा० नगेन्द्र- रीति शृंगार, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९५४ ई०

५८- बलवीरसिंह- रसखान और घनानंद, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २००८ वि०

५९- -संतवाणी संग्रह, बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, १९३२ ई०

६०- रामशंकर त्रिपाठी- साहित्य प्रभाकर, मोहनलाल प्रेस, कलकत्ता, १९८२ वि०

६१- रहामजी घर्मसिंह- साहित्य रत्नाकर, राजकोट, काठियावाड, १९२६ ई०

६२- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र- सुंदरी तिलक, खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर, १८९२ वि०

६३- गणेश प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी के नौ कवि और काव्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९३९ ई०

६४- लाला सीता राम- हिन्दी सेलेक्शन्स पुस्तक ४ भाग १, यूनिवर्सिटी बाफ कैलकटा, कलकत्ता, १९३५ ई०

६५- लाला सीता राम- हिन्दी सेलेक्शन्स पुस्तक ४ भाग २, यूनिवर्सिटी बाफ कैलकटा, कलकत्ता, १९३६ ई०

सहायक ग्रंथ (हिन्दी)

६६- गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी- वैदिक विज्ञान और भारती संस्कृति, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना, १९६० ई०

६७- गुलाबराय - काव्य के रूप, प्रतिभा प्रकाशन मंदिर, दिल्ली, १९५० ई०

६८- गुलाबराय- सिद्धान्त और अध्ययन, प्रतिभा प्रकाशन मंदिर, दिल्ली, २००६ वि०
६९-चतुरसेन शास्त्री- भारतीय संस्कृति का इतिहास, रस्तोगी एण्ड कंपनी, मेरठ, १९५८ ई०
७०- तुलसीदास- कवितावली, व रामप्रसाद एण्ड ब्रदर्स, आगरा, १९२७ ई०
७१- तुलसीदास- रामचरित मानस (गुटका), गीता प्रेस, गोरखपुर,
७२- धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, सन्तकवि (एक अनुशीलन) बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९५४ ई०
७३- धीरेन्द्र वर्मा - मध्यदेश, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९५५ ई०
७४- धीरेन्द्र वर्मा- हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड, भारतीय, हिन्दी, परिषद्, प्रयाग, १९५९ ई० ।
७५- नगेन्द्र- रीतिकाव्य की भूमिका, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९४९ ई०
७६- नगेन्द्र- देव और उनकी कविता, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९४९ ई०
७७- नगेन्द्र- हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास (अष्ठभाग), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २०१५ वि०
७८- नामवर सिंह- इतिहास और आलोचना, लोकसाहित्य प्रकाशन, बनारस, १९५६ ई०
७९- ब्रजरत्नदास- बहांगीरनामा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २०१४ वि०
८०- बेनी प्रसाद- हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, हिन्दुस्तानी एकडमी, इलाहाबाद, १९३१ ई०
८१- बी० एल० सूनिया- भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, नारायन प्रकाशन, आगरा, १९५८ ई०
८२- बी० एल० शर्मा- भारतीय संस्कृति का विकास, लक्ष्मी प्रकाशन मंदिर, खुरजा, १९५२ ई०
८३- बैजनाथ पुरी- भारती संस्कृति और इतिहास, भारतीय विद्या भवन, इलाहाबाद, १९५८ ई०
८४- भगवत शरणउपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, जनवाणी प्रेस, बनारस, १९५० ई०
८५- भावती प्रसाद पंचोरी- मुगलराज महलों का जीवन, किताब महल, इलाहाबा १९४७ ई०

८६- मुंशी देवी प्रसाद - औरंगजेब नामा, तेमराज कृष्णदास, बम्बई, १९०९ ई०

८७- मुंशी देवी प्रसाद- हुमायूंनामा, भारत मित्र, कलकत्ता, १८७६ वि ई०

८८- मोती चन्द्र- प्राचीन भारत की वेशभूषा, भारती भंडार, प्रयाग, २००७ वि०

८९- रावबली पांडे- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (प्रथम भाग), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २०१४ वि०

९०- राम कुमार वर्मा - हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, राम नरायण लाल, इलाहाबाद, १९४८ ई०

९१- राम चन्द्र वर्मा - अकबरी दरबार, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९९२ वि०

९२- रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास- नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २०१२ वि०

९३- रामधारी सिंह दिनकर- संस्कृति के चार अध्याय, राजपाल एंड संस, दिल्ली, १९५६ ई०

९४- राम बहोरी शुक्ल- हिन्दी साहित्य का उद्भाव और विकास, हिन्दी भवन, इलाहाबाद, १९५६ ई०

९५- लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय- हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका, हिन्दी परिषद्, प्रयाग, १९५२ ई०

९६- वासुदेव शरण अग्रवाल- पाणिनी कालीन भारतवर्ष, नेपाली खपरा, बनारस, २०१२ वि०

९७- शिवराज शास्त्री- ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक संबंध, सीता कमल प्रकाशन, मेरठ, १९६२ ई०

९८- हजारी प्रसाद द्विवेदी- मध्यकालीन धर्म साधना, साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद, १९५६ ई०

९९- हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद, १९५४ ई०

१००- हरिदत्त वेदालंकार- भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, १९५५ ई०

१०१- हरिदत्त वेदालंकार- भारत का सांस्कृतिक इतिहास, भारतीराम एण्ड संन्स, दिल्ली, १९५२ ई०

१०२- त्रिभुवन सिंह - दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक, हिन्दी प्रचारक, पुस्तकालय, वाराणसी, १९५८ ई०

सहायक ग्रंथ (अंग्रेजी)

१०३- आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव- मुगल एम्पायर, मलहोत्रा ब्रदर्स, दिल्ली, १९५२ ई० ।

१०४- इलियट एण्ड डासन- हिस्ट्री आफ इण्डिया एज़ टोल्ड बाई इट्स, ओन हिस्टोरियन्स वण्ड १, २, किताब महल, इलाहाबाद

१०५- एडवर्ड टेरी - ए वायज़ टु दी ईस्ट इण्डिया, लंदन, १६५५ के संस्करण का लीची पुनर्मुद्रण

१०६- ए०एस०अल्टेकर- पोजीशन आफ विमेन इन हिंदूसिविलिजेशन, कल्चरल पब्लिकेशन हाउस, बनारस, १९३८ ई०

१०७- के०एम०मुंशी- इंडियन इन हैरिटन्स, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे, १९५६ ई०

१०८- मु० मुहम्मद अशरफ़ - लाइफ एण्ड कन्डीशन आफ पीपुल आफ हिन्दुस्तान, जीवन प्रकाशन, दिल्ली, १९५९ ई०

१०९- के० पणिक्कर- डिटरमिनिंग पीरियड्स आफ इंडियन हिस्ट्री, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६२ ई०

११०- गार्नर- पालिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेन्ट, दि वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता, १९५१ई०

१११- गिलक्राइस्ट- प्रिंसिपुल्स आफ पालिटिकल साइंस, मोरियण्ड लाग मन्स, दिल्ली, १९६२ ई०

११२- गेटिल- पालिटिकल साइंस, दि वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता, १९६१ ई०

११३- यदुनाथ सरकार- मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, ओमेनहाल्टल, कलकत्ता, १९३५ ई

११४- यदुनाथ सरकार- हिस्ट्री आफ औरंगज़ेब, एम०सी०सरकार, कलकत्ता, १९२४ ई०

११६- वे० मिल- हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इंडिया, वाल्डविन कारडक, लन्दन, १९२६ ई०

११७- टाड - एनल्स एण्ड एण्टीक्वीटीज आफ राजस्थान, कोनपाल, लण्डन, १९२० ई०

११८- तवर्नियर- ट्रैवेल्स इन इण्डिया, भाग १, २, आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लण्डन, १९२५ ई०

११९- निकोलाई मनूची- स्टोरिया द मोगार जिल्द ३, रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९०७ ई०

१२०- पर्सी ब्राउन- हिस्ट्री आव इण्डियन आर्किटेक्चर, १८७६ ई० का संस्करण

१२१- पर्सी ब्राउन- इंडियन पेंटिंग्स अंडर द मुग़ल, क्लैरेंडन प्रेस, आक्सफर्ड, १९५४ ई०

१२२- बर्नियर- ट्रैवेल्स इन इण्डिया, कान्सटेबिल एण्ड कं०, लण्डन, १८९१ ई०

१२३- बनारसी प्रसाद सक्सेना- हिस्ट्री आफ शाहजहां आफ दिल्ली, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, १९३२ ई०

१२४- मैलकाम - मेमायर्स भाग २, लण्डन, १९३२ ई०

१२५- यूसुफ हुसैन- गिलम्पसेज आफ मिडिएवल इंडियन कल्चर, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे, १९५९ ई०

१२६- मोरलैण्ड - इंडिया ऐट द डेथ आफ अकबर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६२ ई०

१२७- मोरलैण्ड- एग्रेरियन सिस्टम आफ मुस्लिम, इंडिया, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, १९२९ ई०

१२८- मोरलैण्ड- फ्राम अकबर टु औरंगज़ेब, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६२ ई०

१२९- रालिन्सन- इण्डिया- ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री, फ्रेडरिक प्रेम, लण्डन, १९५४ ई०

१३०- राधाकृष्णन् - द हिन्दू व्यू आफ लाइफ़, अनविन बुक्स, लण्डन, १९६१ ई०

१३१- राधाकृष्णन्- रिलीजन एण्ड सोसाइटी, अनविन बुक्स, लण्डन, १९५६ ई०

१३२- रिचर्ड बर्न - केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, जिल्द ४, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लण्डन, १९३७ ई०

१३३- शकुन्तला राव शास्त्री- वीमेन इन वैदिक एज, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९५४ ई०

१३४- श्रीराम शर्मा - मुगल एम्पायर इन इंडिया, कर्नाटक पब्लिकेशन, बाम्बे, १९४० ई०

१३५- डूबोइस बसवांब- यूरोपियन ट्रैवेलर्स इन इंडिया, सुशीला गुप्ता इंडिया लि०, कलकत्ता, १९५६ ई०

१३६- हुमायूं कबिर- द इंडियन हेरिटेज, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे, १९५५ ई०

शोध-प्रबंध

१३७- उषा पांडे- मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में नारी भावना, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, १९५९ ई०

१३८-+ओम प्रकाश शर्मा- संत काव्य की लौकिक पृष्ठभूमि , प्रयाग विश्व-विद्यालय, इलाहाबाद, १९६१ ई०

१३९- गणपति चन्द्र गुप्त- हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९५९

१४०- नारायण दास खन्ना- आचार्य भिखारीदास, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, १९५३ ई०

१४१- बच्चन सिंह - रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९५८ ई०

१४२- भोलानाथ तिवारी- हिन्दी नीति-काव्य, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा १९५८ ई०

१४३- मनोहर लाल गौड़- घनानंद और मध्यकाल की स्वच्छन्द धारा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९५८ ई०

१४४- महेन्द्रकुमार - मतिराम - कवि और आचार्य, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली, १९६० ई० ।

---

+ अप्रकाशित ।

१४४- रघुवंश - प्रकृति और हिन्दी काव्य, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९५१ ई०

१४६- राजपति दीक्षित- तुलसी और उनका युग, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, बनारस, १९४९ ई०

१४७- रामसागर त्रिपाठी - मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, १९६० ई०

१४८- विजय पाल सिंह - केशव और उनका साहित्य, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, १९६२ ई०

१४९- सत्यदेव चौधरी- हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९५९ ई०

१५०- सरला शुक्ल - जायसी के परवर्ती सूफी कवि और काव्य, लखनऊ विश्व-विद्यालय, लखनऊ २०१२ वि०

१५१- सरयू प्रसाद अग्रवाल- अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, लखनऊ विश्व-विद्यालय, लखनऊ, २००७ वि०

१५२- सावित्री सिन्हा - मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, आत्माराम एण्ड सन्ज, दिल्ली, १९५३ ई०

१५३- हीरालाल दीक्षित- आचार्य केशवदास, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, २०११ वि०

१५४- त्रिभुवन सिंह - मध्यकालीन संस्कृत कविता और मतिराम, काशी विश्व-विद्यालय, वाराणसी, १९५८ ई०

अंग्रेजी

१५५-†आनन्द प्रकाश माथुर - सोशल बैकग्राउंड आफ सिक्सटीन्थ एण्ड सेवेन्टीन्थ सेंचुरीज़ एज रिफ्लेक्टेड थ्रू कंटम्पोरेरी डरामेटिक लिटरेचर (हिन्दी), प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग,

१५६-†कु० कौमुदी - स्टडीज इन मुगल पेंटिंग्स, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग,

१५७- वी०पी०एस०रघुवंशी- इंडियन सोशल हाइफ, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

† अप्रकाशित ।

पत्र-पत्रिकाएं

१५८- कल्याण (नारी अंक), गीता प्रेस, गोरखपुर, १९४८ ई०
१५९- भारतीय संस्कृति, नवम्बर १९५७ ई०,
१६०- भारतीय संस्कृति, फरवरी, १९५८ ई०

## संक्षिप्त - संकेत - सूची

| | |
|---|---|
| १- अ० ग्रं० मं० - | अकबर साहि शृंगार मंजरी |
| २- आ० के० - | आसम केलि |
| ३- उ० वि० - | उत्थान विभावली |
| ४- का० ई० व० - | कासिम शाह हंस-जवाहिर |
| ५- कु०म०र०र० - | कुमारमणि रसिक रसाल |
| ६- कु० र० - | कुलपति रस-रहस्य |
| ७- के० की० - | केशव कौमुदी |
| ८- के० ग्रं० - | केशव ग्रंथावली |
| ९- के० वी०के०च० - | केशव वीरसिंह देव चरित |
| १०- के०वि०गी०- | केशव विज्ञानगीता |
| ११- के०क०प्रि० - | केशव कवि-प्रिया |
| १२- के०र०प्रि० - | केशव रसिक-प्रिया |
| १३- गु०ल० र०- | गुलाल रत्नावली |
| १४- गो० छ०प्र० - | गोरेलाल छत्रप्रकाश |
| १५- घ०ग्रं० - | घनानंद ग्रन्थावली |
| १६- घा०भ०- | घाघ भड्डरी की कहावतें |
| १७- चं०वा० ह० ह०- | चन्द्र शेखर वाजपेयी हम्मीरहठ |
| १८- जो० ह० रा०- | जोधराज हम्मीर रासो |
| १९- ठा० ठ० - | ठाकुर ठसक |
| २०- तो० सु० नि०- | तोष सुधानिधि |

२१- द० ग्रं०- दरिया ग्रंथावली

२२- दी०ग्रं०- दीनदयाल ग्रंथावली

२३- दू०क०कु०भ०- दूलह कवि कुल कंठाभरण

२४- दे०भा०वि०- देव भाव-विलास

२५- दे०श०र०- देव शब्द रसायन

२६- दे०र०वि०- देव रसविलास

२७- दे०द०- देव दर्शन

२८- दे०सु०- देव सुधा

२९- ना०स०- नागर समुच्चय

३०- नू०अ०बा०- नूर मुहम्मद अनुरागबांसुरी

३१- प०ग्रं०- पद्माकर ग्रंथावली

३२- प०पं०- पद्माकर पंचामृत

३३- प०बा०- पलटू साहब की बानी

३४- ब०अ०क०- बनारसीदास अर्धकथा

३५- बि०र०- बिहारी रत्नाकर

३६- बि०वि० - बिश्वनाथ प्रसाद मिश्र बिहारी

३७- बे०न०र०त०- बेनीप्रवीण नवरसतरंग

३८- बो०वि०बा०- बोधा विरह बारीश

३९- भि०ग्रं०- भिखारीदास ग्रंथावली

४०- भू०ग्रं० - भूषण ग्रंथावली

४१- म०ग्रं०- मतिराम ग्रंथावली

४२- मा०रा०वि०- मान रावविलास

४३- र०र०मो०- रघुनाथ रसिकमोहन

४४- ली०बं०ना०- लीधर बंगनामा

४५- स०स०प्र०- सहजोबाई सहजप्रकाश

४६- सुं०ग्रं०- सुंदरदास ग्रंथावली

४७- सू०सु०च०- सूफ़ी सुबान चरित

४८- से०क०र०- सेनापति कवित्तरत्नाकर

काव्य-संग्रह

| | |
|---|---|
| ४९- क०की०- | कविता कौमुदी |
| ५०- ब्र०मा०सा०- | ब्रज माधुरीसार |
| ५१- री०भू०- | रीति-भूंगार |
| ५२- र०घ०- | रसखान घनानन्द |
| ५३- सं०बा०सं०- | संतबाणी संग्रह |
| ५४- सा० प्र०- | साहित्य प्रभाकर |
| ५५- सा०र०- | साहित्य रत्नाकर |
| ५६- सुं०ति०- | सुंदरीतिलक |
| ५७- हिं०से०- | सेलेक्शन्स फ्रॉम हिन्दी लिटरेचर |

---